Chapter-4

चतुर्थ- अध्याय

लाल के नाटकों का व्यापक अध्ययन

उत्थान

(अ) सन् १९५१ से १९६० तक के नाटक

(आ) सन् १९६१ से १९६५ तक के नाटक

उत्थानकालीन परिस्थितियां एवं रचनात्मक धरातल पर इनका प्रभाव :

बीसवीं शताब्दी का पांचवा दशक भारत वर्ष की राजनीतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य पूर्ण कर नवोदित राष्ट्र के रूप में उसके उभरने का दशक था । ऐसे समय देश के समक्ष दो स्थिति उभरीं ।- एक ओर इस देश के सामने परिश्रम से प्राप्त स्वतंत्रता को राष्ट्र के चहुंमुखी विकास की दिशा में फलीभूत करने का उल्लास था तो दूसरी ओर वे अनेक बाधाएं भी थीं जो राजनीतिक-सामाजिक और नैतिक मूल्य के स्तर पर देश को विकास की दिशा में बढने में व्यवधान बनकर खडी हुई थीं । यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने का उल्लास बहुत अधिक था लेकिन यथार्थ धरातल पर चुनौतियां भी अपार थीं । राष्ट्रीय स्वतंत्रता के साथ हमारे यहां निहित स्वार्थों वाली व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी अपना मुंह फाड़ने लगी । इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना के पीछे विगत दो सौ वर्षों का वह स्वतंत्रता संग्राम था जिसे न केवल राष्ट्रीय स्तर पर अपितु व्यक्तिगत स्तर पर भी लड़ा गया था और अब प्राप्त स्वतंत्रता को भोगने का अवसर आया था । द्वितीय महायुद्ध के परिणाम स्वरूप विश्व व्याप्त निर्धनता और मुखमरी के कारण प्रतिक्रिया स्वरूप भोग की इच्छा और भी प्रबल हो गयी। फलत: इस देश का व्यक्ति राष्ट्र निर्माण के महान लक्ष्य को विस्मृत कर निहित स्वार्थों की पूर्ति में लग गया । सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक क्षेत्र में मूल्यावमूल्यन प्रारम्भ हो गया । तत्कालीन साहित्य-सर्जन को भी इस अवमूल्यन ने प्रभावित किया । हिन्दी में स्वतंत्रता के बाद प्रत्येक विधा में कुकुरमुत्तों की तरह तथाकथित साहित्यकारों का जन्म इसी अवमूल्यन का परिणाम था । इन

साहित्यकारों में साहित्य को गुणात्मक वृद्धि देने वाली आस्था भी धूमिल होने लगी । इस स्थिति को हमारे यहां कतिपय बुद्धिजीवी रचनाकारों ने लक्ष्य किया और परिणाम स्वरूप `मूल्यों के अवमूल्यन` और सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक परिवर्तन का स्वर यथाथ-चित्रण के रूप में इनकी रचनाओं का प्रतिपाद्य बन गया । सिनेमा और नाटक जैसी दृश्य कलाओं द्वारा यह स्वर अधिक मुखर होकर सामने आया । `दहेज` (वी.शान्ताराम), `आधी बात` (एस० के० ओझा), `आवारा` (राजकपूर), `हम लोग` (रंजीत), `दो बीघा जमीन` और `परिणीता` (विमलराय), `पथरेपांचाली` (सत्यजीतराय), `दो आखें बारह हाथ` (व्ही.शांताराम), `नया दौर` (बी०आर० चौपड़ा) आदि फिल्में सन् १९५० और उसके बाद की सामाजिक चेतना एवं नैतिक मूल्यवत्ता को प्रकट करने का सशक्त माध्यम बनीं ।[१]

शिल्प के धरातल पर परिवर्तन :

रचनात्मक धरातल पर युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में हुए परिवर्तन के अतिरिक्त दूसरे छोर पर शिल्प के धरातल पर हो रहे परिवर्तनों की चर्चा भी प्रासंगिक होगी ।

Idea of freedom : स्वतंत्रता का बोध

हिन्दी नाटक में शिल्प के धरातल पर जो नया परिवर्तन देखने को मिलता है वह भी तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण ही कारण था । यह था नाटक और रंगमंच में `स्वतंत्रता का बोध` (Idea of freedom), भारतेन्दु और प्रसाद के समय से चली आ रही शास्त्रीयता और संस्कृत नाट्यशास्त्र

१- देखिये- भारतीय चलचित्र का इतिहास (सातवां अध्याय- सन् ५० वाला दशक- फिरोज रंगूनवाला ।)

के वस्तु, नेता व रस से बंधी मान्यताएं शिथिल हो रही थीं । शिल्प की इस स्वतंत्रता की ओर संकेत करते हुए ही डा० माहेश्वर ने लिखा है-'आज के नाटकों मेंपात्रों की मानसिक द्वन्द्वमयता काफी जटिल तथा अपरिहार्य हो उठी है । ये सभी पात्र न तो अच्छे हैं, और न बुरे । अच्छी बुरी परिस्थितियों में उत्पन्न होनेवाले मानसिक उतार-चढाव का ही आज के नाटकों में चित्रण मिलता है ।[१] यथार्थ जीवन की अभिव्यक्ति के लिये व रंग अनुष्ठान को सार्वजनीन बनाने के लिये वे नाटक व रंगमंच की बंधी बंधायी रूढ़ियों को स्वीकार नहीं करते । रूढियों के प्रति लचीलापन जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' और उदयशंकर भट्ट के गीति-नाट्यों से ही प्रारंभ हो जाती है जिनमें एक तरफ चरित्र-चित्रण में व्यक्ति-वैचित्र्य और कथन में परम्परागत शब्दाडम्बर एवं दीर्घता के स्थान पर कार्यत्व की प्रधानता और लयात्मकता व प्रतीक योजना उभरकर सामने आती है । इसी अर्थ में हिन्दी नाटक और रंगमंच को स्वतंत्र कहा जा सकता है कि उसमें शास्त्रीयता की अपेक्षा लचीलापन था, विषय वस्तु की प्रकृति के अनुसार फार्म का समायोजन था एवं यथार्थ चित्रण के लिये अयथार्थ चरित्र और स्थितियों का नियमन था ।

प्रयोगवाद :

शिल्प की दृष्टि से ही उत्थान काल में जो दूसरा परिवर्तन देखने को मिलता है वह है नाटकों में प्रयोगवाद। प्रयोगवादी नाट्य शिल्प वस्तुत: स्वतंत्रता के उस विचार से जुड़ा हुआ है जो स्थापित रूढियों को आवश्यकतानुसार लचीला बनाता है । जैसा कि ऊपर विवेचित किया गया, यह युग ही मूल्यों की अस्थिरता एवं अवमूल्यन का युग था ।- अस्थैर्य इस युग की विशेषता थी । सद्य-स्वतंत्र हुए देश में यह स्वाभाविक भी था क्योंकि कोई भी राष्ट्र प्रयोग कीकसौटी पर

१- हिन्दी बंगला नाटक-डा० माहेश्वर- पृ० २६३

कस कर ही अपने मूल्यों को स्थिर कर सकता है । इसीलिये इस समय का नाटक और रंगमंच अपने युग की अस्थिरता और प्रयोगवादी प्रवृत्ति को प्रतिबिंबित करता प्रतीत होता है । इसीलिये इस समय के नाटकों का विषय-वस्तु क्षेत्र व्यापक है और साथ ही उनका फार्म भी कभी यथार्थ और कभी अयथार्थ रूप में समक्ष आता है। नाटक और रंगमंच की इस अनेक रूपता को इस कथन के साथ लक्ष्य किया जा सकता है- 'Our theatre has reflected the instability of modern civilization....it has been truely the museum,forum and market pla-ce of opinions,speculations and aberrations.But although this freedom of content is obiously important,it has not been the major factor in the development of specially modern modes of drama. The development has been a matter of form rather than content.[1]

वस्तुत: प्रयोगवादी शिल्प का सम्बंध 'फार्म' से ही विशेष रूप से सम्बद्ध है । शिल्प के स्तर पर प्रयोगवाद यथार्थ चित्रण का विरोध नहीं करता प्रत्युत अयथार्थ के माध्यम से यथार्थ की अभिव्यक्ति करता है । इस प्रकार आलोच्यकाल ने प्रयोगवादी शिल्प ने रंगमंच को परंपराओं से मुक्त कर उसका क्षेत्र विस्तार किया ।एवं अपनी प्रतिभा के आधार पर प्रयोग और परंपरा को समन्वय प्रदान किया ।

वस्तुत: लाल का नाट्य साहित्य जो उक्त समय के मध्य रचा गया,रचना और शिल्प- दोनों ही धरातलों पर सामयिक प्रभावों से सन्नियोजित था ।एक ओर वह बदलते और गिरते जीवन मूल्यों के प्रति एक सामाजिक रचनापूर्ण धरातल पर खडा था और तत्कालीन व्यक्ति की सामाजिक मानसिक दशा को स्वर दे रहा था । (सुन्दर रस,रक्त कमल,अन्धा कुआ,दर्पन) तो दूसरी ओर नाटकों क में रंगमंचीय दृष्टि के प्रयोग को गतिशील बना रहा था ।(मादा कैक्टस,नाटक तोता मैना,रातरानी) यह नाट्य साहित्य अपने प्रारंभिक रूप में कहीं- कहीं

१- Directions in modern theatre and drama(by)John Gassener. p.11

P Ftl 4189

अति रोमानी और अति यथार्थवादी(अन्धाकुआ, कहीं-कहीं अति नाटकीय (सुन्दर-रस`) और कहीं-कहीं अति अयथार्थवादी (मादा कैक्टस) बनकर समक्ष आया है ।

लाल के नाटककार के रूप में उत्थान को दो द चरणों में देखा जाना समीचीन होगा । क्योंकि रचनात्मक- धरातल पर लाल के ये नाटक क्रमश: अयथार्थ और यथार्थ धरातल पर विभाजित थे । अयथार्थ-धरातल पर अवस्थित नाटकों में `अन्धा कुआ`, `मादा कैक्टस`, `सुन्दर रस` और `सूखा सरोवर` विवेच्य हैं और दूसरे धरातल पर अवस्थित नाटकों में `रक्त-कमल`, `रात रानी` और `दर्पन` विवेच्य है ।

-इस युग के नाटकों का अध्ययन-

(अ) १९५१ से १९६० तक के नाटक(कर्मक्षेत्र-इलाहाबाद)- उत्थान

(१) अन्धा कुआ :

लाल ने हिन्दी में सर्वप्रथम संपूर्ण नाटक के रूप में `अन्धा कुआ` की रचना की । यह सं० २०१२ वि०(सन् १९५५) में पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ था और ११ नवम्बर १९५५ को आर्टिस्ट एसोसिएशन, इलाहाबाद द्वारा के० बी० चन्द्रा के निर्देशन में खेला गया था । इस नाटक की रचना लाल ने उस समय ही प्रारम्भ कर दी थी जब वे पी-एच० डी० कार्य का प्रथम वर्षपूर्ण कर रहे थे । इसीलिये इस युग को १९५१ से प्रारंभ माना जा सकता है ।

नाटक का रचना पक्ष सामाजिक सोद्देश्यता को लेकर चलता है । कमालपुर नामक गांव की सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया यह नाटक हमारे ग्रामीण और अनपढ़ समाज की उन समस्याओं का चित्रण करता है जो पति-पत्नी सम्बंधों समाज में नारी की स्थिति और नारी द्वारा सामाजिक समायोजन जैसे सार्वकालिक

आधार लिये हुए हैं । प्रारंभ से ही हमारा भारतीय समाज पुरुष प्रधान समाज रहा है । हमारे सामाजिक क्रिया-कलापों में पुरुष के योग्य या अयोग्य होने के उपरांत उसी की प्रधानता रही है । ऐसे में नारी आत्महीनता और उच्चता-ये ही सम्बंध ग्रामीण समाज में धीरे-धीरे शोषित और शोषक का रूप ले लेते हैं । स्थिति यह है कि स्त्री- पुरुष द्वारा दमित होने पर अन्दर ही अन्दर विद्रोही तो बन जाती है किन्तु उस विद्रोही प्रवृत्ति पर उसका धर्म हावी हो जाता है । ऐसी पद दलित नारी के लिये पत्नीत्व, स्त्रीत्व, सामाजिक और पारिवारिक दायित्व एक अन्धी व्यवस्था के समान हो जाते हैं जो परंपराओं और नियमों की बंजर धरती पर जीवन की हार्दिकता के जल के अभाव में अभिशाप बनकर सामने आते हैं । नाटक की नायिका सूका की भांति अनेक स्त्रियां विवाह बन्धन में जीवन का उल्लास प्राप्त करने के लिये बन्धती हैं । उनके लिये तब तक वैवाहिक जीवन एक मुक्त जलधारा के समान होता है । किन्तु जैसे-जैसे विवाह के बाद समाज के अन्ध नियमों की दीवारें उनके चारों ओर उठ खड़ी होती हैं तो वह मुक्त जल-धारा उनके लिये एक कुआ बनकर बन जाती है । इस कुए में भी पति का स्नेह-प्रेम प्राप्त कर वे सन्तुष्ट रह सकती हैं किन्तु भगौती जैसे पुरुष जब उन पर अधि-कार कर लेना चाहते हैं तो शनैः शनैः उस कुंए का 'जीवन जल' भी सूख जाता है और वह वैवाहिक जीवन उनके लिये अन्धा कुआ बनकर रह जाता है । नारी जीवन की इसी विडम्बना को अभिव्यक्त करना इस नाटक का लक्ष्य है । ऐसा प्रतीत होता है कि अपने लक्ष्य के प्रतिपादन के लिये ग्रामीण जीवन में नाटककार को अधिक सम्भावनाएं दिखी हैं । अतस्व, वही ग्राम्य परिवेश नाटक की आधारभूमि रहा है । यहां यह द्रष्टव्य है कि नाटक के अन्त में अहंग्रस्त पौरुष का दलन और उस परनारी के उत्सर्ग की जो विजय है, वह रचनागत सत्य मात्र है, जीवनगत सत्य अनिवार्यतः नहीं । स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बंधों पर एक सार्वकालिक प्रश्न उठाया गया है- यह नाटककार की सामाजिक सोद्देश्यता की ओर एक इंगित है । किन्तु इस शाश्वत प्रश्न का अन्ततः समाधान कर दिया गया है जिससे यह नाटक उन समस्यामूलक नाटकों की कोटि में आता है जो एक समस्या को लेकर

चलते हैं और अन्ततः समाधान को प्राप्त हो जाते हैं । नाटक का अन्त- सूका का प्राणोत्सर्ग- नाटक के उद्देश्य की महानता हो सकती है, किन्तु भगौती का हृदय-परिवर्तन और पश्चाताप उस उत्सर्ग के दर्शकों पर पड़े प्रभाव को बांट लेता है । प्रभाव की घनीभूत व्यंजना सूका के उत्सर्ग के प्रति होने पर नाटक के नारी के करुणा-पूर्ण जीवन को जितनी शक्ति के साथ अभिव्यंजित कर सकता था, उतना भगौती द्वारा उस प्रभाव को बांट लेने पर नहीं । भगौती के अत्याचारों और सूका के दुःखपूर्ण जीवन का प्रतिदान दोनों को समान रूप से प्रदान कर(नाटक के अन्त में दोनों के प्रति दर्शक कीसमान सहानुभूति) नाटककार ने 'न्याय' (Poetic-Justice) नहींकिया है ।

नाटक का कथानक उसमें निहित कार्य-व्यापार के साथ-साथ आगे बढ़ता है और धीरे-धीरे नाटक की घटनाओं की परतेंएक के बाद एक खुलती जाती हैं । इस प्रकार कथानक और कार्य-व्यापार परस्पर सूत्रों में पिरोये गये प्रतीत होते हैं। नाटक के प्रथम अंक का प्रारंभ क्रियाप्रगति से होता है । पृष्ठभूमि से किसी औरत के रोने-चीखने की आवाज और पुरुष की क्रोध व आवेशपूर्ण डांट-फटकार व डण्डे के प्रहार कीध्वनि आदि वातावरण में आतंक भर देते हैं । इसी के साथ भगौती के मंच पर प्रवेश से दर्शकों का पृष्ठभूमि से आ रहे उस पुरुष स्वर से साक्षात्कार होता है । भगौती की पत्नी सूका है जिसे किसी कसूरवश भगौती मार रहा है- इस तथ्य का प्रतिपादन मिथकू काका द्वारा होता है ।यह कसूर इतना है कि सूका भगौती के अत्याचारों से पीड़ित होकर अपने पूर्व प्रेमी इन्दर की प्रेरणा पर उसके साथ कलकत्ता भाग गयी थी जहां से गिरफ्तार कर वह घर लायी गयी है । तब से हन्त-पौरुष भगौती ने उस पर अत्याचारों की अति ही कर दी है । उसके इन कृत्यों पर एक ओर उसके भाई अलगू,उसकी पत्नी राजी,मिनकू काका की प्रताड़ना मिलती है तो दूसरी ओर उसकी बहिन नन्दो और उसके मित्रों की शह मिलती है । अपनी इसी दिनचर्या में व्यस्त भगौती घर में रहकर भी घर की जिम्मेदारियों की उपेक्षा करता है, उल्टे लेनदारों को घर का अनाज लुटाकर शेष

सेम्स अनाज में अपने मित्र के साथ गांजेकी खरीद कर लाता है । यहां नाटक का कार्य (जो प्रारंभ में पर्दा उठने पर ~~स्थि~~ क्षिप्र हो उठा था) भगौती के चरित्र विकास के साथ-साथ कथानक को खोलता चलता है। नाटक में कार्य की गतिशीलता फिर एक बार पूर्ण जोश के साथ तब उभर उठती है जब सूका भगौती द्वारा जोखन सेठ को आलू देने और जोन्हरी का पूरा फोप्पा बेचकर गांजा पीने के रहस्य को अलगू और राजी के समक्ष खोलकर रख देती है । एकबार फिर भगौती सूका पर टूट पड़ता है और अलगू बीच-बचाव के लिये आ जाता है- मंच पर कोलाहल के साथ कार्य की गति तेज हो जाती है और अचानक पर्दा गिर जाता है । इस प्रकार प्रथम अंक में नाटक में कार्य-व्यापारों की दो बार गतिशील अभिव्यक्ति से गांव के इस पारिवारिक क्लेश और उसके पीछे छिपे कारणों की अभिव्यक्ति होती है । अन्य शब्दों में, यहां नाटक का कथ्य पूर्णत: उद्घाटित होकर समक्ष आता है ।

प्रथम अंक की ही भांति दूसरे अंक का प्रारम्भ भी वातावरण में तेजी लिये हुए होता है । नागपंचमी की रात्रि के पहले पहर का गांव में जो उल्लास है, उसमें भगौती के घर का वातावरण सर्वथा विरोध खड़ा करता है । सूका एक बार फिर घर से गायब है । गायब होने के पीछे, भगौती और सूका का जो संघर्ष हुआ था, उसका मूल भगौती द्वारा सूका पर बन्ध्या होने का आरोप लगाया जाना था । (पृष्ठ ५० ,राजी का कथन) यहां नाटक का कार्य पराकाष्ठा पर पहुंचकर प्राप्त हुई निराशा में बदलता प्रतीत होता है कि भगौती सूका को घसीटते हुए प्रवेश करता है । ज्ञात होता है कि सूका ने गांव के एक सूखे, अन्धे कुए में गिरने का असफल प्रयत्न किया था । सूका के इस कृत्य का दण्ड देने के लिये घरवालों के विरोध के उपरान्त भगौती उसे पावे से कसकर बांध देता है । एक बार फिर नाटकीय कार्य अपनी संपूर्ण गतिशीलता के बाद स्थिर हो जाता है । पावे से बंधी सूका और पृष्ठभूमि से आ रही लोकगीतों की आवाज करुणा का

वातावरण उत्पन्न करती है । इसी समय वातावरण की नीरवता को चीरते हुए इन्दर का प्रवेश नाटक की स्थिरता में एक हलचल मचा देता है । सूका से वह पुन: उसके साथ भाग चलने का आग्रह करता है किन्तु सूका उसके आग्रह को ठुकराते हुए उसकी स्वार्थपरता को प्रकट कर देती है- 'तू चोर है, तूने मरे हुए को भी मारा' (रुक कर) खुद तो मारा ही, दूसरों को सदा मारने के लिये रास्ता दे दिया, खेल से मौल बना दिया, अब कौन नाम देना चाहता है ?[१] सूका के विरोध के उपरान्त जब इन्दर सूका को ले जाये बिना नहीं मानता तो वह गुहार मचा देती है । इन्दर के मंच पर प्रवेश से ही वातावरण में उष्णता प्रारम्भ आ गयी थी । यहां तक आकर यह उष्णता व गति चरम पर पहुंच जाती है- भगौती और इन्दर का संघर्ष, अलगू का लाठी लेकर पीछा करना, सूका की चीख-चिल्लाहट, भगौती का बांह में घाव खाकर लौटना- इस गतिशील क्रिया-व्यापार के साथ फिर पर्दा तेजी से गिर जाता है ।

तृतीय अंक में कार्य- व्यापार प्रारम्भ में अपेक्षाकृत धीमा है । दुइ दरे में चक्की पीसती औरत के गीत द्वारा कथानक को आगे बढ़ाया गया है । सूका पर शारीरिक अत्याचार के अतिरिक्त मानसिक कष्ट देने के लिये भगौती ने एक किशोरी कन्या लच्छी से विवाह किया है । भगौती के ही अनुसार सूका का बांझपन भी उसे लच्छी से विवाह रचाने का एक कारण है । यहीं हरलू और भगौती के वार्तालाप से भी यह ज्ञात होता है कि अलगू का परिवार इस घर से अलग हो गया है । प्रथम दो अंकों की तुलना में ये स्थायी और बड़े परिवर्तन हैं । अतएव अब संपूर्ण कार्य-व्यापार का केन्द्र भगौती और सूका ही हैं । यहां धीरे-धीरे व्यापक जीवन की परिधि से नाटकीय कार्य केन्द्र की ओर सिमटता जाता है । सूका और लच्छी के मध्य जैसा सम्बन्ध भगौती चाहता है, वैसा नहीं है । बल्कि दोनों में बहिनों का सा स्नेह है । सूका लच्छी को उसके वास्तविक प्रेमी 'माधोपुर वाले ' हीरा के हाथ किसी भांति सौंप देना चाहती है । दूसरी ओर, भगौती और मित्रों के बीच

१- अन्धा कुआ- पृ० ७६

इन्दर को बर्बाद करने की युक्तियां और दांव-पेंच चलते रहते हैं । इन्दर का घर अन्ततः भगौती के मित्रों द्वारा जलाकर राख कर दिया जाता है । दूसरी ओर, सूका-लच्छी को उसके प्रेमी हीरा के हाथ में सौंपने में सफल होती है । दोनों ही अपने-अपने कार्यों से तुष्ट हैं । यहां नाटक का कार्य व्यापार दो विरोधी दिशाओं में बंटकर आगे बढ़ता है । इस अंक के अन्त में यद्यपि पूर्व अंकों की सी तेजी नहीं है किन्तु विरोध का स्वर यहां भगौती और सूका दोनों ही पक्षों में अन्दरही अन्दर अपना सन्तोष पा लेता है ।

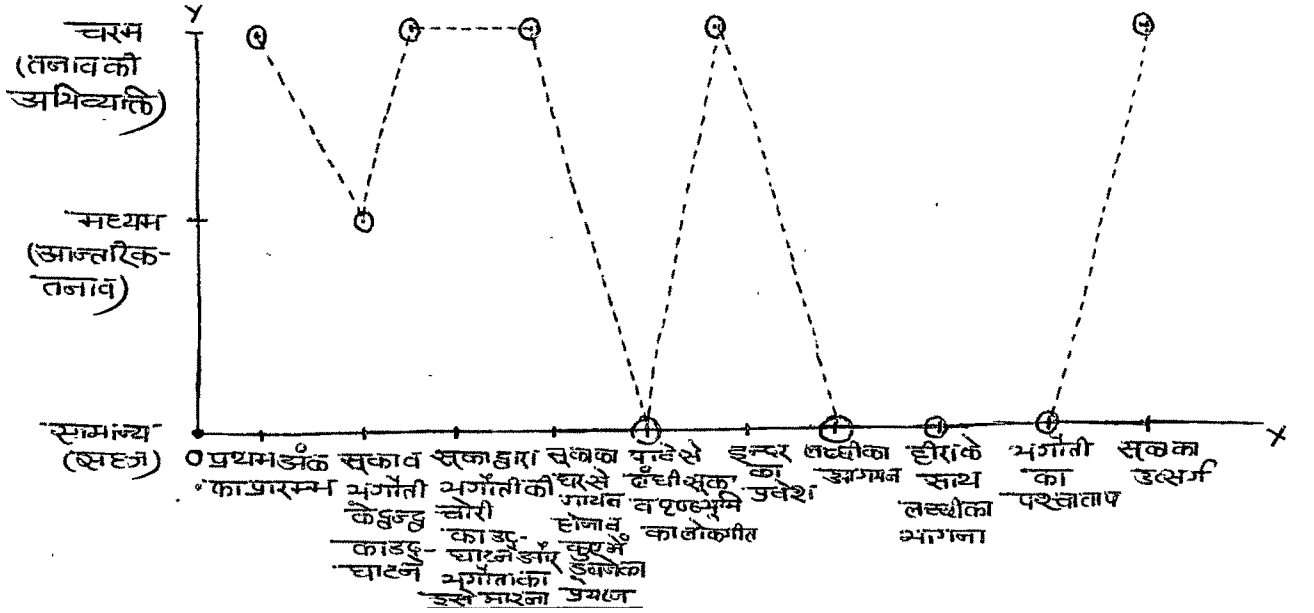
चतुर्थ अंक कार्य की दृष्टि से नाटक की मूल संवेदना को उभारने वाला है और चरित्रों के उत्थान को भी समटा रखने वाला है । इन्दर से हाथ पैर तुड़वाकर भगौती अब सूका की दया पर आश्रित है , नन्दो अपने सु ससुराल वालों से प्रताड़ित हो नेहर आ गयी है और सूका की दया पर जीने को वह भी आश्रित है । अलगू पूर्व ही अलग हो चुका है, नन्दो अब अपने भाई की सेवा से भागती है और मित्रों ने विपत्काल में भगौती का साथ छोड़दिया । ऐसे में सूका अपने धर्म का निवाहि करती उसकी सेवा सुश्रुषा करती है । भगौती को धीरे-धीरे सूका के प्रति किये गये विगत अत्याचारों का स्मरण कर आत्मग्लानि सी होती है । वह सूका के प्रति कृतज्ञता से भर उठता है-

भगौती- मेरे संग तेरा भी अभाग है सूका !
सूका- (चुप है)
भगौती- पता नहीं, हम दोनों के भाग्य में क्या लिखा था ?
सूका- यही कि तेरे संग मैं भी जलूंगी ।
भगौती- अच्छा हो जाऊं ! तुझे लेकर कहीं तीरथ करने जाऊंगा ।[१]

१- अन्धा कुआ- पृ० १५३

लेकिन कृतज्ञता की यह अभिव्यक्ति भी पूरी भी नहीं हो पाती कि सूका और भगौती का दुर्भाग्य जाग उठता है । पिछले दो अंकों से जो कार्य व्यापार बाह्य से आन्तरिक होकरधीमा हो गया था- इन्दर के मंच पर प्रवेश से एक बार फिर गतिवान हो उठता है । इन्दर सू द्वारा सूका को उसके साथ भागे चलने का आग्रह, सूका का पत्नी-धर्म कीदुहाई देते हुए भगौती की प्राण रक्षा के लिये इन्दर से हाहा खाना, अपंग भगौती पर इन्दर का गंडासे से प्रारम्भ करना किन्तु भगौती को बचाने के लिये सूका का खून मैंने किया है- कहकर विलाप करते हुए करुणा और पश्चात्ताप में डूब जाना और इन्दर का अपनी प्रेमिका को अपने ही हाथों मरते देख हतप्रभ रह जाना नाटक के ऐसे कार्य व्यापार हैं जो दर्शकों को अभिभूत कर लेते हैं । और इन पर दर्शक अपनी प्रतिक्रिया दें, इससे पहले ही पर्दा गिर जाता है ।

नाटक के उपर्युक्त कथानक को देखकर ऐसा स्पष्ट होता है कि कथानक स्वयं में स्वतंत्र नहीं है । महत्वपूर्ण है यहां कथानक की कार्य मूलकता जिसके द्वारा कथानक की घटनाओं का उतार-चढाव होता है, पात्रों और दर्शकों पर नाटककार द्वारा इच्छित प्रभाव पडता है । अतएव इस नाटक में कार्य तत्व अपने उतार-चढाव को दर्शकों की नाटक में दिलचस्पी का मानदण्ड माना जा सकता है । कार्य के इस उतार-चढाव को ब्रेण्डर मैथ्यूज अन्य शब्दों में `रुचि रेखा` का नाम देता है। `अन्धा कुआ` में कथानक में प्रच्छन्न कार्य तत्व का एक विश्लेषणइस प्रकार देखा जा सकता है -



उपर्युक्त रेखा चित्र देखने से स्पष्ट है कि कथानक का अन्त-दोनों ही चरम बिन्दु पर समाप्त हुए हैं और मध्य अनेक उतार-चढावों से बुना गया है जो दर्शकों के मानसिक आलोडन-विलोड़न को बनाये रख उनकी रुचि बनाये रखता है । अवश्य ही तीसरे व चौथे अंक जहां लच्छी के भगौती द्वारा लाये जाने व उस द्वारा सूका पर अत्याचार किये जाने की अपेक्षा वाले प्रसंग और हीरा के साथ लच्छी के भागे जाने वाले प्रसंग अपनीसहज प्रवाहिता के कारण कार्य का गतिमूलक प्रभाव नहीं छोड़ते जबकि वे नाटक के कथानक और चरित्रों विशेषकर भगौती और सूका पर अपेक्षित प्रभाव डालने वाले हैं ।

`अन्धा कुआ` की कथा वस्तु चरित्रों के कार्यों द्वारा वलयित है । ये चरित्र नाटक की रंगमंचीयता को दृष्टि में रखकर रचे गये हैं क्योंकि वे नाटकीय गति को बनाये रखने में सहायक हैं । इसीलिये वे रंगमंचीय सन्दर्भ लेकर चले हैं । लेकिन इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि ये चरित्र रंगमंच की अपेक्षाओं को पूर्ण करने के कारण जीवन से नहीं जुड़े हैं और मात्र फिक्शनल हैं । यह एक संयोग की बात है कि इन चरित्रों की अवधारणा में लाल में `फिक्शनल` और `लिविंग` दोनों ही गुण प्राप्त होते हैं । यह उनके चरित्र-विधान के दोहरे पक्ष की ओर इंगित है । इसी के साथ इन चरित्रों के सम्बंध में यह भी द्रष्टव्य है कि वे नाटक-कार को कथानक के विकास में प्रेरणा देते हैं । भगौती और सूका- दोनों ही अपनी चारित्रिक विशेषताएं से कथा वस्तु को इच्छित मोड़देते हैं । सूका का अंतिम अंक में पत्नी धर्म से प्रेरित होना और भगौती का उसके प्रति कृतज्ञ होना अन्ततः कथानक में उत्सर्ग का जो आदर्श उत्पन्न करता है, वह चरित्रों की परिस्थितियों द्वारा ही प्रेरित है ।

इस नाटक के चरित्र वर्ग-पात्र वालीश्रेणी में आते हैं क्योंकि वे समाज के वर्ग-

विशेष के का प्रतिनिधित्व करते हैं। भगौती और सूका के चरित्रांकन में अनेक चारित्र्य का त्रिआयामीय पक्ष (लम्बाई, चौड़ाई, गहराई) लिया गया है जो चरित्रांकन की श्रेष्ठता के द्योतक हैं ।

भगौती नाटक का केन्द्रीय चरित्र है । उसका मंच पर प्रथम परिचय उसके अन्दर की निर्दयता, क्रोध और आवेश को प्रकट करता है जो चरित्र की उद्घाटन शैली (Exposition- Style) को प्रकट करता है । उसके प्रथम परिचय द्वारा प्राप्त बाह्य-व्यक्तित्व उसके आन्तरिक स्वरूप को भी प्रकट कर देता है । मिनकू काका द्वारा ज्ञात होता है कि भगौती के अत्याचारों से पीड़ित भागी सूका को भगौती 'कचहरी का रास्ता नापते नापते भी पकड़ लाया है । भगौती के अनुसार इसके पीछे सूका (जिसे वह डायन कहता है) से घर की बेइज्जती का बदला लेने की भावना निहित है । बेइज्जती की इस बात में भगौती के उस पौरुष की हुंकार छिपी हुई है जो स्त्री द्वारा आहत हुई है । यहां वह उस सम्पूर्ण पुरुष समाज का प्रतिनिधित्व करता स्पष्ट होता है जो स्त्री को अपनी दासी मानता है । इसीलिये जब सूका की कम्बख्त हरकत ने भगौती को 'घाट घाट का पानी पिलवाया' तो वह स्त्री के इस अधिकार अतिक्रमण को कैसे क्षमा कर सकता है ? भगौती के लिये सूका एक साथ रखैल, भगैल और चुड़ैल बन जाती है । भगौती के मित्र उसके क्रोध में घी की आहुति का कार्य करते हैं । एक ओर वे उसे सूका को वश में करने की बात करते हैं । स्वयं उसकी बहिन नन्दो भी) तो दूसरी ओर सूका को घर से भगाकर ले जाने वाले इन्दर से बदला लेने की प्रेरणा देते हैं । ये दो ऐसी दीवारें हैं जो उसे स्वयं को घेरती हुई प्रतीत होती हैं, चुनौती देती प्रतीत होती हैं । इन्हें हटाने के लिये वह इनसे टकराता है किन्तु इससे वे दीवारें टूटती नहीं, उल्टे उसे अविवेक के अन्धे कुए में ठेल देती है- ऐसा कुआ जिसके चारों ओर वे ही दो दीवारें घिरी हैं । इनके मध्य कैद भगौती अपने अन्य सामाजिक दायित्वों को विस्मृत कर जाता है । विपरीत इसके जब उसकी आत्मा को स्वयं के आहत होने

की वेदनाहोती है तो वह उस वेदना से उत्पन्न शून्य को भरने के लिये सूका को सलाखों से दागता है, पावे से कसकर बांध कर उसका अन्न पानी बन्द करता है, इन्दर की जान लेने को उतारु हो जाता है । और अन्ततः उसके घर में आग भी लगवा देता है), स्वयं मनमानी करने के लिये कर्जदारों को घर का अनाज सौंप देता है, अलगू से छलपूर्वक बंटवारा कर लेता है, आत्म विस्मृति के लिये जोन्हरी का फोप्पा बैंचकर गांजे का दम लगाता है और सूका को मानसिक यातना देने के लिये सौत के रूप में लच्छी को घर ला बैठाता है । ये सभी उसके चरित्र में मनोबल के अभाव को व्यक्त करते हैं ।

मध्यान्तर के पश्चात तृतीय अंक में भगौती सूका को मानसिक रूप से त्रस्त करने के लिये और उसे सापत्न्य ईर्ष्या में जलाने के लिये स्वयं से आयु में पुत्री के बराबर एक भोली भाली बालिका किशोरी लच्छी को खरीदकर लाता है । सूका उसके लिये बन्ध्या है और अपनी वंश परम्परा को फलने-फूलने देने के लिये उसे सन्तान की आवश्यकता है । लच्छी से सम्बंध जोडने के पीछे वह यहकारण भी बताता है । वस्तुतः जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, भगौती एक प्रकार के मानसिक शून्य से घिरा व्यक्ति है- सन्तानोत्पत्ति भी उसके लिये उसी शून्य का एक अंग है । यह शून्य भी भराव चाहता है और भगौती लच्छी को उस भराव का एक साधन बनाना चाहता है । इस प्रकार लच्छी के साथ उसके सम्बंध में यौन-अतृप्ति भी एक कारण है । भगौती के इस 'शून्य' को उसके व्यक्तित्व में 'मनस्ताप' (Neurosis) की संज्ञा दी जा सकती है । उसके जीवन में वैवाहिक आनन्द की अतृप्ति, कुसमायोजन(mal-adjustment) और निराशा इसके कारण हैं ।

नाटक का चौथा अंक भगौती के चारित्रिक परिवर्तन का चित्र खड़ा करता है । एक संघर्ष में वह इन्दर से हाथ पैर तुडवा बैठता है । ऐसे में उसके साथी धीरे-धीरे उससे अलग हो जाते हैं, अलगू को वह अलग कर ही चुका है और लच्छी द्वारा उसे

उस अभीष्ट कीप्राप्ति नहीं हो पाती जिसके लिये उसे वह खरीद कर लाया था । उस पर असफलता की एक और ठेस लगती है जब लच्छी घर से भाग जाती है । उसके जीवन की वह पौरुष हीनता यहां आकर उसे आत्म स्वीकृति की ओर प्रेरित करती है जिसे वह जीवन भर पौरुष की संज्ञा देता रहा था ,एक भ्रम पाले हुए था । यहां द्रष्टव्य है कि भगौती एकाएक सूका के प्रति समर्पित नहीं होता है । अशक्त होने पर भी वह सूका को लौटा फेंक कर मारता है ,`घिनाफौर गालियाँ देता है और इस प्रकार अपनी मृतप्राय: पौरुष चेतना की तृप्ति करता है लेकिन सूका का मूक विरोध और धर्म निर्वाह उसे उसके प्रति झुकने को बाध्य करता है । इस प्रकार वह अपनी असहज स्थिति में सहज होता है । निस्संदेह उसके अन्तत: हृदय परिवर्तन में नाटककार की आदर्शवादी दृष्टि और वास्तविक तथ्य के स्थान पर आधारभूत सत्य (जिसे कलागत सत्य भी कहा जा सकता है) की प्रतिष्ठा की गयी है । कथानक को फलागम तक पहुंचाने के लिये चरित्रांकन पद्धति की उक्त अयथार्थता नाटकीय शिल्प में अत्याभास उत्पन्न करती है । किन्तु यदि नाटक की इस रंग-मंचीय अपेक्षा वाली दृष्टि को अलग कर मानवीय धरातल पर भगौती के चारित्रिक परिवर्तन और मरणासन्न सूका ही देह पर गिरकर उसका पश्चाताप लक्ष्य किया जाय तो निस्संदेह वह हृदयस्पर्शी है ।

सूका का चरित्र इस नाटक की प्राण रेखा है और प्रेमचन्द्र के उपन्यासों की उन अनेक पात्राओं के समान है जो समाज की विषम व्यवस्था पर एक प्रश्न उठाती हैं । वह भारतीय समाज के विकास के उस कालखण्ड से सम्बंधित है जो नारी के विकास के सम्बंध में सैद्धांतिक रूप से अनेक योजना-प्रायोजना समक्ष ला रहा था(१९३० का बाल विवाह निरोधक कानून-शारदा एक्ट, १९३५ का स्त्री मताधिकार वाला कानून इण्डिया एक्ट, १९४९ का `राऊ-कमेटी` विधेयक जिसके अनुसारपुत्री को पिता की सम्पति में साझेदारी दिये जाने का प्रावधान था) किन्तु व्यावहारिक जीवन में उनकी अनुपयोगिता से परिचित न था।सूका उन्हीं नारियों की आवाजका प्रतिनिधित्व करती है- इस रूप में वह भी वर्ग-पात्र की कोटि में रखी जा सकती है ।

सूका नाटक के प्रारंभसे ही विद्रोहिणी नारी के रूप में समझा आती है । उसका विद्रोह उसकी दयनीय बाध्य अवस्था के साथ मिलकर दर्शकों में एक साथ करुणा, क्षोभ और आश्चर्य भर देता है ।- एकाएक भीतर से सूका दरवाजे पर आती है और चौखट के सहारे खड़ी हो जाती है । सूका की अवस्था अधिक से अधिक बीस-इक्कीस साल की होगी लेकिन इस समय देखने से ऐसी लगती है कि वह तीस वर्ष से कम न होगी । मटमैली सी मोटी साड़ी है । बदन पर जो गबरून का सलूका पहने हैं, उसकी दोनों बाहें फटी हैं । लगता है, महीनों से पानी से भेंट नहीं हुई , फिर तेल -फुलेल की बात ही क्या ? सिर के बाल अस्त-व्यस्त हैं । कनपटी यों पर बाल की उलझी हुई लटें झूल रही हैं । हाथ, पैर, मुंह,माथा सब पर धूल और कालिख लगी है । पूरा मुंह रुदन और प्रतारणा से फूल सा आया है।-------
इसी के साथ, उसके ये अनेक उद्गार क्रमशः उसके हृदय की वेदना, विरोध और यथा-स्थिति के आत्म स्वीकार को स्पष्ट करते हैं -

सूका- (क्षण भर बाद पीडामिश्रित व्यंग्य से) इसीलिये कचहरी से मुझे कुड़वाकर इस घर में लाये थे ?

मगौती- (आवेश में) चुडैल यहां क्यों आयी ?

सूका- (जैसे लड़ती हुई) हां, हां, ले मार । ले मार गँड़ासा से !! मार न !!

+ + +

सूका- मरद होकर ऐसी बात करते हो बाबू । इन रस्सियों को तैयार करनेवाले और इनसे गांठ बनाने वाले जब तक वे हाथ मौजूद हैं तब तक केवल इन रस्सियों को काटने से कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं होगा बाबू ।

अलगू- (आवेश से) होगा क्यों नहीं । रस्सियां तो नहीं रहेंगी ।

सूका- वही खूनी हाथ फिर रस्सियां तैयार कर लेंगे बल्कि और मजबूत रस्सियां बनायेंगे ।

+ + +

ये तीनों कथन सूका में मगौती के अत्याचारों से उत्पन्न तीन भिन्न प्रकार

की बन रही मन: स्थितियां हैं । उसके चरित्र में करुणा तो आदि से अन्त तक छायी है । रही बात विद्रोह और यथास्तिवाद की तो प्रारंभ के दो अंकों में उसमें विद्रोह का स्वर मुखर है जिसमें वह बार-बार असफल होती है- इन्दर के साथ कलकत्ता भागकर अन्धे कुए में गिरकर और पावे से बांधी जाकर । यही विरोध तीसरे अंक में यथास्थिति को स्वीकार कर अन्तर्मुखी हो जाता है । चतुर्थ अंक में यह विद्रोह उदात्त हो जाता है जिसका कारण सूका बह का वह संस्कार है जो भगौती के अशक्त होने पर जाग उठता है । इसी से प्रेरित हो वह भगौती की सेवा करती है और अन्तत: उसकी रक्षा इन्दर से करती हुई उत्सर्ग को प्राप्त हो जाती है । वस्तुत: भगौती के प्रति उसके विद्रोह का यह उदात्तीकरण है । सामान्य धरातल पर खड़ी भगौती के प्रति उसकी घृणा उसे इतना उदात्त कैसे बना देती है- इसके पीछे उसका वह धर्म है जो सूका के भारतीय नारी और वह भी परंपराओं से विजडित भारतीय नारी होने का द्योतक है किन्तु उसका यह औजस्व रूप परिस्थिति सापेक्ष है । यदि भगौती हाथ पैर से अपंग न हुआ होता तो कोई कारण नहीं होता कि वह भगौती की सर्वस्व सेवा करती । भगौती के अन्धु कुए वाले व्यक्तित्व में चूंकि सूका के प्रति सहानुभूति का भाव आ जाता है किंवा जीवन जल आ जाता है, उसी से हरी-भरी होकर सूका उसके जीवन की एक मात्र रक्षक बन जाती है । उसमें यह भाव जन्म ले लेता है कि भगौती उसका पति है । तात्पर्य यह कि सूका का अभीष्ट यही था कि उसका पति उसे प्रेम दे और उसकी पूर्ति अन्तत: भगौती द्वारा होते ही वह उसे आत्मोत्सर्ग की सीमा तक रक्षा करती है । इससे पूर्व इन्दर के साथ भागने के पीछे उसका विकल्प खोजने का ही एक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है किन्तु बाद में उसे अपनी भूल का एहसास होता है, क्योंकि इन्दर भी अन्तत: उसी भगौती का रूप है जो उसे रखैल, मंगैल और चुडैल बना देता है । वह उसका उपभोग तो कर सकता है किन्तुसमाज के सामने उसे स्वीकार करने का वक्त आने पर कायरों की तरह भाग खड़ा होता है ।

भगौती के साथ सूका का दाम्पत्य सम्बंध इसलिये भी अन्धा और सूखा कुआ

सिद्ध होता है क्योंकि वह सूका के सिर पर बांझ होने का कलंक लगा देता है । यह बांझपन भगौती की पौरुषहीनता के कारण भी हो सकता है लेकिन सामाजिक दृष्टि से दोषी सूका ही मानी जाती है । उसके बांझपन को देखते हुए ही सम्भवत: समीक्षकों की दृष्टि में 'सूका' शब्द को प्रतीकार्थ में मानने की बात भी कही गयी है । जो बुद्धि विलास ही अधिक है और नाम व विशेषता के मध्य एक संयोगपूर्ण समानता है । (भगौती की भी इसी प्रकार 'भगवती' से समानता बतायी गयी है)[१] उसकी मातृत्व की अतृप्ति ने उसमें करुणा भरी है जबकि पितृत्व का अभाव भगौती मेंमनस्ताप का कारण बनता है । दूसरी ओर, इस अभाव की पूर्ति सूका को लच्छी की प्राप्ति से हो जाती है जबकि भगौती अपने अभाव की पूर्ति कहीं नहीं पाता । लच्छी के प्रति वह स्वयं में पुत्री का प्रेम पाती है और हीरा के साथ उसका हाथ सौंपने के पीछे उसके हृदय में कल्याण भावना रहती है । हीरा के साथ लच्छी को विदा करते समय सम्भवत: इन्दर के साथ स्वयं के कलकत्ता भागने और वहां से पकडकर लाये जाने के दृश्य स्मरण हो आते हैं, इसीलिये लच्छी को उसके समान दुर्भाग्य प्राप्त न हो, यह मंगल कामना वह बार-बार करती है । यहां लच्छी का घर से हीरा के साथ भागना सूका का इन्दर के साथ भागने वाली घटना का विपर्यय बनकर समक्ष आता है । लच्छी और सूका का चिपटकर रोते हुए एक हो जाना, चिराग से लच्छी व हीरा को रास्ता दिखाना सूका के विगत दुर्भाग्यपूर्ण जीवन की मंगलमय पुनरावृत्ति की ओर एक संकेत है । इसी की ओर इन पंक्तियों की यह स्थापना द्रष्टव्य हो सकती है -'The conclusion of the act( )is a touchingexchange between Suka and Lacchi,ending with Lacchi and her lover(the paralled to Suka's situation is obious)touching Suka's feet with their forheads(the gesture is more symibolic than physical,the symbolism is maternal).Both women are weeping.As Lacchi goes off with her lover,with Suka's blessing, the curtain descends slowly,Suka standing solitaraly in the door way,crying. We are not to hear of Lacchi again,but can probably assume that Suka's maternal blessing is an indicating that Lacchi's fate with her lover will be better than was that of Suka.[२]

१- Characterization of women in three contemporary Hindi playwrights P.94.

२- Characterization of women in three con.Hindi play.P.100

पर फैंकना- ये कार्य व्यापार एक लम्बे समय तक बिना भाषा के नाटक में एक के बाद एक चलते रहते हैं । और इतने गतिशील होते हैं कि उनके मध्य भाषा की आवश्यकता दर्शकों को कमी प्रतीत ही नहीं होती । क्रियाओं द्वारा बुने ताने-बाने से चरित्रों के अनेक मनोभाव स्पष्ट हो जाते हैं । इसी कारण कहीं-कहीं क्रियाएं ही प्रतीक बनकर समक्ष आयी हैं -'खाट पर बैठकर उसका सीमा सहलाने लगती है । भगौती आंख मूंद लेता है । कुछ क्षण बाद खिड़की पर एक आवाज होती है । सूका खाट से उतरकर चिराग की लौ तेज करती है और उसे लिये हुए इधर-उधर देखने लगती है लेकिन फिर कोई आहट न पाकर चिराग को ताख पर रख देती है ।[१] रेखांकित पंक्ति अपंग भगौती के प्रति भारतीय नारी के उस सहज विश्वास व श्रद्धा का प्रतीक बनकर समक्ष आती है जो कभी समाप्त न होने की कामना से भरा होता है ।

निस्संदेह भाषा के साथ क्रिया का सहयोग चरित्रांकन और कथावस्तु की गतिशीलता का कारण बनता है । शब्द और क्रिया के साथ वातावरण के चित्रण हेतु अनुकूल ध्वनियों का प्रयोग, रंगमंचीय सन्दर्भ को जन्म देता है । जैसे- 'कुछ क्षणों के उपरान्तसामने खपरैल से कोई आंगन में कूदता है । गोरा सा हट्टा कट्टा नौजवान है । कमर में फांड़ बंधी हुई धोती, गले में कुर्ता, बाये हाथ में टार्च, दायें हाथ में छोटा सा डण्डा । आंगन से वह दुइदरे में बन टार्च जलाता है और धीरे-धीरे वह टार्च की रोशनी एक क्षण के लिए सूका पर स्थिर कर देता है । टार्च बुझा देता है । आंगन से भीगता हुआ वह दुइदरे में आता है-

सूका- (गम्भीरता से) कौन । (कोई उत्तर नहीं)

१- अन्धा कुआ- पृ० १५४

(बिजली कौंधती है और पूरादृश्य क्षण भर के लिये प्रकाशित हो जाता है।)
सूका- कौन है तू, बोल नहीं तो मैं गुहार मचाती हूं ।
व्यक्ति- (धीमे स्वरमें-~~घबड़ाकर~~ घबडाहट से) मैं इन्दर हूं सूका !
(बार-बार बिजली कौंधती है, बादल गरजते हैं लेकिन दोनों चुप हैं ।)[१] इस प्रकार शब्द, क्रिया, ध्वनि आदि गुणों से युक्त होकर कोलाज भाषा का निर्माण होता है । भाषा के इस समवाय से दर्शक के मानस-पटल पर दृश्य-बिम्ब(pictorial-image) उत्पन्न करने में बड़ी मदद मिलती है । ऐसे दृश्य-बिम्ब उस रंग-मंच का निर्माण करते हैं जो पढ़ते समय मन पर निर्मित होता है और जो 'अन्धा कुआ' जैसे प्रारंभिक रंग-नाटकों के उस अभाव की पूर्ति करता है जो हिंदी के रंगमंच न होने से उत्पन्न होती हैं ।

'अन्धा कुआ' में विभिन्न चरित्रों की भाषा भी एक प्रकार की 'टाइप' बनकर प्रकट हुई है । भगौती जिन शब्दों और जिस भाषा का प्रयोग करता है, उसमें संवेगों की असन्तुलित अभिव्यक्ति है और आन्तरिक तनाव को व्यक्त करने के लिये भाषा की सहजता से अधिक प्रलाप दृष्टिगोचर होता है । ऐसी संवेगात्मक भाषा स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुई है :-

भगौती- (आवेश में) मना कर दो सुकिया को नहीं तो मैं जान पर खेल जाऊंगा काका ! .

\+ + +

भगौती- (बीच ही में) मौत के मुंह में जा ! और कहां जायेगी ?

\+ + +

भगौती- हां, हां, बोल ! चुड़ैल कहीं की ।[२]

\+ + +

१-अन्धा कुआ- पृ० ७२-७३
२- वही- पृ० ~~७७~~ ७८

नाटक के अन्त में यह संवेग का असन्तुलन एक हृदय स्पर्शी उन्माद बनकर समक्ष आता है तब उसका आन्तरिक तनाव प्रलाप न होकर सहज प्रतीत होता है -

भगौती- (चीखकर)- ले मुझे मार ।उस पर हाथ न चलाना, तेरा दुश्मन मैं हूं, सूका नहीं ।

\+ + +

भगौती- (दम तोड़ती हुई सूका को अपने सीने से जकडे हुए चिल्लाता रहता है) सूका ! मैंने अपनी सूका को मार डाला, सूका----सूका----सूका---।[१]

\+ + +

दूसरी ओर सूका का आन्तरिक संवेग और तनाव उन्माद याप्रलाप की सीमा का उल्लंघन कभी नहीं करता है । उसकी अभिव्यक्ति में विद्रोह, करुणा या क्षोभ सन्तुलित होकर आया है । मनोवेगों और उनकी अभिव्यक्ति के मध्य एक ही भार है । उदाहरण के लिए :-

सूका- (दृढ़ता से) मैं चुप तब रहूंगी । जब इसी गंडासे से तेरा सिर काट लूंगी (एक कदम आगे बढ़कर) बोल दाढ़ीजार का पूत, यहां तू क्यों आया ?

इन्दर- (उसी तरह मुंह पर उंगली रखकर चुप रहने का संकेत करता हुआ)चुप रहो, आज मैं इसे जान से मारकर तुझे निकालने आया हूं ।

सूका- (भय से कंप जाती है और उसकी वाणी एकाएक गिर जाती है) ऐसा न कर ! मैं तेरे पांव पड़ती हूं, ऐसा न कर ! मैं विधवा हो जाऊंगी, मुझ पर दया कर ।

१- अन्धा कुआ-पृ० १५७

इन्दर- (घृणा करते) तू उसे पति मानतीहै ?

सूका- पति तो है ।

इन्दर- लेकिन यह आदमी नहीं है ।

सूका- कुछ तो है ।

इन्दर- कुछ नहीं है । (आवेश में भगौती की ओर बढ़ता है।)

सूका- (दृढ़ता से डांटकर)खबरदार, जो कदम आगे बढ़ाया ।[१]

उपर्युक्त संवादों में जैसे-जैसे इन्दर के मन्तव्य से सूका परिचित होती जाती है, उसके संवेगों में क्रमश: परिवर्तन होता जाता है और तदनुरूप उसकी अभिव्यक्ति होती है इस प्रकार संवेगपूर्ण नाट्य-भाषा दोनों ही चरित्रों द्वारा प्रयुक्त होती है किंतु उनके संवेगों और उसकी अभिव्यक्ति में क्रमश: असन्तुलन का सन्तुलन का आधार भूत अन्तर है ।

नाट्य-कला में भाषा का रूप ~~सम्बन्धन~~ सम्वादों के द्वारा भी संयोजित होता है । जैसा कि कहा गया है, नाट्य कला का दर्शकों पर जो संपूर्ण प्रभाव पड़ता है, उसका मनोवैज्ञानिक आधार कार्य, दृश्य और कथन होता है । इनमें गत्यात्मक सामंजस्य बनाये रखना अति आवश्यक है ।[२] इस तालमेल के अ भाव में ही नाटक के कथन या सम्वाद अलग से जोडे कार्यत्व और दृश्यत्व विहीन कथोपकथन बनकर रह जाते हैं । `अन्धा कुआ` का प्राथमिक पक्ष कार्य है जो मानस पटल पर दृश्यत्व का बोध कराने में सक्षम है । सम्वादों में इस कार्य तत्व को गति व प्रवाह मिलता है । उदाहरण के लिये - नाटक के अंतिम अंश में प्रयुक्त सूका और इन्दर के सम्वाद कार्यत्व को संयुक्त करते हुए आगे बढ़ते हैं । अंधेरी रात्रि में कुछ टूटकर गिरने और रौंदे जाने की आवाज के साथ खपरैल से आंगन में हाथ में कटार लेकर इन्दर का कूदना

१- अन्धा कुआ- पृ० १५५

२- नाट्य-कला- डा० रघुवंश, पृ० ७२

दृश्यत्व की रहस्यात्मकता को जन्म देता है, जैसे ही सूका `कौन `पूछती है-इन्दर `खबरदार, मैं हूं सूका` कहता है । इन संक्षिप्त सम्वादों में ही मुंह पर अंगुली रखे इन्दर की घबराहट और सूका का उसके खौफनाक इरादों से परिचय हो जाता है । यहां सम्वादों का महत्व ही इसलिये है कि वे दृश्यत्व बोध के साथ-साथ गतिमूलक कार्य की प्रतिष्ठा करते हैं । सूका जैसे ही इन्दर के इरादों को भांपती है, उसमें भय उत्पन्न हो जाता है और वाणी गिर जाती है । यहां इन्दर और सूका के मध्य जो सम्वाद चलते हैं, वे अति संक्षेप में हैं जो समय की नाजुकता को देखते हुए उचित भी हैं ।- तेज गति से चलते हुए सम्वाद सूका के इस कथन के साथ जैसे अवरोह से आरोह पर पहुंच कर टूट जाते हैं और सूका, इन्दर व भगौती के मध्य त्रिकोण कार्यपरक संघर्ष प्रारंभ हो जाता है- `समझा क्या था ? नामर्द कहीं का ! यह घायल है लेकिन बेआसरा नहीं है ।`तात्पर्य यह कि, नाटक में सम्वाद कार्य और दृश्यमूलक हैं, केवल मात्र कथोपकथन नहीं ।

नाटकीय कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिये और भाव संचार के लिए सम्वादों में टूटे वाक्यों, विस्मयादि बोधक चिन्हों से आगे बढते शब्दों,डाट्स का प्रयोग मिलता है-

सूका- वह क्या बोलेगा !----- तुम्हीं बोलेन ! हाकिम के इजलास में तो तुम्हीं सबसे बड़े काका बने थे । कहां हैं आज तुम्हारी वे बातें जिन्हें ईश्वर की सच साक्षी देकर----(एकाएक उसका गला रुंध सा आता है।)

\+ + +

इन्दर- बात न करो सूका ! हाथ जोड़ता हूं, जल्दी इस घर से निकल चलो ।
सूका- कहां ?
इन्दर- मेरे साथ ।
सूका- बको मत !
इन्दर- क्यों ऐसी-------।

\+ + +

ध्वनि और शब्दों पर सम्वादों में यहां इतनाबल दिया गया प्रतीत नहीं होता जितना उनकी गतिशीलता पर जो सम्वादों के अन्दर निहित उतर-प्रत्युत्तर,तर्क-वितर्क और संक्षिप्तता से उत्पन्न होती है । इसीलिये सम्वादों में वह 'हारमनी' यहां प्राप्त नहीं होती जोनाटक को संगीतात्मक बनाती है । मोहन राकेश के 'लहरों के राजहंस','आषाढ़ का एक दिन' में यही 'हारमनी' इन नाटकों में गीति तत्व का संचार करती है-'आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा, मां !-- ऐसी वर्षा, दूर दूर तक की घाटियां भीग गयीं ।-----और मैं भी तो ! देखो न मां, कैसे भीग गयी हूं ? गयी थी दक्षिण से उड़कर आती हुई बकुल पंक्तियों को देखूंगी और देखो सब वस्त्र भिगो आयी हूं ।'[१]

\+ \+ \+

'कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कमलताल के पास आकर कभी इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात करें । ये बोध से चौंच मिलाकर चकित दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे फिर कांपती लहरें जिधर ले जायेंगी, उधर को तैर जायेंगे ।'[२]

\+ \+ \+

वस्तुत: सम्वादों द्वारा वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति की चेष्टामें डा० लाल उनमें संगीतात्मकता और बिम्बात्मकता की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं कर पाये हैं । अवश्य ही उस लय की अभिव्यक्ति वे सम्वादों में छिपे कायैत्व में करने में सफल हुए हैं जो नाटक में काव्य तत्व की प्रतिष्ठा करती है किन्तु सम्बादों में यह काव्यत्व अन्तर्हित

१- आषाढ़ का एक दिन- मोहन राकेश

२- लहरों के राजहंस- मोहन राकेश ।

होता है । बाह्य रूप में जो काव्यत्व किसी भी साहित्य विधा के लिये आवश्यक है, वह यहां देखने को नहीं मिलता । हो सकता है, इसका कारण यहां डा० लाल का अपने चरित्रों(भगौती, सूका) से बंधा होना हो जो ठेठ ग्रामीण परिवेश से उठे हैं और जिनकी भाषा व सम्वाद भी उनके मानसिक स्वरानुकूल हैं ।

नाट्य-सृजन में उपर्युक्त आयाम (कार्य व कथानक, चरित्र, भाषा, सम्वाद) उसकी सृजनात्मकता के अनिवार्य पक्ष हैं । बिना इनके नाटक की कल्पना नितान्त असम्भव है । इसी सृजनात्मक रेखा चित्र में रंग-बोध की तूलिका फेरने पर नाटक अपने पूर्ण आकार को प्राप्त करता है । जैसे चित्र स्वयं में पूर्ण होता है चाहे वह रेखांकन ही क्यों न हो, उसी प्रकार नाटक भी पूर्ण होता है चाहे उसमें रंग-तत्वों का समावेश न हो पाया हो । किन्तु रंगविहीन चित्र की भांति ऐसा नाटक साहित्य की एक विधा बन सकता है, सर्जनात्मक कला नहीं । इस प्रकार सर्जनात्मक कला के रूप में नाटक को गति व प्रेरणा देने वाले एक अंग की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।- यह है नाटक में प्रच्छन्न रंगमंच का काव्यत्व और उसे समाहित करने वाला तत्व अभिनयात्मिका वृत्ति । नाटक की रचना के समय यह मानसिक प्रवृत्ति नाटककार में, अभिनय करते समय अभिनेता में और आस्वादन करते समय यह दर्शक में छिपी रहती है । अभिनय कला की यह प्रवृत्ति उसमें समाविष्ट नाटकीय कार्य द्वारा प्रकट होती है । अभिनयात्मिका वृत्ति को समझाने के लिये फ्रां फ्रान्सिस फार्यूसन ने अपने ग्रन्थ The idea of theatre में इसकी परिभाषा 'कार्य का अनुकरण मूलक प्रत्यक्षीकरण(the mimetic perception of action) इस प्रकार की है । यहां कार्य की प्रतिष्ठा नाटक की कथा में नाटककार द्वारा करने की बात कही गयी है । अतस्व नाट्य रचना की समीक्षा करते हुए उसमें अभिनयात्मिका वृत्ति की खोज का मानदण्ड नाटक का कार्य तत्व होगा ।नाटक की कथा की विवेचना के समय इस सम्बंधी गवेषणा होचुकी है)। अभिनयात्मिका वृत्ति का दूसरा तत्व है उस कार्य का अनुकरण जिसे नाटककार ने कथानक के अन्दर पिरोया है । अभिनय करते समय अभिनेता नाटकीय कार्य का ही अनुकरण करता है । इस अनुकरण के लिये नाटककार नाट्य-रचना के समय ही अभिनय सम्बंधी संभावनाओं

को समाहित करने का प्रयत्न करता है । जिससे अभिनय के नये से नये अवसर खुल सकें । इनके लिये नाटक में चतुर्विध अभिनय, वातावरण और रंग-निर्देशों का महत्व होता है ।

`अन्धा कुआ` में भारतीय नाट्य-पद्धतियों के अनुसार आंगिक, वाचिक, आहार्य व सात्विक अभिनय की सम्भावनाएं दृष्टिगोचर होती हैं । इन सम्बंधी कतिपय उदाहरण नाटककार द्वारा अनुकरण की सम्भावनाएं प्रकट करने सम्बंधी तथ्य के प्रमाण होंगे :-

---------उसी बीच नंगे बदलन, केवल धोती पहने, सिर पर अंगौछा बांधे और हाथ में डण्डा लिये अन्दर से हांफता हुआ भगौती आता है । उसकी सांसे क्रोध स और आवेश से अब तक फूल रही हैं और वह पसीने से तर है ।-यहां भगौती के मनोवेगों से परिचित होने में हांफता हुआ और फूल रही सांसों को नियंत्रण में रखने में असमर्थ उसकी स्थिति में आन्तरिक क्रोध की अभिव्यक्ति पूर्णत: होती है । यहां अभिनेता सात्विक अभिनय का पूरा अवसर पाता है । इसी प्रकार सूका के आन्तरिक करुणा भाव को प्रकट करने में निम्नांकित रंग निर्देश सहायक होता है-`लच्छी और सूका नि:शब्द रोती हुई एक दूसरे के गले से इस तरह चिमट जाती हैं जैसे दोनों एक हो गयी हों -----सूका(चिराग दिखाती हुई खड़ी रहती है) `मुझे न निहारो, जाओ मेरी बेटी, इस घर की तुम पर कभी साया तक न पड़े, जाओ मेरी-----(रो पड़ती है)` उपर्युक्त सात्विक अभिनय स्वतंत्र न होकर आंगिक अभिनय(उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में क्रमश: सांसों के फूलने में पेशियों के तनाव और गले से चिपटना व आंखों से आंसू बहाना) जुड़े हैं । कहीं-कहीं ये आंगिक अभिनय व्यभिचारी भावों द्वारा भी स्पष्ट होते हैं । जैसे- भगौती क्रोध से सिर उठाता है । चारपाई के नीचे झुककर लोटा उठाता है और उसे सम्भालकर साधकर सूका पर फेंकता है । लोटा सूका की पीठ से टकराता है । वह चीख उठती है, नन्दो, राजी घबरा उठती हैं और उधर भगौती पर दर्दनाक खांसी का दौरा पड़ जाता है । राजी सूका की पीठ सहलाने लगती है । सूका भगौती को घृणा से देखती

है लेकिन कुछ बोलती नहीं । आंगिक और सात्विक अभिनय की चरम सीमा नाटक के अन्त में दृष्टिगोचर होती है जब भगौती एक साथ ग्लानि, पश्चाताप,क्रोध और शोक में आठ-आठ आंसू बहाकर मृत सूका के प्रति जीवन भर किये गये अत्याचारों की स्मृतियों में खो जाता है । भाषा के अध्ययन के समय इस नाटक की भाषा को नाट्य-भाषा कहा गया है और उसे अभिनय योग्य कहा गया है । भाषा में सात्विक व आंगिक अभिनय के समावेश के अतिरिक्त उस वाक् शक्ति का प्रयोग हुआ है जो सहज सम्प्रेष्य है । भावानुरूप शब्दों का संघात,बलाघाते एवं स्वर-नियंत्रण इस नाटक में देखने को मिलता है -

सूका- तू चोर है, तूने मरे हुए को भी मारा(रुककर) खुद तो मारा ही, दूसरों को सदा मारने केलिये रास्ता दे दिया, रखैल से भगैल नाम दिया, अब कौन नाम देना चाहता है ?

इन्दर- मुझे माफ करो, सूका । अब ऐसा नहीं होने पायेगा ।

सूका- मेरे सामने से हट जा, दूर हो जा मेरे पास से ।

इन्दर- (बढ़कर उसके मुंह पर हाथ रख देता है) धीरे-धीरे । नहीं तो कोई सुन लेगा और गजब हो जायेगा ।

सूका- हो जाये गजब । मैं तो चाहती हूं चक्र गिर जाय । तू यहां पकड़ा जाय । तुझ पर भी उतनी ही मार पड़े । तेरी भी उतनी ही यातना हो जितनी मेरी हुई है ।

यहां सूका का क्रोध भाषा के क्रमश: उग्र, उग्रतर हो जाने में प्रकट हुआ है । रखैल, भगैल, गजब, `चक्र गिर जाय`,`उतनी ही मार पड़े,`यातना`- पर बल देकर सूका के आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है । उदात्त स्वरों से शनै: शनै: गिरते जानेवाले स्वरों के विन्यास वाली इस भाषा द्वारा तात्विक अभिनय में स्वर-तियंत्रण को लक्ष्य किया जा सकता है । मिनकू द्वारा सूका पर अन्धे कुए में गिरने की गलती बताये जाने पर अलगू द्वारा यह कहना कि- `इसमें इसका रत्ती भर दोष नहीं है`- अचानक सूका का स्वर ऊपर चढ़ जाता है और वह कहती है-`नहीं ,नहीं`,

सब मेरा है । उससे मेरी शादी हुईयह भी मेरा कसूर है, मैं मागी पकड़ी गयी । मुकदमा चला, मैं उसे छोड़कर फिर इस घर में आयी, यह भी मेरा ही दोष है । मैं मरने भी गयी तो मुझे अन्धा कुआ ही मिला । यहां तक वह अपने दुर्भाग्य की तारणा के कटु अनुभव से भर जाती है और उसके ये उद्गार निराशा के भाव को व्यक्त करते हुए स्वर को गिरा देते हैं -`क्या क्या कहूं, किससे कहूं ? (आह करके पावे से अपना सिर टकरा देती है) नाटक में आहार्य अभिनय रंग निर्देशों में चरित्रों की वेशभूषा और व्यापक मंच संकेत द्वारा लोक वातावरण के चित्रण के रूप में देखने में आता है । आहार्य अभिनय का यह पक्ष`अन्धा कुआ` की यथार्थवादी रंग-सज्जा और रूप की ओर इंगित करता है । फाम को स्पष्ट करने क और अभिनय की दृष्टि को समक्ष रखने के कारणनाटक के विस्तृत रंग-संकेत आलोच्य नहीं हैं ।

अभिनयात्मिका वृत्ति का तीसरा अंग कार्य के अनुकरण का प्रत्यक्षीकरण है । प्रत्यक्षीकरण का सम्बंध दर्शक से है और अ दर्शकों के लिये नाटककार व अभिनेता को मिलकर नाटक के कार्य व्यापार को गतिशील और लय या प्रवाहपूर्ण बनाना होता है । दर्शक चेतन होकर कार्य को देखें और अनुभव करे- इस आवश्यकता को ध्यान रखते हुए नाटक में संघर्ष और उससे सम्बंधित दृश्यों का विधान आवश्यक होता है-`अन्धा कुआ` में विरोधी चरित्रों का द्वन्द्व, स्वयं सूका आन्तरिक द्वन्द्व नाटक को उमगती नदी का आवेग प्रदान करता है । मगौती द्वारा सूका को पावे से बांधा जाना, इन्दर के आगमन पर सूका द्वारा शोर और मगौती का इन्दर के पीछे भागना और अन्त में सूका द्वारा मगौती द्वारा इन्दर से बचाना-ऐसे दृश्य हैं जिनमें मंच गतिशील कार्य द्वारा दर्शक आन्दोलित हो उठता है । यही अनुभव वह रंगमंच का काव्य है जो अभिनयात्मिका वृत्ति का मूल है और जिसका आधार दृश्यत्व है । ऐसे ही दृश्यों को सासें `अनिवार्य दृश्य` की संज्ञा देता है ।[१]

१- नाटक साहित्य का अध्ययन- पृ० ६०

`अन्धा कुआ` में दृश्यत्व केप्रतिनाटककार का बोध अन्त तक बना रहता है । सूका का उत्सर्ग इसीलिये नाटक का प्रभावशाली अन्त बन जाता है ।

२.मादा कैक्टस :

लाल के अनुसार `मादा कैक्टस` विशुद्ध प्रयोगवादी रंग शैली में लिखा गया नाटक है ।[१] जो रचे जाने के तुरन्त पश्चात ६ नवम्बर १९५६ को आकाशवाणी रंगमंच,इलाहाबाद के तत्वावधान में आफिसर्स ट्रेनिंग स्कूल के रंगमंच पर स्वयं डा० लाल के ही निर्देशन में खेला गया । इसके बाद जनवरी १९५७ में यह डा० धर्मवीर भारती द्वारा सम्पादित `निकष` में प्रकाशित हुआ और इसी के साथ पुस्तकाकार में प्रकाशित हो गया । इसके दूसरे संस्करण में नाटककार द्वारा कतिपय परिवर्तन भी किये गये जिसके अनुसार प्रथम संस्करण की आनन्दा का नाम परिवर्तित कर मीनाक्षी कर दिया गया और आनन्दा के पिता डा० पापा को मंच पर से हटा दिया गया । सुजाता को भी उसके विद्रोही चरित्र को पूर्ण गरिमा के साथ व्यक्त करने के लिये मंच पर फ्लेश बैक में न लाकर प्रत्यक्ष लाया गया ।

जैसा कि लाल का कथन है कि नाटक परम्पराबद्ध तरीके से न लिखा गया इतिवृतात्मकता विहीन नाटक है और पहेली के रूप में बुझाया गया है ।[२] यह पहेली नाटक के अभीष्ट को स्पष्ट करती है । नाटक के एक चरित्र सुधीर ने अपनी बन्द मुट्ठी के रहस्य को दर्शक के समक्ष रखा है । यह पहेली अपने मूल में एक वैज्ञानिक अवधारणा लेकर चलती है जिसके अनुसार माना जाता है कि यदि नर कैक्टस के समीप मादा कैक्टस को रख दिया जाय तो वह सूख जाता है । यही कैक्टस जीवन-दर्शन नाटककार के चरित्र कलाकार अरविन्द द्वारा स्थापित किया गया है।

१- रक्त कमल-पृ० १९

२- मादा कैक्टस- डा० लाल का कथन ।

क्या वस्तुत: दाम्पत्य सर्जन शील कलाकार के विकास में घातक है, क्या पत्नी अपने कलाकार पति की कला- चेतना को सुखा डालती है और क्या स्त्री पुरुष के लिये उसके सामाजिक विकास की एक सीढ़ी मात्र है ? ये ऐसे चिरन्तन प्रश्न हैं जो हमारे समाज में एक लम्बे समय से उठते चले आ रहे हैं । नारी- पुरुष के मध्य सम्बंधों का यह असमान धरातल जिसमें पुरुष का अहं नारी पर अनेक प्रकार से हावी होना चाहता है-`मादा कैक्टस` के आभिजात्य समाज के सन्दर्भ में प्रकट हुआ है, वैसे ही जैसे भगौती और सूका के परस्पर सम्बंधों के मध्य पुरुष की अहंग्रस्तता का शिकार बनी नारी पुरुष के पौरुष(!) की कसौटी बनने को बाध्य होती है । अरविन्द, सुजाता और मीनाक्षी के द्वारा `मादा-कैक्टस` नारी जीवन की उस पहेली को समक्ष रखता है जो पुरुष(अरविन्द) द्वारा काटे जाने पर (सुजाता) डहडहा जाती है और बिना काटे जाने पर (मीनाक्षी) कुम्हला जाती है- इसी पहेली को नाटककार ने दर्शकों केसमक्ष इस रूप में रखा है :-

ज्यों काटौ तो डहडहै, बिनु काटे कुम्हलाय ।
ऐसी अद्भुत नार का, कु कछुक कह्या नहिं जाय ।

यही पहेली नाटक के सूत्रधार सुधीर द्वारा `बन्द मुट्ठी के रहस्य` द्वारा अधिक स्पष्ट होती जाती है । नाटक का उपर्युक्त उद्देश्य तर्क, विचार या प्रज्ञात्मक भाव को प्रबुद्ध करना है । नाटक समस्यामूलक नहीं प्रत्युत चिरन्तन प्रश्नमूलक है- नारी-पुरुष के मध्य शोषितऔर शोषक के सम्बंध को यहां एक नये प्रतीक द्वारा समक्ष रखा गया है- मादा और नर कैक्टस के सम्बंध में प्रयुक्त वैज्ञानिक अवधारणाएं जो मानवीय सन्दर्भ में सर्वथा उलट जाती हैं । यहां मादा कैक्टस के संपर्क में आकर नर कैक्टस नहीं सूखता, उलटा मादा ही सूख जाती है ।

नाटक के सम्बंध में कहा जाता है कि यहदर्शक सापेक्ष होने से किसी `विचार` को स्वयं द्वारा प्रसारित नहीं करता- अर्थात् विचार प्रतिपादन इसकी प्रवृत्ति नहीं है । विचार तत्व नाटक के कार्य तत्व को गम्भीर व बोझिल न बना दें- यह भय नाटक को कभी सीधे विचार तत्वों के नाटक में प्रतिपादन की ओर

प्रेरित नहीं करता ।[१] लेकिन 'मादा कैक्टस' में विचार(idea) और कार्य(action) दोनों एक साथ प्रयुक्त होने पर भी उसे दर्शक सापेक्ष बनाने में विशेष व्यवधान नहीं डालते । अपवाद स्वरूप उन स्थानों को छोड़कर जहां अपनी बात स्पष्ट करने में नाटककार ने अति गुंफित भाषा का प्रयोग किया है।) वे नाटक में कार्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ चरित्रों का अंकन और गतिशील कथा-विधान(यद्यपि इतिवृतात्मकता पर यहां इतना ध्यान नहीं दिया गया है) का नियमन करते हैं । ऐसी स्थिति में नाटक के कार्यमूलक वस्तु-विधान पर एक व्यापक दृष्टि आवश्यक है ।

नाटक का प्रथम अंक पहेली के रूप में प्रारंभ होता है और उसकी स्थापना सुधीर द्वारा की जाती है जो संस्कृत नाटकों के सूत्रधार का स्मरण दिलाता है । सुधीर नाटक में निहित चिरन्तन प्रश्न को समक्ष रख दर्शकों से उसका समाधान पाना चाहता है । क्योंकि वह अपनी मुट्ठी के रहस्य से परिचित है । अतएव उस पर प्रकाश है जबकि दर्शकों के लिये वह मुट्ठी रहस्य है- अत: वे अन्धकार में हैं । बन्द मुट्ठी केरहस्य की ओर संकेत करते हुए वह उस बच्चे का किस्सा सुनाता है जो अपने वंश के संस्कारों के कारण जन्मते ही नर्स की अंगूठी चुरा लेता है । इस किस्से के साथ ही वह दर्शक से पुन: उस रहस्य के सम्बंध में पूछता है । मानों अपनी मुट्ठी में संस्कारों की ओर संकेत कर दर्शकों(मीनाक्षी,सुजाता इत्यादि) को भी उन परम्परागत संस्कारों, रूढियों से घिरे होने का बोध करा देता है । यही घेराव सुजाता और मीनाक्षी के अन्धकार में खड़े होने का कारण है और यही उद्घोषणा नाटक की वर्ण्य वस्तु की एक प्रकार से स्थापना है और मूल समस्या है-

---

१- "The plain truth, then is that the Drama reveals itself as a literary form which precisely, because it addresses itself to an audience is unfiltered to convey the 'thoughts'—the messages the propagandist beliefs—of its author. That is why the modern cult of the dramanst as thinker is inimical to the very being of the Stage."
(The theatre and Drama/A. Nicoll.

प्रेमिका कला को प्रेरणा देती है पर उसका सम्पर्क ?
स्त्री शोभा है पर धर्म पत्नी !-----दूर छूना नहीं,तेरा स्पर्श मेरी नसों के भीतर खून को सुखा देता है ।[१]

पुरुष का स्त्री पर यह अहं भाव ही वह कांटा है जिसने स्त्री के अन्दर की कोमल भावनाओं (जो पुरुष की प्राप्ति की इच्छुक होती हैं) को घेर रखा है और उसे घुन की तरह चाटरहा है । `हसीन फूल ` और उसके चारों ओर घेरे हुए कीड़े का प्रतीक सहसा मंच पर हुए प्रकाश में विस्तृत व्याख्या का रूप ले लेता है और नाटक का एब्स्ट्रेक्ट विचार स्थूल(कान्क्रेट) धरातल पर कार्य के रूप में व्याख्यायित होने लगता है ।

बरविन्दके मंच पर प्रवेश के साथ ही फोन पर `किसी के साथ` उसकी कला के सम्बन्ध में सौन्दर्य शास्त्रीय चर्चा उसके चरित्र के पहलुओं को भी उजागर करती चलती है । यहीं उसके गम्भीर व्यक्तित्व को चुनौती देते हुए मंच पर सुधीर का `आंधी की तरह ` प्रवेश नाटकीय कार्य में दो सर्वथा विरोधी चरित्रों के नाटकीय द्वन्द्व को प्रकट कर देता है । अरविन्द द्वारा ड्राइंग रूम में सजाये मादा और नर कैक्टस के अलग-अलग रखे गमलों को सुधीर द्वारा एक साथ मिलाकर रख देना एक विरोध मूलक नाट्य-बिम्ब का निर्माण करता है । सुधीर का यह विरोधी कार्य नाटक में द्वन्द्व का बीज स्थापित करता है । नाटक के प्रश्न को सहज बनाने के लिये सुधीर व गंगाराम के सम्वाद उपयुक्त प्रभाव का कार्य करते हैं । अरविन्द के इस बंगले में चारों ओर कांटे ही कांटे, मीनाक्षी का बुखार, सुधीर द्वारा `यह औरत जात सिर्फ मरना जानती है - कथन द्वारा अरविन्द व मीनाक्षी

१- मादा कैक्टस- पृ० ५

के सम्बंधों की व्याख्या और स्पष्ट होती है और नाटक का मूल बीज विस्तार पाने लगता है । अरविन्द के दद्दा से-स्पष्ट इसे स्पष्ट करते हैं- मीनाक्षी के पिता अरविन्द से अपनी बेटी का विवाह करना चाहते हैं, स्वयं दद्दा भी यही चाहते हैं किन्तु अरविन्द विवाह को अपनी कला के लिये घातक समझता है। दूसरी ओर सुगंधी का जोड़ा लगाने की बात कहकर सुधीर दाम्पत्य के सम्बंध मेंस्वयं के उदार विचार प्रकट करता है । विरोधी इहाओं(volitions) का द्वन्द्व यहां आगे बढता रहता है । ध्यातव्य है कि यह द्वन्द्व दोनों चरित्रों के मध्य आमने-सामने न होकर अपने-अपने क्षेत्र में विचार और कार्य द्वारा होता है । सुधीर द्वारा जोडा लगाने की बात कहकर भविष्य में मिस कपूर से विवाह करने के तथ्य को भी पूर्व ही सम्भाव्य बता दिया गया है । इस प्रकार अरविन्द और मीनाक्षी के मध्यवायत प्रेम के विरोध में सुधीर और मिस कपूर का सम्बंध खड़ा हुआ है । इस प्रसंग को पताका के साम्य पर देखा जा सकता है। यहीं गंगाराम और उसकी पत्नी के दूर होने और सुधीर द्वारा यह कहने मेंकि `औरत से इतनी दूर रहेगा तो क्या होगा`- अरविन्द की मान्यताओं के विरोध में एक और वृत्त समक्ष आता है जो पताका का सहायक कहा जा सकता है। यह संस्कृत नाटकों में प्रकरि के रूप में दिखायी देता है ।

यहीं दद्दा के कथन से अरविन्द के अहं ग्रस्त कलाकार के जीवन का एक और रहस्य खुलकर सामने आता है । अरविन्द सुजाता-अपनी पत्नी को पूर्व ही अपनी कला-साधना की वेदी पर होम कर चुका है । इस प्रकार पत्नी का सम्पर्क छोड़कर अब वहप्रेमिका(मीनाक्षी) के सम्पर्क में है ।- अपनी कला की प्रेरणा के साधन रूप में। फ्रेण्ड और कम्पेनियन के रूप में। यहीं अरविन्द की कला-साधना के प्रति समर्पण और उसके लिये जिन्दगी में `एक्शन` को तिलांजलि दे देने का तथ्य सामने आता है जब अचानक उसके अहाते में बन्दूक चलाये जाने पर वह क्रुद्ध हो उठता है । नाटकीय कार्य यहां द्वन्द्वात्मक हो उठता है जब अरविन्द व सुधीर

के इन सम्वादों से उनका जीवन दर्शन खुलने लगता है-

अरविन्द- आपको मालूम है-----।
सुधीर- यहां बन्दूक चलाना मना है---पर चिडिया सुन्दर थी ।
अरविन्द- मगर-ब तो आप सुन्दर पर गोली चलाते हैं ?
सुधीर- कौन नहीं चलाता ? हां, तरीके अलग अलग हैं- कोई जाल में फंसाकर मारता है, कोई----।[१]

नाटक का कार्य जैसे जैसे आगे बढ़ता है, सुधीर और अरविन्द के मध्य द्वन्द्व तेज होता जाता है । स्त्री को केवल प्रेरणा मानने की बात अरविन्द बार-बार करता है- ---- ये आपस में मिले नहीं कि ये नर कैक्टस सूख जायेंगे----- यह उतनी ही खूबसूरत है । बिना इसके मैं एक क्षण नहीं रह सकता । यह मेरी---

\+ + +

मार्क्स और अरविन्द का समन्वय है इस पौधे में----बाहर कांटे, भीतर रस ![२]

\+ + +

अरविन्द के उक्त आत्म-विश्लेषण के साथ ही मीनाक्षी का प्रवेश, उसकी बीमारी, बच्चों के प्रति उसकी मोहपूर्ण कल्पना और अपने स्त्री होने की प्राथमिकता की दृढ़तापूर्वक स्थापना एक प्रकार से अरविन्द की उपर्युक्त मान्यताओं की एण्टीथिसिस और चुनौती बनकर समक्ष आती हैं जिसकी व्यंग्यपूर्ण अभिव्यक्ति मीनाक्षी के इस अवसर पर प्रवेश को सार्थक बना देती है-` मैं सोचती हूं, हर सृजन के लिये बुनियादी चीज `पैशन` है और यह `पैशन` जिन्दगी के भीतर से पैदा होती है, उसकी स सिर्फ बात करते रहने से नहीं ।[२] यहीं मीनाक्षी के अन्दर

१- मादा कैक्टस- पृ० १८
२- वही- पृ० २६

का विरोध उन्माद का रूप धारण कर बह निकलता है और वह `सफेद घोड़ा`, पीछे दौडते नन्हें बच्चे`, `शून्य में मुंह उठाये घोड़े का दुम दबाते हुए भागना`, `घोडे द्वारा बच्चों को कुचलने लगने वाले चित्र को पूरा करने की बात कहती है और इस गत्यात्मक बिम्ब के साथ-साथ कार्य तेज होते होते अन्ततः मीनाक्षी के लड़खड़ा जाने के साथ टूट जाता है।

मंच पर पुनः प्रकाश आने के साथ दद्दा और गंगाराम के सम्वाद अरविन्द की तलाकशुदा पत्नी के कला-समीक्षक होने की सूचना देते हैं । इस सूच्य दृश्य द्वारा अरविन्द द्वारा सुजाता के साथ किया व्यवहार और उसका औचित्या-नौचित्य सिद्ध किया गया है । दद्दा उसी सुजाता के साथ जब मीनाक्षी की तुलना करते हैं तो जैसे वे अरविन्द के कला के अहं की चक्की में इन दोनों नारियों के पिस जाने की बात कहते हैं । नाटकीय कार्य-व्यापार में यहां अरविन्द और दद्दा के सम्वादों से जैसे ही तनाव का वातावरण उत्पन्नहोता है वैसे ही सुधीर का प्रवेश होता है जिससे मंच का वातावरण फिर हल्का -फुल्का हो जाता है । यहां एक बार फिर नाटककार सुधीर को अरविन्द की एण्टीथीसिसस के रूप में समक्ष लाता है । अरविन्द की `रिजर्वनेस` और सुधीर का `रिलेक्स्ड` व्यक्तित्व नाटकीय कार्य को `रस्सा-कस्सी` का खेल सा बना देता है जहां दोनों नाटक के `कार्य ` को अपनी अपनी ओर खींचते हैं ।

दूसरे अंक का प्रारम्भ सुधीर द्वारा अरविन्द पर की गयी एकतीक्ष्ण चोट से प्रारंभ होता है । अरविन्द को एक ओर सुधीर का मिस कपूर के साथ एंगेजमेण्ट का समाचार मिलता है और दूसरी ओर मीनाक्षी के मुंह से खून गिरने का समाचार । ये दोनों समाचार अरविन्द और सुधीर की भिन्न-भिन्न जीवन दृष्टि का परिणाम है । निश्चय ही अरविन्द द्वारामीनाक्षी के साथ किया जा रहा यह खिलवाड़दर्शकों में उसके प्रति रोष भर देता है और मीनाक्षी के प्रति सहानुभूति । यहीं मीनाक्षी के एण्टीथीसिस के रूप में श्रीमती दिवाकर

(सुजाता) का प्रवेश और अरविन्द के चित्रों की बेलाग समीक्षा नाटक के कार्य-व्यापार में फिर एक हलचल उत्पन्न कर देती है ।सुजाता मीनाक्षी को भी चुनौती दे जाती है-`आपसे मिलकर बहुत खुशी हुई । पर उतनी ही दया भी आती है । (जाती है)काश ! आप इनके सम्पर्क में न आयी होतीं ।[१] यहीं सुजाता के संकेत में नाटक का मूल वर्ण्य भी स्पष्ट हो जाता है । मादा कैक्टस के सम्पर्क में आकर नर कैक्टस का सूख जाना वैज्ञानिक अवधारणा है किन्तु मनुष्य जगत में यही विपर्यय के रूप में समक्ष आती है- `नर कैक्टस` के सम्पर्क में आकर `मादा कैक्टस` (मीनाक्षी) सूख जाती है । सुजाता द्वारा आहत होने पर मीनाक्षी को अरविन्द जैसे पुरुषों के समाज का बोध होता है जो चमगादड के समान उलटी मान्यताओं को लेकर जैसे हवा में उलटे लटक रहे हैं । इसी बोध के साथ वह अरविन्द के घर से निकल जाती है- लड़खड़ाती हुई, खांसी से आहत, अपने चित्रों के साथ । मीनाक्षी का मंच से यह प्रस्थान नाटकीय कार्य का वह चरम है जो फलागम के रूप में संयोजित नहीं है । इसके बाद सुधीर द्वारा अरविन्द को मीनाक्षी के क्षत-विक्षत फेफड़ों की तस्वीर बताना नाटक के कार्य द्वारा दर्शक पर पडे प्रभाव को करुणा से भर देता है । सम्पूर्ण कथानक धीरे-धीरे मुट्ठी के रहस्य को खोलने लगता है। हर चरित्र के लिये सुधीर की बन्द मुट्ठी अलग-अलग अर्थ देती है । और इन विभिन्न अर्थों और मान्यताओं की सजी-धजी लाश लेकर वे सभी आगे बढते हैं - एक अन्तहीन यात्रा के लिये ` नाटक का अन्त किसी दाह क्रिया के वातावरण क से कम नहीं है, फलत: `कार्य ` की दृष्टि से इसमें एक प्रकार से नास्टोलिजिया दृष्टिगोचर होता है ।

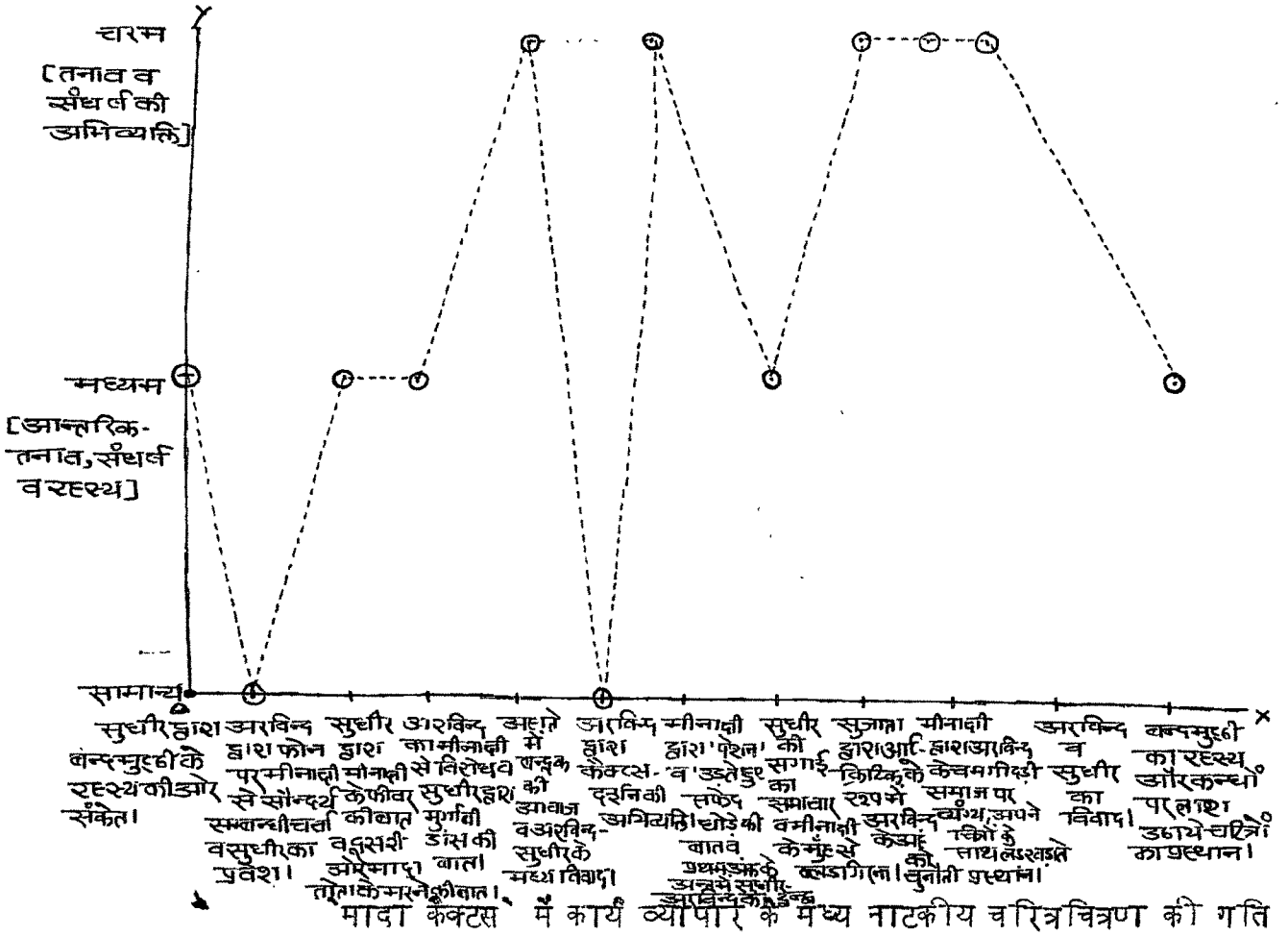
निस्संदेह `मादा कैक्टस` का कार्य व्यापार `अन्धा कुआ` की भांति

१- मादा कैक्टस- पृ० ५०-५१

बहुमुखीन होकर अन्तर्मुखी है और अनेक प्रतीकों से भरा हुआ है । इस कारण उसमें अर्थगाम्भीर्य होने पर भी अर्थबोध और सहजगम्यता का अभाव है । दर्शक प्रतीकों में छिपे गहरे अर्थों की खोज में पीछे भटक जाताहै और कार्य व्यापार आगे बढ जाता है । नाटक की वैचारिक गम्भीरता में कोई सन्देह नहींकिन्तु बोधगम्यता में सन्देह हो जाता है । नाटक की आधुनिकता और यथार्थता कार्य-व्यापार पर हावी हो जाती प्रतीत होती है ।

उक्त नाटकीय कार्य को उसकी कथा वस्तु के क्रमिक विस्तार के साथ देखने पर कार्यमूलक बिन्दु दर्शकोंकी (जब वे इसे प्रत्यक्ष देखें) और पाठकों की (जब में मानस रंगमंच पर अनुभव करें) रुचि के प्रभाव को जिस रूप में व्यक्त करते हैं , तत्सम्बंधी सामान्य मानदण्ड निम्नांकित ग्राफ द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं - ग्राफ का अध्ययन करने स्पष्ट होता है कि नाटक का कार्य-व्यापार कथानक को भी सामान्य धरातल पर रख रहने ही नहींदेता। उसका प्रारंभ रहस्य से होता है और अन्त भी रहस्य से ही । मध्य का कार्यव्यापार आन्तरिक तनाव और चरम संघर्ष बिन्दुओं की ओर ही घूमता रहता है । ग्राफ में नाटकीय कार्य व्यापार के उतरते चढ़ते बिन्दु दर्शकों की रुचि के परिचायक भी हैं ।

आगामी पृष्ठ पर →



मादा कैक्टस में कार्य व्यापार के मध्य नाटकीय चरित्रचित्रण की गति प्रदान की गयी है । जहां तक कार्य का प्रश्न है, उसके आरोह-अवरोह को समझने में दर्शक विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करते क्योंकि दर्शकों को कार्य की गति का परिचय चरित्रोंकी भाषा में छिपे स्वरों और उतार चढ़ावों से और कहीं-कहीं वातावरण(प्रकाश, ध्वनि के समयानुकूलप्रयोगों) से हो जाता है । किन्तु इस नाटक में कार्य में छिपे वस्तु तत्व को जटिल बनाने वाले दो मुख्य तत्व हैं-चरित्र और भाषा-सम्वाद ।

नाटक में जिन चरित्रों का अभिघटन हुआ है वे परम्परागत आधार पर सर्जित नहीं हैं प्रत्युत व्यक्ति-वैचित्र्य के बोधक हैं । इसीलिये वे वर्ग कोटि में नहीं

आते प्रत्युत व्यक्ति की कोटि में आते हैं । जैसे-जैसे नाटकआगे बढ़ता जाता है, ये चरित्र भी स्वत: उद्घाटित होते जाते हैं - अधिकतर स्वयंद्वारा कही बात से ही और कभी-कभी अन्य चरित्रों द्वारा विश्लेषण म द्वारा भी । चरित्रों में कार्य तत्व का जहां जहां समावेश देखने में आता है, वहां वहां वे रंगमंचीन प्रतीत होते हैं किन्तु जहां वे प्रतीकात्मक भाषा सम्वादों के बोझ से लद जाते हैं, वहां वे फिक्शनल प्रतीत होते हैं । सामान्य रूप से नाटक के पाठन व आदर्शन से अरविन्द की `फिक्शनल- इमेज़` बनती है और सुधीर की `थियेट्रिकल` ।

अरविन्द इस नाटक का प्रमुख चरित्र है । प्रकट में वह एक गम्भीर और धीर नायक की कोटि में आनेवालाचरित्र प्रतीत होता है किन्तु उसके आन्तरिक व्यक्तित्व में दो विरोधी दिशाओं का संघर्ष हलचल मचाये है । प्रकट में सुधीर का चरित्र चाहे जितना ही हलचल लिये है । आन्तरिक धरातल पर उतनी ही हलचल अरविन्द में दृष्टिगोचर होती है । यह संघर्ष है उसमें स्थित पुरुष और कलाकार का जिसके मध्य एक साथ दो नारियांपिसी हैं- सुजाता और मीनाक्षी । दोनों के सन्दर्भों में उसका कलाकार व्यक्तित्व विजयी होता है, सुजाता को अन्तत: तलाक देकरऔर मीनाक्षी को अन्तत: क्षय का रोगीबनाकर किन्तु वह कलाकार पुरुष के कर्तव्य का पूर्ण निर्वाहन कर पाने के कारण अधूरा ही रह जाता है । इस अभाव की उसे कभीअनुभूति न हो, इसके लिये वह आत्म स्वीकृति का सहारा लेता है- कभी सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्याएं करके, कभी मीनाक्षी-अपनी ही प्रेरणा से- कला की चर्चा करके और कभी `मेडीटेशन करके ` इस सम्बंध में अरविन्द में आन्तरिक अभाव की आत्म विस्मृति है, उसे अभाव का कला के रूप में उदात्तीकरण नहीं कहा जा सकता । पुरुष के अभाव को भरने के लिये ही मीनाक्षी में छिपे नारीत्व की उपेक्षा करता है, सुजाता का तो तलाक तक दे डालता है । पौरुष के अभाव की अभिव्यक्ति मीनाक्षी के इस कथन में बड़े कौशल से होती है ।-----भागता हुआ सफेद घोड़ा । उसके पीछे नन्हें नन्हें

बच्चे दौड़ रहे हैं ।बहुत तेज हवा चल रही है । उससे भी तेज बारिश हो रही है । घोड़ा दुम दबाये भाग रहा है । कन्धे के बाल हवा में जैसे उड़ रहे हैं । घोड़े का मुंह इस तरह सीधे शून्य में तना हुआ है । घोड़ा भाग रहा है---गैलप---गैलप--- बच्चे उससे तेज भाग रहे हैं । बच्चे उसे घेर लेते हैं, उसे पकड़ना चाहते हैं । घोड़ा गुस्से में पागल हो जाता है । वह बच्चों पर एकाएक टूट पड़ता है । वह बच्चों को रौंदने लगता है ।[१] यहां भागता हुआ घोड़ा अरविन्द ही तो है जो सफेद (Barren) है । उसके पीछे बच्चों का दौड़ना मीनाक्षी की कल्पना से जुड़ा है जो दाम्पत्य का सुख चाहती है, मातृत्व की अभिलाषिणी है । घोड़े का शून्य कीओर दुम दबाकर भागना अरविन्द का वायवी प्रेम औरकला जगत के शून्य की ओर पलायन करना है । मीनाक्षी की कल्पना उसे पलायन से रोकना चाहती है किन्तु वह उसे रौंद डालता है । तथापि क्षत विक्षत कल्पना हवा में उड़कर अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहती है । मीनाक्षी की कल्पना को रौंदकर उसका कला-जगत की ओर पलायन उसके अन्दर के आत्म भय की ओर इंगित करता है । यही भय उसे कला की दिशा में आत्म को केन्द्रित बना देता है ।

इस भय को ही अरविन्द कलाकार का अहं समझता है । इसीलिये वह नारी को कला की प्रेरणा के लिये आवश्यक तो मानता है किन्तु यह भी कहता है कि नारी का सम्पर्क पुरुष के विकास में बाधक है । उसके लिये नारी सौन्दर्य का खिंचाव कांटों के समान है किन्तु इन कांटों के अन्दर चूंकि नारी का वह प्रेरणा तत्व है जो उसकी कला को आगे बढाता है- इस कारण नारी अरविन्द के लिये आवश्यक है । सुजाता से उसने यही चाहा था किन्तु वह न मिलने पर उसने उससे तलाक ले लिया । मीनाक्षी से वह बिना विवाह किये यही चाहता है और यही उसका मीनाक्षी के प्रति वायवीय प्रेम है । अरविन्द के लिये सुधीर की बन्द मुट्ठी का यही रहस्य है । वह कहता भी है :-

---

१- मादा कैक्टस- पृ० २६

`यह उतनीही खूबसूरत है । बिना इसके मैं एक क्षण नहीं रह सकता ।यह मेरी----

गंगाराम- इसमें कांटे बहुत हैं साहेब ।

अरविन्द- ये कांटे नहीं फूल हैं, वह भी अपनी रक्षा के लिये । सारा सौन्दर्य और रस तो इसके भीतर है ।

उपर्युक्त कथन `मादा कैक्टस` के सम्बंध में है । यहीं वह नारी को अपने कलाकार व्यक्तित्व के लिये हानिकारक बताता है फिर भी प्रेरणा के लिये उसकी आवश्यकता पर बल देता है । इस प्रकार स्वयं के (और स्वयं को वह नर कैक्टस की तुलना में रखता है) अन्तर्विरोधी व्यक्तित्व को भी इस प्रकार प्रकट कर देता है ।`जी नये इन्सान का प्रतीक है यह कैक्टस । आज की अन्तर्विरोधी परिस्थितियों में भी यह हरा भरा रहता है । कोई जानवर नहीं, कोई कीडा नहीं, कोई बीमारी नहीं जो इसे सुखा सके ।[१] अरविन्द के अनुसार कलाकार के उत्थान के लिये नारी मार्क्स (कांटे) और अरविन्द(रस) के दर्शन का समन्वय बन जाती है । वस्तुत: `नर मादा` से दूर से ही रस खींचकर उसे त्याग देता है- अरविन्द भी यही करता है- अत: वह अरविन्द(कमल) नहीं प्रस्तुत भौंरा है जो कमल का रस खींच लेता है। उसे- उसके व्यक्तित्व में ही नहीं, नाम मेंभी अन्तर्विरोध है । कलाकार का यह अहं इतना प्रबल है कि वह मीनाक्षी की मोह पूर्ण कल्पना (जो अनाथालय के बच्चों का संगीन सुनकर होती है) के लिये भी कहीं स्थान नहीं देना चाहता ।-

अरविन्द- यह कैसा बेहुदा संगीत है ?

मीनाक्षी- पहले सुन तो लीजिये ।

अरविन्द- अनाथालय का संगीत सुनूं ?

मीनाक्षी- बच्चे गा रहे हैं ।

१- मादा कैक्टस- पृ० २१

अरविन्द- बच्चे----बच्चे----बच्चे । गंगाराम ।

गंगाराम- (आकर) -जी सरकार ।

अरविन्द- जाकर बन्द करा ओ यह शोर । तुम बंगले का फाटक क्यों नहीं बन्द रखते ? ये यहां कैसे घुस आये ?

\+ \+ \+

अरविन्द- मुझे भीख मांगने वालों से बेहद चिढ़ है ।

मीनाक्षी- पर वे तो अनाथ हैं ।

अरविन्द- आखिर क्यों?

मीनाक्षी- इन्हें छोड़कर जिन्दगी से भागने वाले ही इनके जिम्मेदार हैं ।[१]

अरविन्द के उक्त कथनों से मीनाक्षी गहरे रूप में आहत होती है और निस्संदेह इसका जिम्मेदार अरविन्द है । अरविन्द का यह अहं सुजाता के जीवन को तो नष्ट करता ही है, मीनाक्षी के यौवन भरे शरीर में भी क्षय उत्पन्न कर देता है । मीनाक्षी को क्षय पीड़ित कर धीरे-धीरे उससे नि:शेष करने की प्रक्रिया वैसे ही है जैसे शिकारी चौकड़ी भरते हिरन को जाल में फंसा कर उसे अशक्त चिड़िया बना देता है और फिर मार डालता है । उसने भी एक प्रकार से मीनाक्षी की चौकड़ी भरती हुई कल्पना को क्षत-विक्षत कर उसे नि:शेष होने की स्थिति पर पहुंचा दिया है । मीनाक्षी के जीवन को कांटों से भरने और बन्ध्या बना डालने की अरविन्द की प्रक्रिया भगौतीद्वारा सुका के जीवन से भरने और बन्ध्या बना डालने की अरविन्द की प्रक्रिया भगौती द्वारा सुका के जीवन को कष्टप्रद बनाने और बन्ध्या (यहां बन्ध्या शब्द मीनाक्षी के सन्दर्भ की भांति व्यंजनामूलक नहीं बल्कि अभिधामूलक है ।) करने की प्रक्रिया से बहुत साम्य रखती है ।

१- मादा कैक्टस- पृ० २८

अरविन्द का कलाकार सर्जनात्मक शक्तियों के धरातल पर खड़ा है ।लेकिन क्या उसकी सर्जनात्मक शक्तियां नारी के सर्वपतन की समाधि पर खडी हुई नहीं है ? जैसे-जैसे उसकी कला ऊंची चढ़ती गयी है वैसे वैसे नारी- चाहे वह प्रेमिका मीनाक्षी हो पत्नी सुजाता- उसके नीचे दबती चली गयी है । वैसे ही जैसे `अषाढ़ का एक दिन` और मल्लिका प्रेयसि के रूप में मात्र प्रेरणा बनकर अन्तत: वेश्या का जीवन व्यतीत करने को बाध्य होती है । कालिदास की सर्जनात्मक शक्ति मल्लिका के प्रति उऋण है जबकि अरविन्द में ह तो यह बोध भी नहीं है । उसका मीनाक्षी से विवाह न करना भी स्वार्थ प्रेरित है क्योंकि ब्याह कला को सुखाता है । इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र वर्मा कृत `आठवां सर्ग ` का कालिदास(जिसमें भी सर्जनात्मक प्रतिभा है) विवाह कर अपनी पत्नी की प्रेरणा से रचे कुमार सम्भव द्वारा राज्य सम्मान तक को प्राप्त करता है । प्रियंगुमंजरी वहां पत्नी के रूप में उसकी सर्जनात्मक, प्रतिभा में साझा बनती है, बाधक नहीं ।

तात्पर्य यह कि अरविन्द में कला की भूख उतनी नहीं जितनी अपनी कलाकार के अहं की भूख है । इसीलिये उसकी कला `क्रियेशन` नहीं, केवल अस्वाभाविक बन कर रह जाती है । सुजाता और मीनाक्षी को यथार्थ स्तर पर न अपना पाने से उसकी कलाऔर जीवनगत मान्यताएं चमगादड़ की तरह आधारहीन,उलटी हवा में लटकी रह जाती हैं । अपने स्वरूप का बोध अन्तत: उसे भी होता है जब वह आत्म स्वीकार करता है-

सुधीर- इस चमगादड़ को फायर क्यों नहीं किया ?

अरविन्द- तभी तो चित्र बनाता रहा---तभी तो मेरा यह आडर था कि इस अहाते में कोई बन्दूक नहीं चला क सकता---कोई यहां गा नहीं सकता---कोई बच्चा लड़का यहां झांक नहीं सकता---कोई गा रो नहीं सकता।[१]

१- मादा कैक्टस- पृ० २६

उक्त आत्म-स्वीकार उसके पलायनवादीचरित्र का बोध कराता है । लेकिन नारी के प्रति किये गये अतिचार के सम्बंध में यह उसका हृदय परिवर्तन नहीं है,वैसा हृदय परिवर्तन जो मगौती की आत्म स्वीकृति में देखने को मिलता है । लगता है, सुधीर के प्रश्नों के जवाब में यह उसकी सफाई मात्र है । उसका अहं अन्त तक नहीं टूटपाता जब वह कहता है- `यह अर्थहीन है-----महज शौकीन(ठीक जैसे हमारा जीवन, कला, सृजन, ब्याह, गृहस्थी ,प्रेम । इसमें क्रिया नहीं, केवल प्रतिक्रिया है ।[1] इन उद्‌गारों में प्रच्छन्न यह अहं ही अन्य चरित्रों व दर्शक के सामने उसकी मान्यताओं को नीलाम नहीं होने देता क्योंकि वह अब तक अपने कलाकार के सिंहासन से नीचे नहीं उतरा है । इसी कारण उपर्युक्त आत्म स्वीकार केवल `शब्द` बन जाता है,`एक्शन` नहीं ।

नाटक का दूसरा चरित्र `सुधीर` अरविन्द का विरोधी चरित्र कहा जा सकता है ।- एण्टीथीसिस । वह एक साथ नाटक का उद्‌घोषक, नाटकीय कार्य-व्यापार का नियंता और अन्य चरित्रों का समीक्षक है । वही अरविन्द, मीनाक्षी और सुजाता के मन की गांठों को खोलता है, उन्हें `इण्टर प्रेट` करता है । उसकी प्रारंभिक स्थापना नाटककार, निर्देशक और दर्शक-तीनों(लेखन,प्रस्तुतीकरण और आस्वादन) को एक सूत्र में जोडती है । यह सूत्र मंच और रंगशाला के बीच के व्यवधान को दूर करता है और पुल का कार्य करता है । इसीलिये लाल ने लिखा है- `रंगमंच और दर्शक के बीच चलचित्र ने जो व्यवधान उपस्थित कर रखा है,उसको उसने भर देना चाहा है, वह पुल है आपका और रंगमंच का ।[2] इसी कारणस्थान-स्थान पर उसका बड़बोलापन भी अनिवार्य हो गया है क्योंकि इसके अभाव में सारा नाटक `एक्शन` और `शब्द` से विहीन हो जाता । वह यथार्थ के धरातल पर खडा होकर यथार्थ बातें ही सोचता है जब कि अरविन्द यथार्थ पर खड़ा होकर

१-

२- मादाकैक्टस / भूमिका से।

भी चिन्तन वायवीय करता है । उसका यह वायवीय चिन्तन उसे एब्स्ट्रेक्ट चरित्र बना देता है, वहीं सुधीर का यथार्थ चिन्तन उसे क्रान्क्रिट चरित्र बनाता है । एब्स्ट्रेक्ट के प्रति प्रस्तुतीकरण से कहीं नाटकीय द्वन्द्व का वस्तु विधान में से सर्वथा विरोधान न हो जाय, अतस्व सुधीर का सर्जन नितान्त आवश्यक बन गया है ।

नाटक के प्रारंभ में देखने में आता है कि सुधीर पर रोशनी पड़ रही है, शेष सभी अन्धकार में हैं- `केवल मुझ पर रोशनी---बाकी सब अन्धेरे में । ताज्जुब है । यह रोशनी वहां तक क्यों नहीं चली जाती ? लोग इस तरह अन्धेरे में क्यों बैठे हैं ? ---इतने शान्त और खामोश ।[१] वस्तुत: यह रोशनी सुधीर के उस बहिर्मुखी व्यक्तित्व की है जो मुर्दों में भी जान फूंक देती है, उजड़े रेगिस्तान में भी हरा-भरापन भर देती है । इसी कारण दद्दा के शब्दों में सुधीर `मर्द ` है -

दद्दा- कुछ भी हो, सुधीर मर्द आदमी है । लगता है कि कुछ है । एक्शन---- एक्शन ।

अरविन्द- आपके लिये चिड़ियों पर बन्दूक चलाना ही बड़ी मर्दानगी है ।

दद्दा- कम से कम निशानेबाजी तो है ।[२]

\+ + +

गंगाराम- साहब की कोई क्या कहे ? खाने को दौड़ता है यह बंगला । इतना उदास ---मनहूस----चारोंओर यही ठूंठ कांटे । मीनाक्षी दीदी आ जाती हैं, सुधीर भैया आ जाते हैं, आप आ गये- यह बंगला जी उठता है ।[३]

\+ + +

१- मादा कैक्टस-पृ० १

२- वही- पृ० १६

३- वही- पृ० ३४

इस बहिर्मुखता के कारण वह व्याख्या-धर्मी भी बन जाता है । वह बन्द मुट्ठी का रहस्य दर्शकों और चरित्रों के सामने रखता है । पहेली बूझता है और उसके हलका संकेत भी करता है-` मेरी मुट्ठी में जो चीज़ है, उसमें सब कांटे ही कांटे हैं । कांटों के भीतर एक फूल है । एक हसीन फूल है जो स्वप्न देखता है कि उसमें फल आये । मगर उसके पास एक कीडा आ बैठा है ।[१] अपनी बहिर्मुखता और व्याख्याधर्मिता के कारण वह अरविन्द के तर्कों का सामना खुलकर करता है और अन्तत: दर्शकों पर प्रभाव की दृष्टि से अरविन्द पर हावी हो जाता है । वह प्रश्नों की गोलियां दाग दाग कर जैसे अरविन्द का सीना छलनी कर देता है । अरविन्द का यह कथन कि सब कुछ व्याह ही होता है क्या, के उत्तर में सुधीर अरविन्द के अन्तर्मन तक उतर जाता है- `सब कुछ वही भूख होती है जिसे बड़े-बड़े नाम दिये जाते हैं- कला, प्रेम, इश्क---व्याह---गाड---व्यूटीफुल । पर मूल वही भूख है ।[२] यहीं वह अरविन्द के उस `अहं ` की ओर भी संकेत करता है जो औरत को केवल मादा समझता है और उसे छोटामानकर उस पर शासन करना चाहता है ।जब अरविन्द अपने समस्त कृत्य को चमगादड़ी समाज की देन बताता है तो सुधीर उसके इस तर्क को भी काटकर रख देता है- `इस चमगादड़ को फायर क्यों नहींकिया ?`यह अरविन्द का पलायन स्पष्ट हो जाता है जब वह यह कहता है-`तभी तो चित्र बनाता रहा--- तभी तो मेरा यह आडर था कि इसअहाते में कोई बन्दूक नहीं चला सकता--- कोई यहां गा नहीं सकता----` तो उसके मुकाबले सुधीर का चरित्र वास्तव में एण्टीथीसिस बनकर समक्ष आता है- जहां अरविन्द चमगादडी समाज को `फायर` न कर चुपचाप स्वीकार कर लेता है और उससे पलायन कर जाता है, एकाकी बन जाता है, वहां सुधीर वैसे समाज को स्वीकार कर स्वयं का उसके साथ समायोजनभी करता है । वह समाज नामक संस्था में विवाह की आवश्यकता

१- मादा कैक्टस- पृ० ५

२- वही- पृ०-

को स्वीकार करता है और उसे जैविक आवश्यकता के रूप में भी स्वीकार करता है । अरविन्द social-structure को बदलने की बात भले ही कर ले, यथार्थ में इससे भाग निकलता है । दूसरी ओर सुधीर इस समाज को बदलने के लिये इसकी चुनौतियों को स्वीकार करता है । इस प्रकार सुधीर की तुलना में अरविन्द में विसंगति, अर्थहीनता, अधूरापन और जीवन-वास्तव को स्वीकार न कर सकने की स्थिति के प्रति एक नकारात्मक विद्रोह दृष्टिगोचर होता है । उसमें सुधीर की भांति स्त्री- पुरुष सम्बंधों के मध्य वह साम्य मूलक बोध नहीं है बल्कि शोषक-शोषित का सम्बंध-बोध है । सुधीर का यह साम्य दूसरे अंक में स्पष्ट हो जाता है जहां उसके मिस कपूर के साथ एंगेजमेण्ट से दर्शक भिज्ञ होता है । यहीं `मीनाक्षी के मुंह से ब्लड गिरने के ` समाचार से एक बार सुधीर और अरविन्द की एण्टी-थीसिस फिर उभरकर सामने आती है । एक ओर अरविन्द और मीनाक्षी का प्रेम मीनाक्षी में हर्ष उल्लास का कारण बन जाता है, दूसरी ओर सुधीर और मिस कपूर का प्रेम-विवाह की परिणति तक पहुंच जाता है । एक में सामाजिक-समायोजन का अभाव है और दूसरे में वही समायोजन जीवन को विवाह के उल्लास से भर देता है ।

वैवाहिक जीवन के सन्दर्भ में स्त्री- पुरुष के सम्बंधों को एक अन्य कोण से देखने पर स्पष्ट होता है कि सुधीर नारी केअस्तित्व को स्वायत्त मानता है । उसमें नारी के सम्बंध में दोनों दृष्टियां हैं- जीवन में स्त्री के संसर्ग की अनिवार्यता, उसमें निहित उपभोग्य तत्व को उपभोग करने कीसामर्थ्य । यह उसकी यथार्थ दृष्टि है जिसके कारण वह `सीधा फायर` करने के पक्ष में है ।अरविन्द की भांति `जाल में फंसाकर` नहीं । अरविन्द के `अहाते` में उसका `चिड़िया` पर सीधा फायर अरविन्द को खुली चुनौती जान पड़ती है । चिड़िया सुन्दर थी और सौन्दर्य का भोग करना सुधीर के लिये उस सौन्दर्य को मान देना है ।सुन्दर` को लक्ष्य करना और उस पर गोली चलाना वस्तुत: सुधीर के जीवन का वह यथार्थ

है जो जीवन में आने वाली हर वस्तु को लक्ष्य करके चलता है, उसकी उपेक्षा नहीं करता । यह लक्ष्य सुन्दर तत्व की ओर ही है - इसीलिये यदि सुधीर मिस कपूर को लक्ष्य करता है तो वह जीवन के सुन्दर तत्व को ही लक्ष्य करता है ।यदि अपने तीर से सुधीर `चिड़िया` को आहत करता है तो वह चोट स्त्री की एक कल्याण कारी नियति ही है ।`मन वृन्दावन` में हिरनमयी ने इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है ।-`जीवन का हर यथार्थ जब हमें तीर से मारता है तब वह घाव से पहले उसी कृष्ण पर ही लगता है । उनके घाव कितने हैं- कितना बड़ा दर्द है उनका, यही सत्य हमारे दु:ख दर्द को सहन करने की शक्ति और साहस देता है । हर चोट सुन्दर पर लगती है ।[१] समाज में नारी का यह सौन्दर्य तत्व इसलिये अनिवार्य है क्योंकि वह पुरुष को मूल्यहीन होने से बचाता है, उसे कुरूप होने से बचाता है ।[२] - हिरनमयी का यह कथन अरविन्द और सुधीर के चरित्र को समझाने के लिये उपयुक्त है । नारी के सान्दर्य की उपेक्षा अरविन्दको मूल्य-हीनता से जोडती है जबकि सुधीर में सामाजिक मूल्यों को भरती है । सुधीर का मूल्यों से जुड़ना जीवन- वास्तव में जुडना है । जीवन वास्तव से जुडने केलिये सुधीर सपाट बयानी का माध्यम ग्रहण करता है, जबकि अरविन्द इस वास्तव को पकडने के असफल प्रयत्न में चित्रों, बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम को ग्रहण करता है । यहां यह कहा जा सकता है कि अरविन्दके सृजन में डा० लाल इस समय तक काव्य-विधान के आधुनिकता के उस प्रथम दौर से गुजर रहे थे जिसमें चित्रात्मकता और बिम्बात्मकता की प्रधानता थी । सुधीर के सृजन में उन पर आधुनिकता के उस दौर का प्रभाव दिखायी देता है जिसमें सपाटबयानी का प्रभाव था ।[३] निस्संदेह इस प्रकार की विविधोन्मुखी आधुनिकता में जहां सुधीर सामाजिक परम्पराओं से एक नये

१- मन वृन्दावन- पृ० ६३

२- वही- पृ० ६४

३- आधुनिकता और हिन्दी साहित्य- पृ० ४४

स्तर पर जुड़ता है वहां अरविन्द परम्पराओं से ही टूट जाता है । इसीलिये सुधीर समाज केलिये एक दिशा संकेत देता है जबकि अरविन्द में ऐसा कोई दिशा-दर्शन नहीं मिलता ।[१]

सुधीर के गठन में डा० लाल का वह लीला दर्शन पूर्वाभासित होता है जो दो दशक बाद के उनके नाटकों में स्पष्ट रूप लेकर समक्ष आया था । एक ओर अरविन्दजितना ही अधिक रिजर्व है, सुधीर उतना ही रिलेक्स्ड होकर सामने आता है । वह नाटक को लीला के रूप में खेलता है- ऊपर ऊपर से एक प्रकार का फक्कड़पन किन्तु अन्दर से सामाजिक और वैयक्तिक अनेक प्रश्नों को एक गम्भीर व्याख्या और नया अर्थ देते हुए । उसके अनेक कथन ऊलजलूल थियेटर के प्रभाव को प्रदर्शित करते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु वे गूढ़ अर्थमूलक हैं । उन अर्थों का सम्बंध काल्पनिक जगत से नहीं प्रत्युत इसी जगह से है- इसीलिये गंगाराम के गीत- `उड़जा हंसा अपनि मुलुक को, अब इहां तुमरा कोई नहीं ` को सुनकर वह कह उठता है-`क्यों नहीं ? यहीं तो सब कुछ है ।` उसके व्यक्तित्व में आनन्द - मूलकता है क्योंकि वह परम्पराओं का पालन कर जीवन का आनन्द प्राप्त करता है ।

मीनाक्षी और सुजाता इस नाटक के दो अन्य प्रमुख चरित्र हैं और वस्तु स्थिति में वे मादा कैक्टस हैं जो अरविन्द जैसे नर-कैक्टस को सुखाने वाली हैं और जिनसे अरविन्द हमेशा बचता रहा है । अरविन्द को हमेशा दोनों से भय रहा है । उसे यह भी भय है कि उनके व्यक्तित्व का कांटा कहीं उसे चुभो न दें । यही कारण है कि एक के साथ वह दाम्पत्य का निर्वाह न कर पाकर उससे तलाक ले लेता है और दूसरे से एक प्रकार का अस्पृश्य प्रेम कर केवल उसकी प्रेरणा ग्रहण

१- आधुनिकता और हिन्दीसाहित्य- पृ० २१६

करता रहता है । एक ओर सुजाता के लिये अरविन्दका तलाक एक प्रकार से शुभ सिद्ध होता है क्योंकि वह सुख नहीं पाती । दूसरी ओर, मीनाक्षी के प्रति अरविन्द का वायवीय प्रेम उसे क्षय ग्रस्त बनादेता है, `नर कैक्टस` के सम्पर्क में आकर `मादा कैक्टस` सूख जाती है । अन्य शब्दों में वैज्ञानिक अवधारणाएं मानवीय प्रसंग में उलटी सिद्ध हो जाती हैं । यही नहीं, मीनाक्षी तो मानसिक रूप से स्वयं को `बेरन`(Barren) समझने लगती है ।- यथार्थ में पत्नीत्व और मातृत्व की प्राप्ति का अभाव उसे मोहपूर्ण कल्पना में छोड़ देता है , उसे अनाथालय केबच्चों और उनके संगीत से लगाव हो जाता है । उसकी यौन-अतृप्ति इन रम्य कल्पनाओं को सफेद घोडे के पीछे दौडते बच्चों में त्राण पाती है । ऐसा लगता है , अरविन्द से जब उसे उसका प्राप्य नहीं मिलता है तो वह इसकी क्षति-पूर्ति कल्पना में स्वयं को डुबो कर करती है । उसमें विद्रोह अवश्य है किन्तु उसकी मुखर अभिव्यक्ति नहीं है- कहीं है भी तो असमान्य परिस्थितियों में, उन्माद की अवस्था में । इसीलिये मीनाक्षी का अरविन्द के प्रति विद्रोह सीधे प्रकट न होकर `अबला` का बलहीन विद्रोह बनकर रह जाता है । इसका कारण यह भी हो सकता है कि वह अरविन्द द्वारा निर्मित पौरुष के व्यूह में जकड़ी है । दूसरी ओर, सुजाता परित्यक्त होकर अरविन्द से आगे बढ जाने का हौंसला भी रखती है । इसीलिये उसका अरविन्द के प्रति विद्रोह अरविन्द को अन्दर तक जाकर आहत करता है । वह मीनाक्षी की भांति समान्तर रेखा ही न बही रहकर अरविन्द से टकराने वाली वक्र रेखा बन जाती है । वह मीनाक्षी की तरह क्षयग्रस्त होकर नि:शेष नहीं हो जाती- अपितु परित्यक्त होकर मिस दिवाकर बन जाती है, वैसे ही जैसे विष्णु प्रभाकर के नाटक `डाक्टर` की मधुलक्ष्मी अपने पति इंजीनियर सतीशचन्द्र से परित्यक्त होकर डा० अनीला बन जाती है । इससे विपरीत मीनाक्षी तो मानसिक व शारीरिक रूप से घुलती हुई ठीक इसी मानसिक स्थिति में पल रही, अश्क के नाटक `कैद` की अप्पी बन जाती है । अप्पी में अपने प्रेमी दीलिप कोष को न पाने का अभाव है और मीनाक्षी में अरविन्द को न वरण करने की वेदना ।

मीनाक्षी में यह अभाव उसके व्यक्तित्व में एक ग्रंथि को जन्म देता है- पुरुष द्वारा असन्तुष्ट नारी जो अन्दर और बाहर से टूट चुकी है । यहीं वह फिर अश्क के ही नाटक 'भंवर' की शिक्षिता युवती प्रतिमा से तुलनीय हो जाती है जो नीलाभ से प्रेम तो करती है किन्तु उसका प्रतिदान उसे नहीं मिलता । सुजाता अरविन्द द्वारा प्राप्त उपेक्षा को मीनाक्षी की भांति भुलाकर कुंठित होने की स्थिति स्वीकार न कर दूसरा रास्ता अपनाती है । अवश्य ही जब तक वह पत्नी रहती है, तब तक वह अरविन्द की दासी बनी रहती है । वह कहती भी है- 'आपकी कला मुझसे श्रेष्ठ है, मुझे आप बेशक छोड़ सकते हैं ।[१] यहां विद्रोह नहीं बल्कि हर स्थिति का स्वीकार है । किन्तु जैसे ही वह अरविन्द से तलाक प्राप्त कर सामाजिक बन्धनों से मुक्ति पाती है, वह पुरुष के अहं के विरुद्ध एक रचनात्मक विद्रोह की ओर बढ़ जाती है, यह उसका प्रगतिशील कदम है । जब तक विवाह का व्यूह उसके चारों ओर है, जब तक वह पत्नी है, तब तक वह दासी है- संघर्ष तो बाहर होकर होता है । मीनाक्षी अपने प्रेमिका का व्यूह नहीं तोड पाती- वह व्यूह के अन्दर ही मौन संघर्ष करती रहती है । यदि वह इस व्यूह के अन्दर चलने वाले मौन संघर्ष से अरविन्द को पराजित कर सकती तो निश्चय ही वह सुजाता से कहीं अधिक प्रभाव डालती लेकिन ऐसा वह नहीं कर पाती ।

यहीं एक प्रश्न उठता है कि क्या मीनाक्षी असफल सुजाता और सुजाता असफल मीनाक्षी कही जा सकती है । निस्संदेह सुजाता का सा विद्रोह मीनाक्षी के पास नहीं है और मीनाक्षी का सा समर्पण सुजाता के पास नहीं है । तब प्रश्न उठता है कि वर्तमान समाज में नारी का वास्तविक रूप क्या होनी चाहिए ? मीनाक्षी का समर्पण तब तो सार्थक कहा जा सकता जब वह अरविन्द के अहं को उसी

१- मादा कैक्टस- पृ० ३१

प्रकार विगलित कर देता जैसा सूका का उत्सर्ग भगौती को करता है । लेकिन यहां ऐसा नहीं है । कला के पिरामिड के साथ-साथ सुजाता और मीनाक्षी दोनों का व्यक्तित्व उसमें दब गया है । ऐसे में सुजाता का सन्तुलित रचनात्मक विद्रोह आवश्यक हो जाता है । उसमें स्त्री की बलहीनता की आत्म स्वीकृति भी है और उससे उबरने का आत्म विश्वास भी । यही विश्वास उसे समीक्षक(आत्म व पर) का वर्चस्व प्रदान करता है । जीवन के इसी यथार्थ चरित्र की आज के पुरुष प्रधान समाज में आवश्यकता है- यही कारण प्रतीत होता है कि नाटक के प्रथम संस्करण की भांति नवीन संस्करण में सुजाता फ्लेश-बेक में नहीं आती बल्कि प्रत्यक्ष आती है और किसी के सामने रोती भी नहीं । उस जैसे चरित्र को रोना शोभा भी नहीं देता क्योंकि उसमें क्षय की ओर पहुंचता समर्पण या उत्सर्ग नहीं बल्कि विद्रोह है, चुनौती है और अस्वीकार है । उसमें मनोबल है जिसके कारण वह अरविन्द के स्तर तक उठती है, जबकि मीनाक्षी समान धरातल पर होने पर भी विद्रोह नहीं कर पाती । यहां एक सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि यदि सुजाता में इतना ही मनोबल था तो वह मिसदिवाकर के रूप में अरविन्द के समक्ष क्यों आयी ? क्यों नहीं वह प्रत्यक्ष अरविन्द से बात कर पायी ? यहां सुजाता के इस प्रकार मंच पर आने के पीछे कारण वस्तुगत कम, शिल्प या फार्मगतअधिक है । जैसा कि स्वयं डा० लाल का कहना है- टेढ़ी बात को समझाने के लिये टेढी भाषा आवश्यक है, वैसे ही कुद्मवेशी सुजाता का आगमन अरविन्द जैसे जटिल व्यक्तित्व को गहराई से आहत करने के लिये आवश्यक है । इसे डा० लाल ने नाटकीय कौशल व औत्सुक्य के निष्पादन के लियेही रखा प्रतीत होता है । इस प्रकार से आहत करने का मनोबल मीनाक्षी नहीं जुटापाती । वह तो बस अपने प्रेमी की रचनात्मक शक्ति के उत्थान में समर्पित हो जाती है । - मल्लिका की भांति जो कालिदास को इस सीमा तक प्रेम करती है कि अन्त तक वारांगना बन जाने के उपरांत उसी के प्रेम की वर्षा में अषाढ़ के पहले दिन की भांति स्नान करना चाहती है- यथार्थ उसे वस्तुस्थिति को पहिचानने के लिये झकझोरता है(नाटक के अन्त में दस्तक देते विलोम की आवाज और रोती बच्ची का स्वर) किन्तु जैसे कालिदास ही उसके उन क्षणों की निधि बन जाता है ।

सुजाता का चरित्र अन्ततः जैसे मीनाक्षी पर हावी हो जाता है । वह सुजाता द्वारा आत्म बोध पाती है- मीनाक्षी अपने चित्र लेकर अरविन्द के घर से जाने लगती है । आज जैसे उसे अरविन्द का खोखलापन मालूम हो चुका है । उसे खांसी आती है जो उसे अरविन्द के प्रति दान में मिली है । वह सम्हल कर उठती है- अरविन्द के संपर्क में आकर उसका स्वाभिमान भी लडखडाया था ।लेकिन अब वह सम्हल चुकी है । इन्हीं रंग निर्देशों के साथ जब अरविन्द के गंगाराम को सम्बोधित ये सम्वाद समक्ष आते हैं तो मीनाक्षी पर सुजाता का प्रभाव पूर्णतः स्पष्ट सामने आता है -`गंगाराम, यहां की मादा कैक्टस कहां गयी ? (गंगाराम आता है) बोलो, कहां है ? वही औरत तो नहीं ले गयी ?--- कहां है वह मादा कैक्टस ?`[१]

`मादा कैक्टस` में दद्दा और गंगाराम अरविन्द के चरित्र को स्पष्ट करने में सुधीर की सहायता करते हैं । गंगाराम नाटकीय गंभीरता को और उसमें उत्पन्न तनाव को दूर करने में सहायक है । वह संस्कृत नाटकों के `विट` का स्मरण दिलाता प्रतीत होता है- अपनी परोपजीविता और कहीं-कहीं आत्म-श्लाघा के संकेत के कारण ।[२] उसे नाटक में प्रकरि का नायक माना जा सकता है । दद्दा का मंच पर अवतरण सुधीर की अरविन्द के प्रति की गयी स्थापनाओं को पुष्ट करने व उन पर अपने सामाजिक जीवन के लम्बे अनुभवों की छाप लगाने के उद्देश्य से किया गया है । उनकी अनुपस्थिति से सुधीर के कथन केवल युवक का उन्मत्त प्रलाप बनकर रह जाते और उनका प्रभाव ही समाप्त हो जाता ।

नाट्य-सृजन की अनिवार्यता का दूसरा पक्ष है नाट्य-भाषा-केवल

१- मादा कैक्टस- पृ० ५४

२- वही- पृ० १४

भाषा इसलिये नहीं क्योंकि उसे दर्शकोन्मुख होना है, नाट्य-वस्तु-के- वस्तु के सम्प्रेषण के लिये पुल का कार्य करना है और दर्शकोन्मुख होने के लिये उसे सरल होना है । इस सन्दर्भ में 'मादा-कैक्टस' की भाषा को लक्ष्य करें तो निराशा होती है । डा० लाल का नाटक की सम्प्रेषणीयता सम्बंधी यह कथन विरोधी लगने लगता है- '----- पर इस रचना में सृजन की ईमानदारी बुनियादी बात है और इस बुनियादी अनुभूति बात का मतलब है अपने वास्तविक पर यथार्थ जीवन के स्तर से जुडना और उनकी अनुभूति देना । इसके बिना नाटक बाहर से कितना आकर्षक, प्रयोगधर्मी होते हुए भी निर्जीव कंकाल मात्र रहेगा । जीवन का यथार्थ अन्वेषण और उसकी परिणतियों को उनके अपने प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध करना ही मौलिक नाट्य-सृजन है । यही नाट्य का सच्चा अर्थ है- जिसका अनुभव दर्शक रंगशाला में पाता है । यही अर्थ स्वभावत: तब विकृत हो जाता है जब हम इसे बाहरी परिणतियों से सम्बद्ध करते हैं । फिर तो अर्थ के विकृत होते ही पदार्थ या रचना का जीवन ही नष्ट हो जाता है ।[१] सृजन के प्रति ईमानदारी निभाने के लिये 'वास्तविक पर यथार्थ जीवन से जुडना और उसकी अनुभूति देना' आवश्यक है और इसके लिये माध्यम है भाषा । जब भाषा ही अयथार्थ और अरविन्द के प्रेम की तरह वायवीय है तो वह दर्शक तक सम्प्रेषित होकर उसे अभिनेता, उसमें निहित चरित्र और उस द्वारा नाटक के मूल प्रश्न तक पहुंचने में कैसे सफल हो सकती है ? जीवन के प्रकृत अर्थ को समझाने में अप्रकृत भाषा का प्रयोग अनुपयुक्त है । निस्संदेह 'मादा कैक्टस' की भाषा अपने अप्राकृत गुणों(प्रतीक, बिम्ब, संश्लिष्ट और गुम्फन) के कारण नाटक को आकर्षक और प्रयोग धर्मी बनाती है किन्तु वह पाठ्य स्तर पर ग्राह्य हो सकती है, आदर्श न के स्तर पर नहीं । इस रूप में भाषा में प्रच्छन्न अर्थ इसके अप्राकृत अर्थवाली बाहरी परिणतियों से जुडकर नाटक की वह जीवनी शक्ति समाप्त नहीं तो क्षीण कर सकती है जो नाटक की रंगमंच

और रंगमंच

१- आधुनिक हिन्दी नाटक- पृ० ३५

की आवश्यकता है । `मादा कैक्टस` में यदि जीवनीशक्ति(जिसे अभिनयात्मिका वृत्ति कहा जाता है) तो वह उसमें निहित कार्य तत्व के कारणअन्यथा भाषा ने तो इस नाटक को दर्शकों के लिये दुरुह करने में कोई कसर नहीं उठा रखी है । भाषा के ये अप्राकृत तत्व नाटक के शब्दों व वाक्यों में अनेक स्थानों में देखे जा सकते हैं - बन्द मुट्ठी, हसीन फूल, स्वप्न, फल, कीड़ा, मुर्गाबी, मादा-~~और~~- तोती, अरविन्द का अहाता और बन्दूक का फायर, चिडिया, शिकार, शिकारी, और बन्दूक, मादा और नर कैक्टस, `बाहर कांटे, भीतर रस, सफेद घोड़ा, अनाथालय का संगीत, बंगले का फाटक, सफेद घोडे के पीछे दौडते नन्हें बच्चे, घोडे का दुम दबाये भागना, मुंह सीधा शून्य में तना होना, बच्चों का घोडे से तेज भागना, घोडे का बच्चों को रौंदना, बच्चों का हवा में उड़ना, मिस कपूर को बेबी पसन्द न होना, मीनाक्षी के मुंह से ब्लड आना, मीनाक्षी जी, `आपकी यात्रा की शुरुआत बड़ी थी----आपके बनाये हुए ये नंगे शिशु, वाह । दरअसल यही क्रियेशन है । व `यहीं से रचना की जगह बनावट शुरू होती है, चमगादड़ मीनाक्षी की खांसी, सम्हल कर उठना, अपने चित्र लेना और तेजी से प्रस्थान, `गंगाराम ! यहां की मादा कैक्टस कहां गयी ? बोलो कहां है ? वही औरत तो नहीं ले गयी ?---कहां है वह मादा कैक्टस ?`, सुधीर द्वारा अरविन्द को `कमल`, `भौंरा` कहना, मीनाक्षी के फैफड़ों की तस्वीर, हिरन एक चिड़िया है, `इस जंगल में जहां केवल बबूल कैक्टस-बेरी और कंटीले वृक्षों, पौधों, झाड़-झंखाडों से पूरा आसमान भरा हो, जहां सब कुछ बाड़ों, क्यारियों, खेतों, धर्मों , अधिकारों में बांट और बांध दिया हो, जहां नीचे सांप, बिच्छू, दीमक, काकोच से एक इंच पृथ्वी खाली न हो, जहां की हवा में अनाथालय के गीत, भूत-प्रेतों की सांसे हों- वहां के आसमान में चमगादड़ नहीं तो क्या हंस उड़ेंगे ? , नीलाम का बाजा, शब्द और एक्शन, वेजिटेरियन, लाश, सजी हुई अर्थी । इतने सारे प्रतीकों को रखकर डा० लाल को भी इनसे बोझिल हुए नाटक की दुरुहता को अनुभव किया है और उसके निराकरण के लिये जो स्थापना की है, वह भी केवल वाग्जाल ही है और स्वयं को जस्टीफाई करने के लिए दी गयी सफाई-`आप

कह सकते हैं कि अजी, इतनी प्रतीक ! प्रतीक की भाषा कौन समझे ? पर मैं कहता हूं, प्रतीक की अपनी कोई अलग भाषा नहीं होती, प्रतीक तो स्वयं नाटक की प्रकृत भाषा और सहज बोल है- ऐसी भाषा जो हम नित्य प्रति के जीवन में बोलते हैं । चेतन-अचेतन रूप से जिन्हें हम सम्प्रेषणीयता और बोध तत्व के माध्यम से बनाते हैं । इस तरह ये प्रतीक हमारी अभिव्यक्ति के जीवन्त आधार हैं - अत: हमारे व्यक्तित्व के अंग हैं, जैसे स्वप्न अंग हैं ।[१] इन प्रतीकों को डा० लाल ने शब्दों का स्थानापन्न, माना है (तथ्य को शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक सीधे और शक्तिशाली ढंग तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत करना) - इस रूप में उन्होंने इन प्रतीकों को कोलाज भाषक के रूप में देखा है । निश्चय ही प्रतीक स्वयं में निहित दृश्य-बिम्बों के कारण भाषा को पारम्परिक रूप से हटाकर विखण्डन की प्रक्रिया तक ले जाते हैं । - उस सीमा तक जहां प्रतीक दर्शकों के संवेगों का स्पर्श कर लेते हैं किन्तु यह सीमा यथार्थ से इतनी दूर है कि उस तक पहुंचने के लिये एक लम्बे समय का व्यवधान आवश्यक होता है । दर्शक के संवेगों का स्पर्श कर उसे संवेदनशील बनाने में यह प्रतीक-भाषा इसे लम्बे अन्तराल के कारण `चुक` जाती प्रतीत होती है । रंग-अनुष्ठान में जहां रंगशाला में बैठे दर्शकों पर नाटक का तत्काल प्रभाव नाटक की सफलता कीकसौटी होता है वहां `मादा कैक्टस` जैसा नाटक असफल हो जाता है । ऐसे में आवश्यकता ऐसे दर्शकों की होती है जो प्रतीकों की भाषा को सुनकर संवेदना के स्तर पर उसका चर्वण करने की सामर्थ्य रखते हों और उससे हुए बोध को संचित कर आगे से आगे इसी प्रक्रिया को बढाते जांय । परिणाम यह होगा कि प्रतीकों से ग्रहण किये गये भिन्न-भिन्न बोध अन्तत: दर्शक के मस्तिष्क में एकत्र हो जायेंगे जिन्हें वह अपनी वैयक्तिक प्रतिभा से संयोजित कर सकेगा और तारतम्य में बैठा सकेगा । `मादा-कैक्टस` की भाषा समस्या आदर्शन की समस्या से जुड़ी है और उसका समाधान `क्लास` दर्शक ही कर सकता है, `मास` दर्शक नहीं ।

१- मादा कैक्टस- पहले संस्करण से ।

नाटक में शब्द कीस्थानापन्नता का एक अन्य आयाम है प्रकाश व ध्वनि संयोजन एवं रंग-निर्देश । इनका विवेचन यथा स्थान होगा । यहां इतना कहना पर्याप्त है कि ये नाटक की भाषा को एक विशाल क्षेत्र तक फैलाने वाले हैं - भाषा की परिभाषा को शब्दों से भी आगे ले जाकर शब्दहीनता तक विस्तार देकर ।

`मादा कैक्टस` की भाषा नाटकीय सम्भावनाएं लिपी हैं । भावों के अनुरूप भाषा का उतार-चढाव उसे नाट्यत्मकता से जोड़ता है । सुधीर के कथनों में भाषा पूर्णत: `एक्शन` लिये है और कहीं-कहीं `क्लुट्टी` भी है जबकि अरविन्द के कथन की भाषा रिजर्व और उपयुक्त गाम्भीर्य लिये हुए है । मन:स्थितियों को अभिव्यक्ति देने में भाषा सक्षम है । ऐसा प्रतीत होता है जैसे चरित्रों की आन्तरिक भावनाएं ही शब्दों का रूप ले रही है । मीनाक्षी के ये शब्द उसके अन्तर की इच्छाओं को प्रकट करते हैं - इस प्रकार भाषा भावों का प्रतिरूप बनकर समक्ष आती है ।

मीनाक्षी- पता नहीं । ---ओह, यह कैक्टस कितना प्यारा है ?

अरविन्द- प्यारा नहीं, प्यारी । यह मादा कैक्टस ।

मीनाक्षी- ओह, चमत्कार । रियली ब्यूटीफुल ।

अरविन्द- आप लोग अपनी प्रशंसा करने में चूकती नहीं ।

मीनाक्षी- लगता है , यह जैसे कोई नन्हा सा बच्चा हो । जी होता है इसे लाल-लाल कपड़े पहनाऊं ।

अरविन्द- आपकी उस पैंटिंग्स का क्या हुआ ?

मीनाक्षी- कौन सी ?

अरविन्द- वही भागता हुआ सफेद घोड़ा ।

मीनाक्षी- मुझे वह आयडिया पसन्द नहीं ।

अरविन्द- वह आयडिया मेरा था इसलिये ।

मीनाक्षी- नहीं । भागता हुआ---वह भी घोड़ा---वह भी सफेद---कुछ समझ नहीं सकी ।

अरविन्द- फिर आप कब तक बच्चों की तस्वीर बनाती रहेंगी ?
मीनाक्षी- जब तक मैं वही अनुभव करती रहूंगी ।[१]

कार्य, दृश्य और कथन- ये तीन नाट्य-कला के आधार होते हैं । नाट्य-सम्वादों की विवेचना करते समय इन तीनों के परस्पर समंजन की दृष्टि प्रमुख हो जाती है । दृश्य की प्रकृति को समझते हुए कार्यमूलक कथन (या सम्वाद) नाटक की रंगमंचीयता की प्राथमिक शर्त होती है । `मादा कैक्टस` के सम्वादों में दृश्यों के अनुसार कार्यमूलकता देखने को मिलती है । वे दृश्य जहां अरविन्द और सुधीर अरविन्द और मीनाक्षी या अरविन्द और सुजाता के मध्य तनाव की स्थिति का परिचय दिया जाता है सम्वादों में उसी के अनुसार आन्तरिक गति का समावेश हो जाता है जो कार्यमूलक है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

अरविन्द- ये चित्र तुम्हें यश, नाम देंगे ।
मीनाक्षी- नहीं ।
अरविन्द- मैं तुम्हारे साथ दिन रात काम करूंगा ।
मीनाक्षी- मुझे आसरा नहीं चाहिये ।
अरविन्द- तुममें आश्चर्यजनक प्रतिभा है ।
मीनाक्षी- बस !
अरविन्द- मैं तुमसे ब्याह करने को तैयार हूं ।
मीनाक्षी- मैं कोई चिड़िया नहीं ।
`(विराम।)

यहां अरविन्द और मीनाक्षी के मध्य खिंचा लम्बा मौन दृश्य के तनाव का चित्रण करता है और नाटकीय कार्य व्यापार ऊपर से स्थिर हो जाने पर भी

१- मादा कैक्टस- पृ० २५

`मादा कैक्टस` के सम्वाद भावानुरूप होने से हारमोनिक बन जाते हैं जो नाटक को लय प्रधान बनाते हैं ।

`मादा कैक्टस` में उपरि वर्णित कतिपय कमियों के उपरान्त उसे रंगमंच से जोडने का एक तत्व है उसमें निहित रंगमंच का काव्यत्व और उसकी अभिव्यक्ति के लिये कार्य का अनुकरण करने की सम्भावनायें । यहां भी सुधीर व अरविन्द के द्वारा उनकी `मानवीय ईहा` के प्रयत्न दिखायी देते हैं । बन्द मुट्ठी के रहस्य की अपनी-अपनी व्याख्या और स्त्री-पुरुष सम्बंधों के प्रति अपनी -अपनी स्थापनायें उनके चरित्र में प्रच्छन्न वे ईहायें हैं जिनकी पूर्ति के लिये वे संघर्ष करते हैं । यह संघर्ष उनके कार्यों में, उसके अनुकरण मूलक प्रत्यक्षीकरण में दिखायी देता है । सुधीर और अरविन्द के नाटकीय कार्य व्यापार में इस ईहा-प्रयत्न को कतिपय भिन्नता के साथ लक्ष्य किया जा सकता है । सुधीर का प्रयत्न-`मादा` और `नर` के मध्य समन्वय की स्थापना करने का उसका प्रयत्न नाटक में आगे बढकर वह करता है । वह अरविन्द के जीवन-दर्शन की एण्टीथीसिस तो बनता ही है, उसे आगे बढकर चुनौती देता है, उसकी कमजोरियों का पर्दाफाश करता है - `आप लोग क्यों ?---अकेला मैं-----। यह कहने की हिम्मत नहीं आपको, फिर क्या चित्र बनाते हैं ? जिस बिन्दु से रचना होती है, जब वहां मक्खी भरी और सड़ी-----।`[१] दूसरी ओर, अरविन्द का ईहा प्रयत्न उसके कार्यों में और उसके कथनों में उस जोश और विश्वास के साथ व्यक्त नहीं हो सकता जो सुधीर में होता है । इसके मूल में सुजाता के साथ उसका असफल दाम्पत्य सम्बंध है जिसके कारण अब मीनाक्षी के साथ उसके सम्बंधों में एक प्रकार की निरीहता ने जन्म ले लिया है । इसीलिये सुधीर की भांति वह आगे बढ़कर अपनी मानवीय

१- मादा कैक्टस- पृ० ३७

आन्तरिक आलोडन उत्पन्न करता है । इसी तनाव को अभिव्यक्ति देते हैं मीनाक्षी के ये सम्वाद जो कार्यमूलक तो हैं ही, अन्तर के क्षोभ को व्यक्त करने वाली भी । एक प्रकार से इन सम्वादों में भावों का रूपायन हो जाता है -

बाहर----बंजर धरती---शाम का वक्त है---हवा में एक काला चमगादड़ उड़ रहा है ।

अरविन्द- तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है ।

मीनाक्षी- वही चमगादड़ तुम हो !

अरविन्द- मीनाक्षी ! मीनाक्षी !

मीनाक्षी- तुम सोचते हो, मैं पागलपन का बहाना लेकर अपने सच को प्रकट करूंगी जैसे तुम आर्ट का बहाना लेकर अपने को छिपाये बैठे हो---जैसे वह सुजाता जो अभी मिसेज दिवाकर के रूप में अपने को छिपाकर स्वयं को प्रकट करने आयी थी ।[१]

इन सम्वादों में अधूरे वाक्यों, डाट-चिन्हों और विस्मयादिबोधक चिन्हों के प्रयोग चरित्रों के भावावेग को प्रकट करते हैं । `मादा कैक्टस` के सम्वादों में भावावेगों का सम्बंध कतिपय सांकेतिक महत्व के शब्दों और वस्तुओं से जोड़कर दर्शकों में कल्पना और तर्क की शक्ति को उद्‌बुद्ध करने का प्रयास किया गया है । यह नाटक पर इब्सन का प्रभाव कहा जा सकता है जिसके लिये कहा गया है - 'The association ~~of~~ of emotions for which the realistic diologue could give but slight expression were evoked in the realistic diologue could give but slight expression were evoked in the spectator's imagination (like as cherry-orchard is omnipresent,it becomes the spirit which is central to the play and it's image in our minds enriches and deepens the words actually spoken[२].

१- मादा कैक्टस- पृ० ५२,५८

२- The theatre and Dramatic theory.P.148

ईहा को प्रकट नहीं करता । अपने स्थान पर ही खडे रहकर वह अवसर आने पर मुखर होने का प्रयत्न सा करते- करता प्रतीत होता है ।

ईहा के उपर्युक्त प्रयत्न ही जहां सुधीर कम के कार्य को गति और लय से भरते हैं, अरविन्द के प्रसंग में उस प्रवाह को नहीं पकड पाते । इसी कारण जहां अरविन्द कथा वस्तु को केवल कथोपकथन द्वारा बढाता प्रतीत होता है वहां सुधीर कार्य व्यापार द्वारा । यही कारण है कि प्रारम्भ में सुधीर का लम्बा आस कथन भी केवल कथोपकथनों का खेल नहीं लगता । प्रत्युत उसमें कार्यत्व की प्रेरणा उसे दर्शकों से बांधे रखती है । उसके कथन में क्षिप्रा कार्य तत्व दर्शक और अभिनेता के बीच कडी का कार्य करता है । सुधीर का नाटक से निकाल दिया जाना नाटक के कार्य तत्व और उससे उत्पन्न लय व गति का नाटक से उच्छेद करना है । सुधीर के क्रिया कलापों में क्षिप्रे इस गतिशील तत्व को डा०लाल ने इस प्रकार स्पष्ट किया है- 'नाटक में उसने (सुधीर ने) एक तीव्र गति चाही है क्योंकि वह शिकारी है, उसने किसी को शिकार होते हुए देखा है । उसके हाथ बन्दूक और पिस्तौल के अभ्यासी हैं, कुर्सी और रूमाल के नहीं।[१]

'मादा कैक्टस' की रंगमंच सम्बंधी संकल्पना में यों तो उपर्युक्त सभी तत्व उभरकरसामने आते हैंकिन्तु उसकी मूर्त अभिव्यक्ति होती है प्रोसिनियम आर्च के उस पार फैले उस स्थान से जो रंगशाला में बैठे दर्शकों से समीप आने के लिये धीरे-धीरे प्रोसिनियम आर्च के व्यवधान को समाप्त कर रहा है । सुधीर द्वारा दर्शकों के साथ जो अनौपचारिक सम्बंध नाटक के प्रारंभ में ही दर्शाया गया है- उसके मूल में बाक्स-मंच की अवधारणा को समाप्त करने का ही एक प्रयत्न है ।

१- मादा कैक्टस- भूमिका ।

`मादा कैक्टस` का दृश्य विधान इसी अपेक्षा को लेकर चलता है जिसमें जिसकी नाटक के यथार्थ को अधिकाधिक दर्शक तक सम्प्रेष्य बनाया जा सके । इसके लिये प्रारंभ में खुले मंच का विधान किया गया है । इसी कारण मंच पर प्रवेश करते ही दर्शकों के साथ उसकी सीधी बातचीत समीचीन प्रतीत होती है । यह ध्यातव्य है कि इस नाटक में थोडे से अन्तराल में मंच का रूप बदलता जाता है । इस प्रकार संपूर्ण नाटक में दो प्रकार की मंच योजना देखने में आती है- प्रथम, खुले मंच पर अयथार्थ प्रस्तुती(इसमें नाटक के प्रारम्भ के मंच पर प्रकाश आने से पूर्व के दृश्य उल्लेखनीय हैं। प्रकाश व ध्वनियों के प्रयोग मंच की अयथार्थता को अधिक गहन और बिम्बात्मक बना देते हैं । नाटक के अन्त में फिर प्रकाश का सुधीर पर सिमट जाना और अन्धकार में खडे नाटक के अन्य चरित्रों से प्रश्न करना व `कन्धों पर अर्थी को सजाये ` (केवल बोध के स्तर पर) अरविन्द, मीनाक्षी व सुजाता का निकलना रंगमंच पर एक `यात्रा` या जुलूस से निकलने का बिम्ब देते हैं और बिम्ब का यह बोध एक प्रकार से रंगमंच विस्तार की ओर संकेत हैं । नाटक के इस आदि व अन्त के मध्य के क्रिया- व्यापार रंगमंच के यथार्थ होने का प्रमाण देते हैं । ऐसा लगता है, नाटक में रंगमंच की अवधारणा स्पष्ट नहीं है । इस समय तक दर्शकों से अभुक्त रंगमंच को दर्शक तक पहुंचाने और अभिनेता द्वारा कही बात को उस तक सम्प्रेषित करने का प्रयत्न चल रहा था । निस्संदेह संक्रमण की प्रक्रिया से गुजरते इस नाटक व उसके रंगमंच का यह एक नया आयाम है ।

रंगमंच से नाटक को जोड़नेवाला अन्य महत्वपूर्ण तत्व है वातावरण । यह अनेक रूपों में प्रकट होता है जिसे निम्नांकित बिन्दुओं का सन्दर्भ प्रदान किया

किया जा सकता है - इस दृश्य-बन्ध, दृश्य-सामग्री, प्रकाश, पार्श्व संगीत, ध्वनि-प्रभाव आदि ।[१] रंगमंच पर अरविन्द के बंगलेकी सजावट, उस सजावट के दो मुख्य उपादान मादाऔर नर कैक्टस बार-बार नाटक में उत्तेजन भरते हैं । यह दृश्य-सामग्री (कैक्टस के पौधे) नाटक के व्यंजित भावों को पृष्ठ बल प्रदान करती है । बंगले की कलात्मक मेज कुर्सियां अरविन्द के चरित्र को उभारने के साथ साथ वातावरण के आभिजात्य को स्पष्ट करती हैं । दूसरी ओर सुधीर के हाथ का कैमरा-वायनाकुलर उसके `शिकारी` और `लक्ष्यवेधी` व्यक्तित्व को प्रकट करता है । द्रष्टव्य है यह है कि ये दृश्य सामग्री नाट्य-बिम्ब को उभारने वाली है । इस कारण बिना इसके नाटक की संकल्पना नहीं की जा सकती । इनके द्वारा चरित्र के विकास में भी सहायता मिलती है- `नानसेन्स, देखिये न, मेरे पास बन्दूक नहीं, वाइनाकुलर है ।-----और क्या करता-----शिकार,शिकारी और बन्दूक सबस्क प्वाइण्ट पर थे ।[२]

मे पश्चिमी जगत में गार्डन क्रेग और बर्टोल्ट ब्रेख्त के समय से और हमारे यहां लगभग स्वतंत्रता के आस पास नाटककार और निर्देशक की कल्पना को अधिक विस्तार देने, उसे लचीला करने और उसे बहु आयामी बनाने की दृष्टि से अयथार्थवादी रंगमंच की प्रतिष्ठा हुई और उसके प्रतीकवाद,अभिव्यंजनावाद, रूपवाद, निर्माणवाद आदि रूप प्रचलित हुए । इसके लिये मंच को केवल शब्द ही नहीं प्रत्युत शब्दातीत माध्यम प्रदान करने की दिशा में भी प्रयास हुआ। प्रतीकात्मक शब्द बन्ध, बिम्बात्मक नाट्य-भाषा, ध्वनि योजना और प्रकाश-योजना के वस्तु और कार्य सापेक्ष प्रयोग इसदिशा के मुख्य आयाम बने । इन सभी से

१- रंगमंच-एक माध्यम-कुंवर जी अग्रवाल-पृ० ३

२- मादा कैक्टस- पृ० १६

कार्य मूलकता की ओर बढ़ा । इससे अभिनेताओं को अपने अभिनय को सशक्त बनाने और गतिवान करने हेतु पूरक तत्व प्राप्त हुए । इस कारण नाटकीय वस्तु में जिस परिवर्तन की अपेक्षा और आवश्यकता अनुभव की गयी, उसे नेमिचन्द्र जैन ने इस प्रकार प्रकट किया है`------- पर गहराई में जाकर जिन्दथी को नाटक और प्रदर्शन की विषय- वस्तु बनाने के लिये, दृश्य-रचना में अधिक सूक्ष्म-संवेदन-शील कल्पना की, सर्जनात्मक दृष्टि की आवश्यकता थी, नाटक के पात्रों को अधिक व्यंजना पूर्ण और गहरी सार्थकता से युक्त परिवेश देने की आवश्यकता थी जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व और बाह्य के साथ उसके भौतिक तथा मानसिक सम्बंधों को केवल सूचित या परिभाषित न करे बल्कि उनकी परिणति को, कार्य-व्यापार मूलक नियति को सूक्ष्मता के साथ अभिव्यंजित करे ।[१] सूक्ष्म संवेदनशीलक कल्पना , पात्रों को व्यंजनापूर्ण और गहरी सार्थकता से युक्त परिवेश देने और सम्पूर्ण व्यक्तित्व व बाह्य के साथ उसके भौतिक व मानसिक सम्बंधों की परिणति को कार्य व्यापार मूलक नियति की अभिव्यंजना के लिये नाटक में प्रयुक्त प्रकाश,पार्श्व-संगीत व ध्वनि किस प्रकार पूरक हो सकते हैं,इसे `मादा कैक्टस` के सन्दर्भ में समझा जा सकता है ।

`मादा कैक्टस` में प्रकाश-योजनाकी सम्भावनाएं अनेक स्थानों पर मुखरित हुई हैं । प्रथम अंक के प्रारंभ में ही हल्के प्रकाश में सुजाता व मीनाक्षी का मूर्तिवत खडा होना और सुधीर का रोशनी में होना, इसी अंक में सफेद घोडे की कल्पना वाले चित्र की बात करते करते मीनाक्षी का उन्मादित हो उठना और लड़खड़ाकर गिरने के साथ ही मंच के प्रकाश का बुझ जाना, दूसरे

१- रंग दर्शन- पृ० ४८

अंक में अरविन्द और सुधीर के मध्य हुए सम्वाद के बाद उन पर से रोशनी का बुझ जाना और सुधीर(अकेले) पर उस रोशनी का लौटना और इसके बाद वही प्रथम अंक के आरम्भ की आवृत्ति प्रकाश-योजना के विविध प्रसंग हैं । सुधीर का रोशनी मैंहोना नाटक में उसके चरित्र की स्पष्टता को प्रतीकात्मक रूप में प्रकट करता है । मीनाक्षी और सुजाता का अन्धकार और प्रकाश के मध्य खडे होने के पीछे उनके जीवन में अरविन्द की उपस्थिति और उस अपस्थिति से उनके जीवन में आये आनन्द की शनैः शनैः निराशा में- परिणत होने की नियति प्रकट होती है । सफेद घोडे की कल्पनाशील अभिव्यक्ति के पीछे भी प्रकाश का सन्दर्भ लिया गया है । उन्माद की अंतिम अवस्थापर आकर अचानक प्रकाश का बुझ जाना मीनाक्षी की धीरे-धीरे मननि:शेष होती जाती कामनाओं के साथ प्रभावशाली तालमेल बैठाता है । प्रकाश का यह अचानक बुझ जाना मीनाक्षी के हृदय की संवेदना को पूर्ण गहनता के साथव्यक्त करता है । उसके मानसिक व्याघात प्रकाश के उपशत हो जाने से जैसे स्पष्ट हो जाते हैं । नाटक के अन्त में सुधीर पर अकेले रोशनी का लौटना व शेष का अन्धकार में डूब जाना नाटक में सुधीर के चरित्र को वैशिष्ट्य प्रदान करना है । प्रकाश के ऐसे प्रयोग अनेक स्थानों पर सम्भाव्य हैं । दूसरे शब्दों में, निर्देशक के लिये तदविषयक व्यापक प्रयोग क्षेत्र ये अंश देते हैं । - नाटक के अंतिम अंशों में सुधीर व अरविन्द का संघर्षपूर्ण सम्वाद, उत्तर-प्रत्युत्तर और उसमें निहित कार्यत्व को गतिशील बनाने की दिशा में बहुरंगी प्रकाश- योजना नाटक में प्रस्तुतीकरण के एक नये आयाम को अभिव्यक्त करती है । प्रकाश के दोनों उद्देश्य- चरित्रोद्घाटन और नाटकीय वस्तु का 'प्रोजेक्शन' (Projection) और इस प्रकार दृश्यत्व-बोध-'मादा-कैक्टस' में हल होते हैं ।

प्रकाश योजना के हीसमान ध्वनि वा पार्श्व संगीत की योजनाभी नाटक में कार्य और उसमें निहित लय को संगत देने का कार्य करती है । 'मादा कैक्टस' में

ऐसे स्थलों को निम्नांकित रूप में देखा जासकता है- प्रथमअंक के प्रारम्भ में पृष्ठ-भूमि से बजता हुआ नीलामी का बाजा, अरविन्द और मीनाक्षी के मध्य चलते सम्वादों के समान्तर अनाथालयों के बच्चों के संगीत का स्वर, दूसरे अंक में पुन: सुजाता के अरविन्द को आहत कर जाने के तुरन्त बाद अनाथालय के बच्चों का गीत। नीलामी का बाजासुधीर की बन्द मुट्ठी कीचीज कानीलाम करने की बात की भूमिका स्वरूप कहा जा सकता है । इस प्रकारयह संगीत सूच्य दृश्य का भी कार्य करता है । संगीत की दूसरी स्थिति उस समय है जब अरविन्द और मीनाक्षी के मध्य पौरुष के प्रश्न को लेकर विवाद हो रहा है और मीनाक्षी दृष्टान्त रूप मेंसुधीर को समक्ष रखती है । यहां मीनाक्षी अरविन्द के पौरुष को चुनौती देती प्रतीत होती है जिसमें पैशन का अभाव है, जो जीवनसे भागने वाला है, जीवन से अर्थात् दाम्पत्य से और उसकी परिणति गार्हस्थ जिसमें बच्चों कीस्थिति है । बच्चों के प्रति की गयी यह कल्पना ही विस्तार प्राप्त कर पृष्ठभूमि से आ रहे अनाथालय के बच्चों द्वारा गाये संगीत में उभरती है । यह संगीत अरविन्द और मीनाक्षी पर दो विपरीत प्रभावों की सृष्टि करता है और यही नाटक के content का अभीष्ट भी है । इस प्रकार यह संगीत नाट्य-वस्तु व चरित्रों के अन्तर तक को उघाड़कर सामने ला देता है । दूसरे अंक में यही संगीत मीनाक्षी को उसके नारीत्व की निरर्थकता का बोध देने लगता है । मीनाक्षी की वैवाहिक जीवन के प्रति स्वप्नजीविता जैसे पूर्ति के अभाव में इस संगीत की वेदना केसाथ तादात्म्य कर लेती है । यहां ध्यातव्य है कि इस नाटक में संगीत या ध्वनि के कार्यमूलक अनेक आयाम हैं लेकिन उस स्वतंत्र संगीत संयोजन द्वारा कहीं भी नाटकीय कार्य को आगे बढाने की दिशा में कोई रंग-संकेत नहींदिये गये हैं । लाल के परवर्ती नाटक 'कल्कि' में पार्श्व-संगीत द्वाराजैसे नाटक की कार्यमूलकता को गति दी गयी है, वैसे इस नाटक में नहीं । सम्भवत: यहां भी निर्देशक को नाटककार द्वारा स्वविवेक के आधार पर वैसा ही व्यापक व यथेच्छित क्षेत्र प्रदान करने की उदार नीति सामने रही हो जैसी कि प्रकाश योजना में। फिर भी

प्रयोगवादी रंगमंच (जोइस नाटक का मंच है) के लिये यदि प्रकाश व संगीत योजना के रंग निर्देश देने में डा०लाल उदारचेता बनते तो नाटक का स्वरूप अधिक स्पष्ट बनता । अन्ततः निर्देशक को दिशा देने का कार्य नाटककार का ही तो है ।

'मादा कैक्टस' पर उक्त एक समग्र दृष्टि हिन्दी रंगमंच के नवोत्थान पर एक दृष्टि कही जा सकती है । इस कृति के रचना व मंच पक्ष पर परम्परा से नवीनता की ओर संक्रमण देखने को मिलता है । इसी कारण संरचना और प्रस्तुती पक्ष में गुम्फितता और संश्लिष्टता का दोष आ गया है । इसी कारण यह नाटक एक विशेष दर्शक वर्ग की अपेक्षा करता है जिसमें इस नाटक के शब्द और उसमें संकल्पित नाट्य-बिम्बों को समझने कीसामर्थ्य हो । इसके अभाव में बिना पीछे देखे नाटककी वस्तु के साथ दर्शक का आगे बढ़ना कठिन हो जाता है ।

(३) सुन्दर- रस :

'सुन्दर रस' लाल का तीसरा सम्पूर्ण नाटक[१] है जिसका मंचन प्रकाशन से पूर्व ही नाट्य-केन्द्र, इलाहाबाद द्वारा ४ नवम्बर १९५८ को स्वयं डा०लाल के निर्देशन में हुआ था । भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित प्राप्त तृतीय संस्करण में इसे दो स्थानों पर क्रमशः प्रहसन और नाटक की संज्ञा दी गयी है किन्तु यह प्रकाशकीय विरोधाभास ही प्रतीत होता है, लेखक का विभ्रम नहीं । वस्तुतः यह प्रहसन ही है क्योंकि शास्त्र प्रणीत प्रहसनों के लक्षणों की कसौटी पर यह सटीक बैठता है ।

प्रहसन दशरूपकों में से एक है जिसकी चर्चा करते हुए आचार्य भरतमुनि ने

१- यहां 'सुन्दर रस' के लिये 'नाटक' शब्द का अर्थ अति व्याप्ति दोष से ग्रस्त है किन्तु यहां वह सामान्य उद्देश्य दृष्टि में ही प्रयुक्त है।

इसेदो प्रकार का माना है- प्रथम प्रकार के प्रहसन(जिसे वे शुद्ध प्रहसन कहते हैं) की व्याख्या करते हुएकहा गया है कि इसमें मस पाखण्डी व्यक्तियों के यथार्थ जीवन का चित्रण किया जाता है जो हास-परिहास से युक्त होता है । दूसरे प्रकार का प्रहसन (जिसे संकीर्ण प्रहसन कहा गया है) वेश्या,नपुंसक,विट, धूर्त आदि के माध्यम से सामान्य जनता के दुराचरण और पाखण्ड का वर्णन करता है । प्रहसन के उक्त प्रकारों की कसौटी पर `सुन्दर-रस` को कसा जाने पर वह शुद्ध प्रहसन की सीमा में आता है । कविराज के सुन्दर रस के सेवन द्वारा सुन्दर हो जाने का दावा और देवि मां का सुन्दर होने का आत्म दम्भ- दोनों ही कृति में पाखण्डी व्यक्तियों के यथार्थ जीवन का चित्र खड़ा करते हैं । कृति के अन्त तक देविमां के व्यक्तित्व में पाखण्ड और आडम्बर के चित्र कविराज की अपेक्षा अधिक विस्तार से उभरे हैं । निस्संदेह इस प्रकार के व्यंग्यपूर्ण चित्रण को हास-परिहास के संदर्भ में रखकर कृतिकार ने `शुगर कोटेड क्वीनेन` का स्वाद दर्शकों को देना चाहा है । धनंजय ने प्रहसन के लक्षणों का विस्तार करते हुए आडम्बरपूर्ण व्यक्तियों को केवल जाति-प्रताप के कारण पूज्य माने जाने की जो बात कहीं है, कविराज के संदर्भ में सटीक बैठती है । वे भी अपने ब्राह्मणत्व और गुरुपदकी गरिमा के कारण ही समाज में प्रतिष्ठित होने का अधिकार प्राप्त करते हैं । देविमां कविराज कीपत्नी होने के कारण ही आत्म प्रशंसा के दोष से मुक्त हो जाती हैं । शारदातनय ने प्रहसन के लक्षण स्पष्ट करते हुए उसमें केवल मुख और निर्वहण सन्धि होने के तथ्य का प्रतिपादन किया है । इस कसौटी पर भी `सुन्दर रस` सटीक उतरता है । मुख सन्धि का प्रमाण नाटक को प्रारम्भ करने हेतु विचित्र आस्वाद वालीसामग्री का समावेश होता है ।`सुन्दर रस` में प्रारम्भ से ही विचित्र आस्वाद वाली सामग्री की बहुलता मिलती है । यह सामग्री विवेचन दूसरे अंक में तक विस्तार पाता हैऔर तीसरे अंक से ही पूर्व की सामग्री के द्वारा `अपने ही बुने जाल मेंफंसे इस क्रिया-व्यापार के भोक्ता स्वयं कविराज `सुन्दर-रस` की अनुपयोगिता का रहस्योद्घाटन कर बैठते हैं । यही उदघाटन निर्वहण सन्धि की ओरसंकेत है । इस प्रकार मुख सन्धि के तुरन्त पश्चात निर्वहण सन्धि

पर कृतिकार ब्रेक लगा जाता है । प्रहसन की विशेषताओं में हंसी दिल्लगी का जो विशेष गुण होता है और उसी के परिप्रेक्ष्य में पात्रों द्वारा अधिबल, असत्य प्रलाप, व्याहार, मृदव इत्यादि का व्यवहार किया जाता है ।[१] 'सुन्दर-रस' में देविमां द्वारा विश्व में सुन्दर रस के व्यापार द्वाराआर्थिक क्षेत्र में स्पर्द्धा की बात करने के पीछे 'अधिबल' नामक विशेषता का संकेत मिलता है । सुन्दर रस द्वारा सुन्दर हो जाने की बात कविराज और देविमां के 'असत्य-प्रलाप' की ओर संकेत है । देविमां द्वारा पागलपन की अवस्था में कविराज के मित्र की हंसी उडाना और उन्हें भ्रम हतप्रभ कर देना 'व्याहार' नामकविशेषता की ओर इंगित है । देविमां के सौन्दर्य के आत्म-दम्भ को जैनाथ और शक्ति देव जैसे शिष्यों द्वाराअपनी गुरु-पत्नी की विशेषता समझकर स्वीकार करना 'मृदव' नामक विशेषता को प्रकट करता है ।

उक्त कसौटियों पर 'सुन्दर-रस' प्रहसन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । 'सुन्दर-रस' में आडम्बर पूर्ण चरित्र के रूप में देविमां कविराज की अपेक्षा अधिक केन्द्रीय बनाकर समक्ष आयी हैं । अत: प्रहसन की प्रमुख पात्रा होने का गौरव भी उन्हें दिया जाना समीचीन है । देविमां और उनके द्वारा कठपुतली की तरह बंधे नाचने वाले कविराज के माध्यम से कृतिकार हमारे आधुनिक समाज की एक हास्यास्पदतस्वीर प्रस्तुत करता है ।- सौन्दर्य-प्रदर्शन की जो भूख हम आज के समाज में देखते हैं और जो हमारी कुलीनता और नागरीयता का एक आवश्यक (परन्तु उससे अधिक सबही) अंग बन चुकी है । उस 'मिथ्या' अहं के मोह या भ्रमजाल को तोड़ना ही 'सुन्दर-रस' का उद्देश्य है । सुन्दरता का मिथ्या ~~मोह-या-भ्रमजा~~ अहं और पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ आडम्बर और फिर स्वयं द्वारा रचे छलावे में सभी को ठगने की नीति नैतिक मूल्यों का एक प्रश्न चिन्ह उत्पन्न करती है । ऐसी ही मूल्यहीनता पर यह प्रहसन एक प्रश्न उठाता है । अन्तत: कविराज द्वारा स्वयं द्वारा निर्मित 'सुन्दर -रस' के झूठे होने का

१- नाट्य-समीक्षा - डा० दशरथ ओझा-पृ० २२

रहस्योद्घाटन नैतिक मूल्य की रक्षा का संकेत करता है और तब यह प्रश्नन मूल्यों के परिमार्जन की एक शाश्वत यात्रा बनकर समक्ष आता है। इस यात्रा में सुन्दरता भी अन्ततः नैतिकता के प्रतिमान के अंग रूप में सामने आती है जब उसमें कविराज का स्व-विवेक और सुन्दर-रस के मिथ्या प्रचार से प्राप्त कटु अनुभव का समावेश होता है। कविराज द्वारा अन्ततः सुन्दर रस के मिथ्या प्रचार का रहस्योद्घाटन सौन्दर्य-बोध को सीधे नैतिक बोध से जोड़ता है- अन्यथा प्रारम्भ व मध्य तक तो देविया द्वारा सौन्दर्य की एक प्रकार से योगवादी व्याख्या की ओर ही रुझान दर्शाया गया है। विवेक और अनुभव द्वारा सौन्दर्य-बोध की इस मंजन कला को अज्ञेय जी ने 'मूल्यों में निरन्तर संस्कार' की एक सतत प्रक्रिया के रूप में देखा है।[1] स्वविवेक व संचित अनुभव द्वारा ही सौंदर्य और नैतिकता के प्रतिमानों को अन्योन्य बनाया जा सकता है। 'सुन्दर रस' के कार्य में प्रच्छन्न इस अभीष्ट को कविराज के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस पहिचान के अभाव में देविमा के सभी कृत्य भोंडे प्रदर्शन बनकर रह जाते हैं और उन्हें उत्थान देनेवाला नैतिक प्रतिमान विच्छिन्न हो जाता है। ~~इसीलिये उनका सौन्दर्य-प्रदर्शन तत्व से रहित होकर पुनः अज्ञेय जी के शब्दों में 'मायावी उज्यिाला'[2] बन जाता है।~~

'सुन्दर रस' का परिवेश, उसमें सामाजिक शिष्टाचार और वातावरण कविराज के कुलीन परिवार के संक्रमित होते जीवन मूल्यों का चित्र खींचता है। इस संक्रमण की प्रक्रिया में मूल्यावमूल्यन एक कटु यथार्थ बनकर उपस्थित होता है। सामाजिक व्यवहारों में क्रमशः एक खोखलापन दृष्टिगोचर होने लगता है। यही प्रस्तुत कृति पर नागर प्रभाव का ही द्योतक है।

1- आधुनिक हिन्दी साहित्य- अज्ञेय।

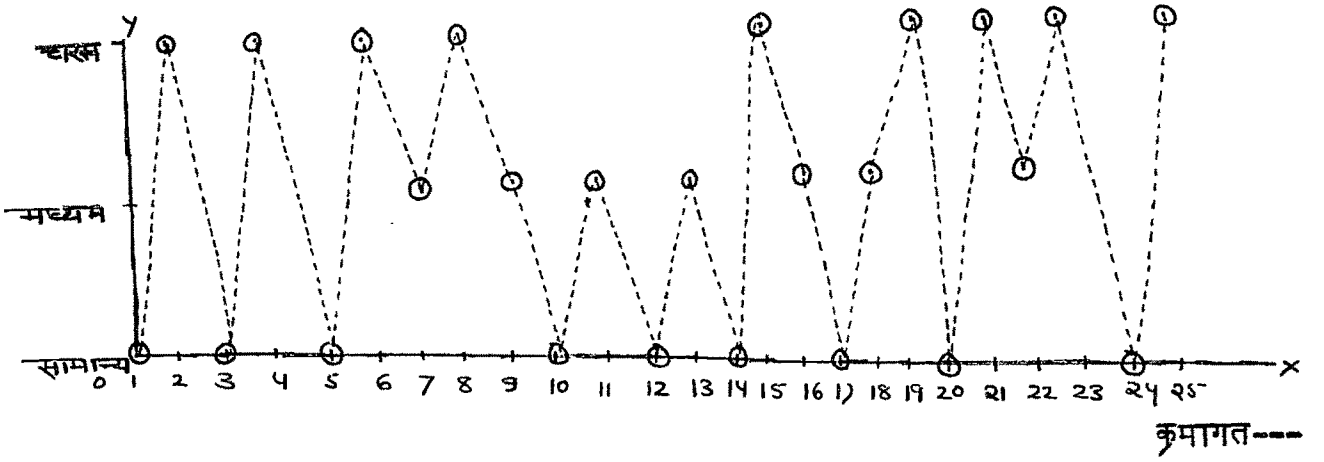
2-

'सुन्दर-रस' में नाटकीय कार्य ही प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है। वस्तु तत्व मात्र उसे आधार देने के लिये है। कविराज ने वर्षों के प्रयत्नों से सुन्दर रस नामक औषधि का निर्माण किया है जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि उसके सेवन से कुरुप व्यक्ति भी सुन्दर हो जाता है। कविराज की पत्नी देविमा पागल है और इस पागलपन के दौर में सम्पूर्ण घर के लिये समस्या बन जाती है। कविराज के शिष्य जैनाथ और शक्ति देव, नौकर सुमिरन और मित्र भट्टाचार्य- सभी को सुन्दर रस का सेवन करने की इच्छा है। वे स्वयं को सुन्दर बनाने के लिये कविराज की स्वीकृति प्राप्त करना चाहते हैं। किंचित कालक्षेप के बाद देविमा का पागलपन दूर हो जाता है। किन्तु कविराज द्वारा उन पर किये गये सुन्दर रस के तथाकथित प्रयोग से देविमा को अपने सौन्दर्य पर इतना गर्व हो जाता है कि वे सुन्दर रस के व्यापार के लिये स्वयं को माडल बनाकर प्रस्तुत करने में भी नहीं झिझकती। इसी मध्य शक्तिदेव, जैनाथ और सुमिरन देविमा की कृपा से सुन्दर रस प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। दूसरी ओर, सुन्दर रस का सेवन करने के उपरान्त वकील केदार सुन्दर नहीं हो पाता और इसी घटना का सहारा लेकर अपने आसपास के वातावरण में सौन्दर्य मूख देख अन्ततः कविराज घोषणा करते हैं कि देविमा पर सुन्दर रस के प्रयोग करने की बात मिथ्या है, 'सुन्दर-रस' औषधि ही मिथ्या है क्योंकि इसके सेवन से कोई व्यक्ति सुन्दर नहीं होता, अलबत्ता बुद्धि और विवेक को खोकर पागल अवश्य बन जाता है।

उक्त वस्तु की संरचना का सांचा केन्द्र से विस्तार की ओर है। प्रथम अंक में सुन्दर रस कीसमस्या घर परिवार तक सीमित रहती है। दूसरे अंक में वकील केदार तक फैलकर तीसरे अंक में सुन्दर रस के मिथ्या होने की सार्वजनिक घोषणा पर जाकर समाप्त हो जाती है। प्रहसन की अपेक्षाओं को पूर्ण करने के लिये नाटकीय कार्य में गतिशीलता तो अपने पूरे ओज पर मिलती है किन्तु वस्तु-तत्व की संरचना-पद्धति में विक्षेप उत्पन्न होता सा प्रतीत होता है। इसका कारण विचार तत्व की दुरूहता है।- वह एक साथ सौन्दर्य और विवेक, बुद्धि व नैतिकता

के प्रतिमानों को प्रस्तुत करना चाहता है। इस सामंजस्य को न बैठा पाने के परिणाम-स्वरूप वस्तु-विधान क्रम की रक्षा नहीं कर पाया है। प्रथम अंक में देविमां के पागलपन का चित्रण हुआ है जिसका रहस्य तीसरे अंक में खुलता है जिसके अनुसार देविमां के पागलपन का कारण सुन्दर रस का सेवनही था और यह कि देविमां सुन्दर रस के सेवन के पूर्व भी सुन्दर ही थीं। दूसरा अंक देविमां के पागलपन के दूर हो जाने को सूचना देता है। किन्तु स्वस्थ होने पर भी उनका सौन्दर्य अहं दूर नहीं होता है। जबकि देवि मां के पागलपन का कारण सुन्दर रस का सेवन ही था। पागलपन दूर होने पर सौन्दर्य-प्रदर्शन की भावना भी समाप्त होती चाहिये किन्तु वह बढ़ती है। नाटकीय कार्य-व्यापार की दृष्टि से देवि मां का यह उतार- चढ़ाव पूर्ण क्रिया कलाप उपयुक्त है किन्तु वह संरचना के गठन को शिथिल भी करता है- इसमें कोई सन्देह नहीं।

'सुन्दर रस' में सम्बंधित पात्रों का कार्य व्यापार ही महत्वपूर्ण है, उसमें प्रच्छन्न विचार धारा का महत्व है। पात्र केवल माध्यम का कार्य करते हैं। इस प्रकार पात्रों के बा बलाबल से मुक्त केवल कार्य- व्यापार से जो उतार- चढ़ाव मंच पर उत्पन्न होते हैं, वे किस प्रक्रिया से दर्शकों को चेतन बनाये रखते हैं, इसका मूल्यांकन निम्नांकित ग्राफ से अंकित किया जा सकता है -



अंक संकेत

1- कविराज द्वारा शिष्यों से सुन्दर रस के निर्माण की कथा कहना ।
2- पागल देवि मां का अचानक प्रवेश ।
3- सुमिरन के प्रयत्नों से देवि मां का मंच से प्रस्थान ।
4- देविमां का पुन: प्रवेश व फल वाले को आवाज देना
5- पुन: सुमिरन का प्रयत्न व देविमांका मंच से प्रस्थान ।
6- भट्टाचार्य के आगमन पर देविमां का फिर अचानक प्रवेश ।
7- देविमां का भट्टाचार्य से अचानक स्त्री सुलभ व्यवहार करना एवं कविराज की मानसिक व्यग्रता ।
8- अचानक देविमां का कविराज के स्वर में स्वर मिलाना व दौरे का प्रारम्भ ।
9- आंखों को बन्द किये भट्टाचार्य व देविमां का सलज्ज हो खड़े रहना ।
10- दूसरे अंक का प्रारंभ ।
11- कैदार द्वारा अपने ठगे जाने की शिकायत जैनाथ व शक्तिदेव से करना व शिष्यों द्वारा अपने गुरु के अपमान को सहन न कर पाना ।
12- देविमां (अब वे पागल नहीं रहीं) का आगमन ।
13- बीना द्वारा देविमां पर व्यंग्य ।
14- कविराज का यात्रा से घर लौटना ।
15- शिष्यों द्वारा सुन्दर रस की मांग पर कविराज का क्रोधित हो उठना।
16- कैदार व कविराज का आमना-सामना।
17- कविराज द्वारा कैदार को मुफ्त सुन्दर-रस का पान कराया जाना।
18- तीसरा अंक का प्रारंभ कविराज की व्यग्रता व देविमां द्वारा उन्हें समझाने का प्रयत्न ।
19- कविराज द्वारा सुन्दर रस के मिथ्या होने के रहस्य के भण्डाफोड़ का प्रयत्न ।
20- भट्टाचार्य का आगमन ।
21- भट्टाचार्य की उपस्थिति में कविराज द्वारा सुन्दर-रस को मिथ्या ठहराना।
22- कविराज की सुन्दर-रस के झूठे होने की आत्मस्वीकृति।
23- सुन्दर-रस का सेवन किये शिष्यों का कविराज की पुताई करना।
24- भट्टाचार्य व कविराज द्वारा देविमां को सबक सिखाने हेतु अभिनय ।
25- कविराज द्वारा पागलपन का अभिनय व देविमां द्वारा सुन्दर-रस के झूठे होने की स्वीकृति ।

बार-बार सामान्य से चरम और चरम से सामान्य को जाने वाली उक्त रेखाएं 'सुन्दर-रस' में दर्शकों की रुचियों के उतार-चढ़ाव को व्यक्त करती हैं। नाटकीय कार्य की यही सफलता है कि वह आस्वादन को ऋजु नहीं बल्कि स्पन्दनशील बनाकर प्रस्तुत करता है।

प्रहसन के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए 'सुन्दर-रस' में पात्र योजना केवल नाटकीय कार्य व उसमें प्रच्छन्न उद्देश्य का वहन करने के लिये हुई है। इसी लिये वे पात्र चरित्र की कोटि तक नहीं पहुंच पाये हैं। कविराज देविमा आदि ऐसे ही पात्र हैं। कविराज और देविमा- दोनों में कतिपय समानताएं होने पर भी एक मौलिक अन्तर है। दोनों ही सुन्दर रस के प्रचार के लिये झूठ का सहारा लेते हैं। यह झूठ दोनों को ~~मन~~ मध्यम पात्र की कोटि में ला खड़ा करता है। लेकिन जहां प्रश्न सुन्दरता के प्रतिमान के सम्बंध में है - दोनों में भेद उत्पन्न हो जाता है। 'सौन्दर्य प्रदर्शन की वस्तु नहीं' - बीना के इस कथन में कविराज की सहमति प्रच्छन्न है। कारण, ऐसा सौन्दर्य व्यक्ति को नैतिक बोध से विलग कर देता है, सौन्दर्य को हाट-बाजार में बिकनेवाली वस्तु बना देता है। दूसरी ओर, वह व्यक्ति जो सुन्दरता के मोहजाल में फंस जाता है, विवेक खोकर उन्मत्त हो जाता है। देवि मां के पागलपन के दृश्यों के पीछे कृतिकार का यही अभीष्ट मन्तव्य है। कविराज की पत्नी को ऐसी ही सौन्दर्य-सलजी हो जाती है जिसके कारण उनमें आत्म दम्भ इतना बढ़ जाता है कि वे सामाजिक औचित्यानौचित्य को भी भूल जाते हैं। कविराज इस सम्बंध में स्वयं को दोषी ठहराते हैं क्योंकि वे ही इसके हेतु हैं जिन्होंने प्रथम देविमा के पागलपन और फिर स्वस्थ हो जाने पर सौन्दर्य-बोध(जो ऐन्द्रिय अधिक है) को जन्म दिया है।

सुन्दर-रस की ही लालसा से ग्रस्त कविराज के दोनों शिष्य हैं, नौकर सुमिरन है जो संस्कृत नाटकों के विदूषक, विट व शकार का मिला-जुला रूप है। ये देविमा केसहवर्ती पात्र हैं। दूसरी ओर, भट्टाचार्य और बीना (विशेषकर उत्तरार्द्ध में) कविराज के सहायक बनकर समक्ष आते हैं।

प्रस्तुत कृति में पात्रों का चरित्र-विधान भले ही न उभर पाया हो लेकिन उनमेंनिहित अभिनय तत्व पात्रों की रंगमंचीयता में किसी प्रकार का सन्देह प्रकट नहीं करता। कथानक, स्थितियों और घटनाक्रम को सन्निहित कर पात्रों में निहित अभिनय सम्भावनाएं उनके कार्य व कथोपकथन द्वारा मूर्त होती रहती है।

जैसा कि 'सुन्दर -रस' के प्रकाशकीय वक्तव्य में लिखा गया है कि यह रंगधर्मी नाटक है और इसकी नयी नाट्यवन्त भंगिमाएं हमारे नये अभिनेता और दर्शक समाज की उमंगों और कला संस्कारों को पुष्ट करेंगी- इस तथ्य का प्रथम आयाम है इसकी भाषा 'सुन्दर रस' का भाषा का मूल स्त्रोत उसमें निहित व्या व्यंग्य है और इसी कारण भाषा को तदनुरूप हल्के-फुल्के पन और कहीं-कहीं भौंण्डेपन की अनिवार्यता को भी स्वीकार करना पड़ा है। इस प्रकार की भाषा के उच्चारक सभी पात्र है - कविराज, देविमां, जैनाथ, शक्तिदेव, सुमिरन, भट्टाचार्य। देविमां पागलपन के प्रलाप में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग करती है, भट्टाचार्य बंगाली मिश्रित हिन्दी में आन्तरिक घबराहट को जिस उतावले पन के साथ व्यक्त करते है, जैनाथ व शक्तिदेव उक्त भाषा का जिस प्रकार प्रयोग करते है(विशेषकर शक्तिदेव का बात को ' थू औंजी समझने का कथन) और कविराज झूठ को छिपाने के लिये जिस प्रकार सरल हिन्दी का प्रयोग करते है- वे सभी प्रयोग, हास्य तो नहीं, स्मित उत्पन्न करने की सम्भावना को अवश्य उत्पन्न करते है। इसलिये कहीं-कहीं स्मित के कारण कैशिकी वृत्ति वाली भाषा का संकेत प्राप्त होता है।

'सुन्दर रस' में नाटकीय कार्य या दृश्यत्व-बोध को प्राथमिकता देने और भाषा को केवल माध्यम बनाने के लिये अनेक स्थानों पर उसका विखण्डन कर उसका भराव प्रश्नवाचक चिन्हों, विस्मयादि बोधक चिन्हों और डाट्स द्वारा किया गया है। इससे अभिनेता को अपने अभिनय को भाषाश्रित नहीं प्रत्युत कायाश्रित करने में सहायता मिलती है। ऐसे उदाहरण अनेक स्थानों पर है -

(शक्तिदेव दरवाजा बन्द करने जाता है, उसी समय भीतर से देविमा दौड़ी हुई आकर उसे रोक देती है।)

शक्तिदेव- मैं नहीं------गुरु जी-----! गुरु जी----गुरु जी !

देविमा- (दौड़ती हुई आकर) है---है---है ! घतेरे की! दरवाजा क्यों बन्द करते हो ? चलो पढ़ो----क-----माने कौआ, ख----माने खरगोश, ग------माने गधा । चलो याद करो !

सब्जीवाला- माँजी क्या लेना है ?

देविमा- घतेरे की, सब लेना है !

उक्त चिन्हों द्वारा उत्पन्न होती हुई दृश्यत्व की सम्भावनाओं के कारण ही वाक्यों को संक्षिप्त कर दिया गया है। संश्लिष्ट सार्थक ध्वनि व अर्थबोध के लिये संपूर्ण वाक्य नहीं, पदोच्चय या वाक्यांश ही पर्याप्त रहे हैं -

कविराज - यह सुन्दर रस झूठा । मैं इसका व्यापार नहीं------

\+ + +

देविमा- ऐसा नहीं हो सकता । सुन्दर रस पीने से किसी का माथा नहीं खराब होता।

भट्टाचार्य- सच----!

देविमा- बिल्कुल सच !

\+ + +

सुमिरन- मेम साहब ने बोला है ---

भट्टाचार्य- मेम साहब !

सुमिरन- (हंसता) अरे, देवियां ही अब मेम साहब हो गया---समझे ?

+ ~~सुन्दर रस, पृ०~~

भट्टाचार्य- समझा, भाई समझा !

+ + +

तात्पर्य यह कि उक्त अंश-प्रयोग शब्द व क्रिया का सामंजस्य बैठाकर भी शब्द को क्रियाश्रित बनाते हैं जो रंग नाटक की आवश्यकता है। चूंकि क्रिया मानवीय संवेगों का परिणाम है और शब्द क्रियाश्रित- अतएव अभिनय काल में अभिनेता के अन्दर जो प्रक्रिया चलती है, उसका क्रम 'मानवीय संवेग → क्रिया→ शब्द' - इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है।

भाषा में प्रयुक्त सम्वादों की रंगमंचोपयोगिता के सम्बंध में कार्य, दृश्य व कथन की सांगोपांगता होना नितान्त अनिवार्य शर्त है। नाट्य-कला का यही वह मनोवैज्ञानिक आधार है जो नाटक के लेखन और अभिनय को आस्वादन से जोड़ता है -

'Our attention must now proceed, past all the diverse forms of of the theatrical expression, past ballet and opera, past music-hall turn and wordless mime to the Drama, The play which W has already been defined as 'a literary work written by on author or by several authors in collaboration, in a form to suitable for stage-presentation'[1] कार्य, दृश्य व कथन की कसौटी पर 'सुन्दर रस' को कसा जाय तो वह आशास्पद परिणाम देता है। यहां सम्वादों में परस्पर में जो गुंथन मिलता है वह नाटक के कार्य व्यापार को क्षिप्र गति से आगे बढ़ाने में सहायक होता है। सम्वाद पात्रों के मनोवेगों को सदेह खड़ा कर देते हैं। यही कार्य एक साथ दो विरोधी इच्छाओं(volitions) से पूर्ण सम्वादों द्वारा प्रभाव के साथ व्यक्त होता है -

कविराज- यह सब तुमने किया है। रुपये लाकर प्रेस कान्फ्रेन्स तुमने बुलाया है।

1- From ' The theory of the modern Stage ' (edi. by Eric Bentley) - Introduction

देविमा- तो इसमें हर्ज क्या है ? इससे आपको नाम मिलेगा । हमारे सुन्दर-रस का व्यापार बढ़ेगा ।

कविराज- प्रेस कान्फ्रेन्स में जो ऊटपटांग सवाल पूछे जायेंगे, उनके जवाब कौन देगा?

देविमा- आपसे जो जवाब बन नहीं पड़ेंगे, मैं उन्हें दूंगी । और सवाल भी क्या होंगे ? यही कि सुन्दर-रस क्या है? कब बनाया? कैसे बनाया? कितने लोग इससे सुन्दर हुए, वगैरह वगैरह !

\+ + +

देविमा- सुन्दर रस के व्यापार को मैं बिल्कुल ~~मार्डन~~ माडर्न ढंग से करूंगी । दिल्ली में इसका हेड आफिस, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में इसके बड़े-बड़े सेल्स डिपो---- इसे मैं विदेशों में एक्सपोर्ट भी करूंगी !

कविराज- और मुझे किसी चौराहे पर जिन्दा लटका देना ।

\+ + +

उक्त सम्वादों में उत्तर-प्रत्युत्तर के साथ-साथ पात्रों के मनोवेग (कविराज का क्षोभ और देविमा का अतिरिक्त ~~उत्साह~~ उत्साह) और दो विरोधी इहा (जो 'सुन्दर-रस' के उत्तरार्द्ध में ही देखने को मिलती है) का संघर्ष नाटकीय कार्य को गतिशील बना देता है । ये सम्वाद एक दूसरे में गुंथित हैं, कहीं विलग नहीं हैं । दूसरे व तीसरे और प्रथम अंक के दृश्यों में देविमा द्वारा लाया गया जो आमूल परिवर्तन है वह कार्य को और उसमें छिपे संघर्ष द्वारा उत्पन्न गति को द्वन्द्वात्मक बोध-वाद प्रतिवाद का रूप देता है । इस प्रकार दृश्यों का परिवर्तन आस्वादन के स्तर पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करता है । इस प्रभाव की व्यंजना में वाक्यों की अधूरी संरचना, विस्मय बोधक या प्रश्नवाचक चिन्हों द्वारा उन्हें दर्शकों के लिये रोचक बनाने का प्रयास भी संयुक्त हुआ है ।

सम्वादों में शब्दों के प्रयोग प्राय: पात्र द्वारा कही किसी बात से ही उद्धृत

होकर आये हैं। ऐसे में एक ही शब्द के बार-बार दोहरान से पात्रों के मानसिक बोध का ज्ञान होता है। जो कीट भृंग की तरह एक ही शब्द या वाक्यांश पर उलझ कर रह जाते हैं। ऐसे प्रयोगों के पीछे हास्य रस को ध्वनित करना ही अभीष्ट रहा है। यथा-

देविमा- सुनो-----सुनो, इसके चक्कर में कोई न आये----कोई न आये।
कविराज- और तुम्हारे चक्कर में ?
देविमा- और तुम्हारे चक्कर में ?
कविराज- कोई न आये-----कोई न आये।
देविमा- कोई न आये----कोई न आये।
भट्टाचार्य- अब सब घर जायें-----घर जायें।

यहाँ एक वाक्यांश संपूर्ण अर्थ और उसमें व्यंजित रस की अभिव्यक्ति करता है। संवादों में प्रयुक्त इस गुण को समता का गुण कहा जा सकता है। शब्द या वाक्यांश के बार-बार दोहराये जाने के पीछे भी सानुनासिकता का आग्रह ही है। संवदों के इस प्रकार के गुण को माधुर्य-गुण से अभिहित किया गया है।

'सुन्दर-रस' के सम्वाद और उसमें छिपे कार्य तत्व में एक प्रकार की गति है, उतार-चढ़ाव है और केवल कार्य की गति से ही यह उस काव्यत्व का संकेत देता है जो रंगमंच का एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। पूर्वार्द्ध तक सभी पात्र सुन्दर रस के प्रशंसक बन उसे प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। ऐसे में सभी में एक ही ईहा है। विपरीत ईहाओं के द्वन्द्वों से नाटक की लय बनती है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु एक ही ईहा द्वारा भी नाटकीय गति व लय का विधान किया जा सकता है, यह सुन्दर-रस के शिल्प में देखा जा सकता है। इसका मूल कारण है देविमा के पात्रत्व में घिरोया गया पागलपन जो स्वयं तो गतिशील अभिनय का बायस है ही, वातावरण को भी चेतन

बनाता है। और अन्य पात्रों में भी अभिनय की उत्तेजना भरता है। इसीलिये जैसे ही देविमा का उन्मत्त-कार्य-कलाप मंच पर प्रारंभ होता है, अन्य पात्रों पर तदनुरूप प्रभाव पड़ता है, मंच पर उत्तेजना चरम पर पहुंच जाती है और फिर अचानक प्रकृतिस्थ होते ही वह सामान्य पर पहुंच जाती है। देवि मां के पात्रत्व में प्रच्छन्न यह श्रृंग और गर्त अभिनय को गतिशील बनाते हैं। वस्तुत: सभी पात्रों की ईहा एक है किन्तु यह सामान्य रूप से आज के मनुष्य का ही चरित्र है। सौंदर्य की मोह पूर्ण अन्धकार वाली दौड और एक ही ईहा(सौन्दर्य की प्राप्ति) जब औचित्यानौचित्य का विश्लेषण त्याग देती है तो वह ईहा स्वयं ही विसंगत और मूल्यहीन हो जाती है। इस प्रकार एक ईहा भी स्वयं में निहित विसंगतियों के कारण खंडित है और इसी का प्रोजेक्शन देवि मां आदि पात्रों में होता है। नाटकीय कार्य में विरोधी ईहाओं के अभाव में भी गति और उत्तेजना का यही कारण है। उत्तरार्द्ध में कविराज में नैतिक मूल्यों के प्रश्न का विचार उन्हें देवि मां से विशिष्ट बना देता है। तब संघर्ष खुलकर समक्ष आता है। मूल्यों काविघटन,मानवीय विसंगतियां और सौन्दर्य-अभिलाषा को संवेदना के स्तर पर ग्रहण न कर शारीरिक स्तर पर ग्रहण करने की विडम्बना ही उक्त नाटकीय कार्य के मूल में है। 'सुन्दर रस' के सौन्दर्य मूल्यों को समझने के लिये यह भी ध्यातव्य है कि इस कृति की न रचना के ~~सौन्दर्य-मूल्यों-को समझने के लिये यह भी~~ डा० लाल तीस की वय के ऊपर चल रहे थे- इस वय में उनका सौन्दर्य बोध नैतिक प्रतिमानों की बात करने लगे- यह आश्चर्य की बात भी नहीं है। मुख पृष्ठ(भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) पर एक व्यक्ति के चेहरे पर मनुष्य में उक्त दो विरोधी प्रतिमानों के द्वन्द्व की स्थिति का संकेत किया गया है। सौंदर्य का पागलपन और उसका दम्भ जितना ही आकर्षण पूर्ण होता है, उतना ही मनुष्य को नैतिक प्रतिमान विहीन पशुवत बनाने का कारण बनता है- यह चित्र में बताये व्यक्ति के अन्दर के 'मुस्कराते पशु' के चित्र से स्पष्ट है। मनुष्य के अन्दर सौन्दर्य-प्रदर्शन की भावना का स्त्रोत बाह्य जीवन है जिसे चित्र में दो तारों द्वारा संकेतित किया गया है।

सुन्दर -रस' की नाट्य वन्त मंगिमाएं पात्रों द्वारा किस प्रकार सम्भाव्य बन सकती हैं, इसकी चर्चा ऊपर की गयी । पात्र विशेष में किसी वैशिष्ट्य के समावेश द्वारा अभिनय को मुखर बनाया जा सकता है, यह देवि मां के पागलपन, भट्टाचार्य के बंगाली लहजे, शक्तिदेव के अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग द्वारा देखा जा सकता है । पात्रों में इस प्रकार की सम्भावनाएं उत्पन्न करना नाटककार की रंगमंच के सम्बंध में व्यावहारिक अनुभूति का प्रमाण है । मानव स्वभाव को प्रकृत ढंग से प्रकट करना पात्रत्व की लोकधर्मिता का प्रमाण है और उसे कला द्वारा कृत्रिम बना देना नाट्य-धर्मिता का व्यंजक है ।[1] 'सुन्दर-रस' लोकधर्मी प्रवृति के अन्तर्गत आता है । अभिनय-व्यापार को सहज बनाने के लिये 'स्वभाव' के प्रयोग किये जाने से यह लोक-धर्मिता से युक्त प्रश्न अवश्य बन जाता है किन्तु इसे लोक नाट्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता । यहां स्वाभाविक चित्रण ही लोकधर्मी होने का बोधक है ।

'स्वभावगत' अभिनय और उससे उत्पन्न लोक धर्मिता से ही इस प्रश्न का फार्म भी उभर उठता है । वह यथार्थ-बोध कराने वाला है और सत्य का प्रतिनिधान अथवा मूर्तिकरण करता है । इसीलिये यहां तीनों अंकों के प्रारम्भ में पर्याप्त रंग निर्देश हैं । तीनों अंकों में वैविध्य है । यथार्थवादी मंच सज्जा के कारण इस सम्बंधी यहां निर्देशक को किसी प्रकार के व्यापक परिवर्तन की सम्भावना नहीं दी गयी है । निर्देशक अपने कौशल का प्रयोग अभिनय (सात्विक, आंगिक व वाचिक) क्षेत्र में अभिनेताओं द्वारा कराने के लिये स्वतंत्र है । इसीलिये जहां आहार्य अभिनय सम्बंधी निर्देश स्वयं नाटककार ने ही दिये हैं वहां पात्रों के भाव व मनोवेगों को संकेतित करने में नाटककार ने यथासम्भव हाथ खींचे रखने का प्रयत्न किया है । निर्देशक ही सम्वादों में प्रयुक्त भाषा और परिस्थिति व घटना के बल पर पात्रों के भावावेगों को मूर्त कराने में अभिनेता को निर्देश दे सकता है ।

'सुन्दर -रस' की रचनाका उद्देश्य न तो 'अन्धा कुआ' की भांति परिवेश के

1- रंगमंच और नाटक की भूमिका- पृ0 37

गहनतम आयामों को छूने और चरित्र के अन्त:करण के विविध रूपों में गहरे झांकना है और न ही `मादा कैक्टस` की भांति प्रयोगवादी शिल्प की रचना करना है । यहां तो हल्के-फुल्के हास्य द्वारा सामाजिक व्यंग्य को प्रकट करना ही इष्ट रहा है । अत: ध्वनि व प्रकाश के प्रयोग यहां प्रासंगिक नहीं है । तथापि, देविमां के पागलपन का अभिनय या कविराज के सुन्दर रस के विरोध ~~महत्व-प्रासंगिक-नहीं-है-। तथापि;-देविमां-के-पागलपन-का-अभिनय-या-कविराज के-सुन्दर-रस-के-विरोध-में-~~
देविमां के साथ हुए संघर्ष को पार्श्व-संगीत द्वारा उत्तरोत्तर उत्तेजन दिया जाय तो वह वातावरण के चित्रण में सहायक हो सकता है । लेकिन अल्प साधनों में खेले जाने वाले इस प्रहसन को इस प्रकार अतिरिक्त साधनों की अपेक्षा से भरना मंचन के अतिरिक्त उत्साह का ही प्रदर्शन होगा ।

निस्संदेह लाल ने `सुन्दर रस` को अधिकाधिक व्यावहारिक शिल्प देने का प्रयत्न किया है । लेकिन शिल्प के साथ वस्तु का सम सम्बंध भी नितान्त अनिवार्य हो जाता है । `सुन्दर-रस` का कण्टेन्ट मूल्यों की प्रतिष्ठा से सम्बंधित है । वह सुन्दरता के प्रति सामाजिक जीवन में उत्पन्न मूल्यहीनता पर प्रहार करना चाहता है । इस गम्भीर उद्देश्य का माध्यम हास्य-व्यंग्य प्रधान हल्का-फुल्का शिल्प- कहां तक औचित्यपूर्ण है ? ऐसा लगता है, `सुन्दर रस` का उक्त शिल्प स्थान-स्थान पर विचारणीय प्रश्नोंकी सघनता को विरलकर देता है । अथच चलता कर देता है । लाल ने इस प्रहसन की रचना इसलिये की क्योंकि `मादा कैक्टस` व `अन्धा कुआ` दर्शकों की दृष्टि से कठिन थे । दर्शकों की खोज में उन्होंने रंगमंच के नवीन रस `सुन्दर रस` की प्रतिष्ठा की । यह नवीन रस `दर्शक तक नाटककार के पहुंचने का एक रास्ता` है । निश्च य ही दर्शक तक पहुंचने में वे सफल हुए लेकिन इसके लिये इतने गम्भीर कण्टेन्ट लेने की क्या आवश्यकता थी- यह समझ नहीं आता । शिल्प का डिब्बा इतना

छोटा है कि कण्टेन्ट उसमें नहीं समाता । फलत: उसे उसमें बलात् समाया जाता है । इससे उसकी सम्पूर्णता नष्ट हो जाती है और वह उतनी गहनता से नहीं प्रस्तुत हो पाता जो नाटककार का मन्तव्य है ।

(४) सूखा- सरोवर :

'सूखा-सरोवर' पर रचना कार्य यों तो सन् १९५५ में ही हो गया था जब डा० लाल आकाशवाणी, लखनऊ में ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर अभी आये ही थे किन्तु पुस्तकाकार में यह भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९६० में ही प्रकाशित हुआ था । यह वह समय था जब वे आकाशवाणी के पद का त्यागकर इलाहाबाद लौट आये थे और सी०पी०एम० कालेज में हिन्दी विभागाध्यक्ष का पद सम्हालते हुए नाट्य-केन्द्र, इलाहाबाद में सक्रिय हो कार्य करने लगे थे ।

लखनऊ की नौकरी का त्याग लाल को जिनपरिस्थितियों में करना पडा था उससे निश्चय ही उनके रचनाशील व्यक्तित्व में एक प्रश्न उठा होगा- मनुष्य के अन्दर से धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे पारस्परिक सौहार्द्र और प्रेम का क्या कारण है? क्यों राजनीतिक स्वार्थों से जुडकर सत्ता के मद में व्यक्ति ~~क~~-अह व्यक्ति का अहं तोड़ता है? परिणाम यह होता है कि व्यक्ति सत्ता की आपाधापी से बचने के लिये निर्वासन का मार्ग अपना लेता है । लखनऊ की नौकरी से त्यागपत्र इसी निर्वासन के मार्ग की खोज हो सकती है । क्रमश: चिन्तन की प्रौढ़ होते जाने की प्रक्रिया में निर्वासन का यह मार्ग व्यक्तित्व की पलायनवादिता कही जा सकती है ।- डा० लाल के जीवन में संघर्ष का यह रूप और परिस्थितिवश निर्वासित हो जाने कीयह प्रक्रिया उनके अप्रौढ़ व्यक्तित्व के कारण हो सकती है । अस्तु, यहां तात्पर्य इतना है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति शुष्क होता प्रेम-व्यवहार किस प्रकार सम्पूर्ण जीवन को सुखा देने का कारण बनता है । ऊपर से थोपी हुई राज्य-लिप्सा, स्वार्थान्धता और सत्

शक्तियों का निवासिन जन-जन को किस अन्धकार पूर्ण संक्रमणोत्तर-विषम परिस्थितिमें-में स्थिति में छोड़ देती है । यही 'सूखा सरोवर' की रचना की पृष्ठभूमि है । तत्कालीन स्वातंत्रयोत्तर विषम परिस्थितियों में भी यह सब देखने में आ रहा था जिसका विश्लेषण करते हुए डा० रामदरश मिश्र लिखते भी हैं -'स्वतंत्रता प्राप्ति के आरंभिक वर्षों में उभरने वाली विकृतियां भविष्य की कुछ सम्भावनाएं ली हुई थीं किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, मोह-भंग होता गया । जिस सामाजिकता और मूल्य का हम सपना देखते आये थे वह कभी उभरा ही नहीं और रहे सहे मूल्य भी बुरी तरह टूटते गये । आज देश और समाज में जो कुछ बना बिगड़ा है वह बहुत ही निराश करने वाला है । अपने ही देश में सामान्य प्रजा को देश निकाला दे दिया गया है और समाजवाद के नाम पर पूंजीपतियों, सम्प्रदायवादियों, गुण्डों औरस्वार्थियों की जो बन आयी है, न्याय और सत्य की जो दिन दहाडे हत्या हो रही है वह किसी भी संवेदन-शील के दिल को तोड़नेवाली घटना है । एक कलाकार, एक सच्चा आदमी, एक न्याय और सत्य का अन्वेषी एक ओर इन विषम परिस्थितियों और घटनाओं को देखता है।दूसरी ओर, इन परिस्थितियों में अपनी कुछ न करने पानेवाली शक्ति सीमाओं को देखता है तो अपने को अद्भुत तनाव में फंसा हुआ पाता है ।[१] इन्हीं संपूर्ण अभिशप्त स्थितियों का अंकन करने के लिये 'सूखा सरोवर' की रचना हुई है ।

'सूखा सरोवर' के रचना-पक्ष का वैशिष्ट्य दो कारणों से है- प्रथम, वह लोकगाथा धर्मी है और द्वितीय, उसका शिल्प काव्य-नाट्य का है । लोकगाथा पर आधारित यह नाटक न ही मिथिकल है और न विशुद्ध लोक-जीवन ।वस्तुत:

१- आज का हिन्दी साहित्य- संवेदना और दृष्टि- पृ० २६

यह उन फैन्टैसियों का सा प्रभाव डालने वाला नाटक है जिनमें एक साथ कल्पना, ऐन्द्रजालिकता और नीति का समावेश किया जाता है और जो यथार्थवादी नाट्य-शिल्प को एक प्रतिक्रियात्मक आयाम देती हैं । ऐसी स्थिति में 'सूखा सरोवर' का लोकगाथा धर्मी रूप, उसकी प्रेरणा स्वरूप नाटककार द्वारा बचपन में सुनी गयी कहानी और उस कहानी में प्रच्छन्न वे प्रतीक[1] ही नाटक की रचना के मूल में है । नाटककार की वे अनुभूतियां जो छायावादी प्रतीकों और बिम्बों के समान धुंधली सी रेखाएं खींच रही थीं, किसी ऐसे माध्यम की तलाश में थीं जो उन्हें सीधी अभिव्यक्ति प्रदान कर सके । जितनी तरल अनुभूतियां थीं, उन्हें वहन करने की शक्ति काव्य में ही हो सकती थी । फलत: काव्य-नाट्य का फार्म लेकर अयथार्थ के माध्यम से जीवन की यथार्थ अनुभूतियां प्रकट हो गयीं । यहां प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि तरल अनुभूतियों की अभिव्यंजना तो केवल काव्य द्वारा ही हो सकती है, उसके लिये काव्य-नाट्य के फार्म की ही क्या आवश्यकता ? इसके लिये प्रथमकारण तो लेखक की नाट्य-अभिरुचियां कही ही जा सकती हैं । लेकिन इसके अतिरिक्त दूसरा कारण नाटककार द्वारा नाटक में छिपे अभीष्ट को जन-सामान्य तक प्रसारित करना भी है । ग्राह्यता के अभाव में काव्य की कल्पनाओं का सम्प्रेषण रसज्ञों तक ही सम्भव हो पाता है । जबकि नाटक दर्शक सापेक्ष होने से अपने अन्तर्हित गुण के कारण क्रिया-व्यापारों की चक्षु ग्राह्यता द्वारा सहज सम्प्रेष्य हो जाता है । इसी तथ्य को डा० दशरथ ओझा ने इस प्रकार स्पष्ट किया है -'आनन्द की प्राप्ति के लिये सत्वोद्रेक अनिवार्य है । सत्वोद्रेक तभी होता है जब मन के संकल्प-विकल्पों का सर्वथा विरोधान हो जाता है । इस स्थितिपर पहुंचाने केलिये श्रव्य काव्य हमारे अन्त:करण में जो दृश्य उपस्थित करना चाहता है, वह पाठक के अनुभव के 'कैनवास' पर उसकी कल्पना की तूलिका से निर्मित होता है । यही कारण है कि जिनका अनुभव छिन्न-भिन्न और जिनकी कल्पना शक्ति असमर्थ होती है, उनको उत्तम से उत्तम काव्य

१- उपक्रम- सूखा सरोवर ।

का भी रसास्वादन नहीं हो पाता । अत: श्रव्यकाव्य का रस अनुभवरहित व्यक्ति के लिये अप्राप्त होता है । इसके विपरीत दृश्य काव्य में नाटकीय क्रिया-व्यापार, नाटकीय कथोपकथन, नृत्य संगीत एवं अभिनेता के कला-नैपुण्य के बल से रंगमंच पर और रचना-चारुता से गोष्ठियों में सामान्य जनता भी आन्दोपलब्धि कर पाती है ।[१]

यहां एक तथ्य द्रष्टव्य है कि नाटक का मूल स्वर लोक नाट्य का नहीं है । कथा की प्रेरणा भर लोक जीवन में प्रचलित कहानी से ली गयी है अन्यथा वह जीवन के जिनम मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है वह आधुनिक मनुष्य के संत्रास, लिप्सा और प्रेमविहीन हो जाने की त्रासद अनुभूतियों से श्लिष्ट हैं । ये वे जीवन वास्तव हैं जो नगरीकरण की प्रक्रिया के परिणाम हैं । नाटककार ने नाटकों में इन्हें चित्रों की प्रस्तुति और संवेदना के स्तर पर पकडना चाहा है । और इस प्रकार नाटक को आधुनिकता बोध के उस संक्रमण पर ला खडा किया है जिससे आगे के उनके नाटक आधुनिक मनुष्य की विसंगतियों का चित्रण विस्तार एवं गहनता से करने लगेंगे । `सूखा सरोवर` समकालीन मनुष्य की अन्तर्मन ह की गुत्थियों की ओर संकेत करता है, उसका एक आदर्शवादी समाधान भी प्रस्तुत कर देता है । डा० लाल का चिन्तन `सूखा सरोवर` से समकालीन मनुष्य के आन्तरिक विघटन के प्रश्न पर झुकता है । इसी कारण इस नाटक में उनके आगामी नाटक `सूर्यमुख` और `कलंकी` का पूर्वाभास होता है ।

नाटक की गाथा का समय `आज, और आज से बहुत बहुत दिन पहले है । दूसरे शब्दों में जैसा कि `आज` के आगे अर्द्ध विराम का प्रयोग किया गया है कि वह आज से बहुत दिन पहले की गाथा तो है ही, आज की भी उतनी ही है ।

१- नाट्य समीक्षा- पृ० ६४

नाटक की यह गाथा तीन अंकों मेंफैली हुई है जिसमें पहला और तीसरा अंक सूखे सरोवर के तटपर की घटनाओं का वर्णन करता है । क्रम से दूसरा अंक सर्वप्रथम आना चाहिये था, फिर प्रथम अंक और फिर तृतीय अंक । किन्तु राजाप्रसाद की घटनाओं के अंक को अन्तराल दृश्य के रूप में रखकर नाटककार ने नाटक में रोचकता व रहस्यमयता उत्पन्न करने के लिये पूर्वदीप्ति शैली(Flash-Back-style) का अभिनव प्रयोग किया है । अश्क जी के स्वप्न नाटकों की शैली के समान यह भी एक फेण्टेस्टिक शैली रूप है ।

नाटक का थीम उस प्रेम की खोज से सम्बंधित है जो आज के मनुष्य के अन्दर समाप्त हो गया है ।फलत: उसका जीवन सरोवर सूख गया है । प्रेम के अभाव में आज का मनुष्य, उसका सामाजिक जीवन और राजनीति सभी में पारस्परिक भय, स्वार्थ और इस कारण आत्मकेन्द्रिता ने जन्म ले लिया है । पालक और पालित के मध्य की यह दूरी एक दूसरे को परस्पर अजनबी बना देती है और एक सर्वग्राही त्राहि-त्राहि स्थिति को जन्म देती है । मनुष्य और उस द्वारा निर्मित यह परिवेश एक ऐसी निराशा को जन्म देता है जहां अच्छाई और उपेक्षा की जाती है । फलत: आत्मनिर्वासित होकर सत् शक्तियां इस संपूर्ण परिवेश को एक ऐसे युग की ओर धकेल देती है जिसमें आत्म और बाह्य-संघर्ष में रत निरीह मानवता असत् शक्तियों द्वारा संचालित होने को बाध्य होती है । समकालीन परिस्थितियों में प्रेम के जल से सूखे सरोवर के कारण एक ओर हाहाकार करती दिशाहीन मानवता है और दूसरी युग की विभीषिका मेंस्वयं को दिग्दर्शक बताकर स्वार्थ सिद्ध करती राजनीति है । आधुनिक जीवन के मध्य कहीं-कहीं पथप्रदर्शन करने वाली कोई शक्ति जन्म लेती भी है तो उसका अनुकरण करने वाला कोई नहीं होता ।मनुष्य में आधुनिकता बोध उत्पन्न करनेवाली ऐसी ही डायोनिसस-शक्तियों द्वारा सुखाये प्रेम के सरोवर के पास प्यास के लिये तडपती जनता की वेदना और निर्वासित सत शक्तियों के आत्म-मंथन को प्रस्तुत नाटक में व्यक्त किया गया है । वस्तुत: प्रेम तत्व की यहां जो प्रतिष्ठा की जा रही है

वह पाश्चात्य जड़वाद के विरोध में भारतीय जीवन का एक कोमल दर्शन है । यह भारतीयता अन्य गीति-नाट्यकार उदयशंकर भट्ट, सुमित्रानन्दन पंत व भगवतीप्रसादवाजपेयी के नाटकों- `विश्वामित्र` (मेनका जिसके लिये हृदय-प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है`),`ज्योत्स्ना` और `कल्पना` में भी उभरी है । कहना नहीं होगा कि लाल सहित उक्त सभी नाटककारों पर रवीन्द्रनाथ टैगोर का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

नाटक का प्रथम अंक पर पर्दा उठने से पूर्व ही युगल स्वर में सरोवर के सूखने की घटना सूच्य रूप में व्यक्त की जाती है । इस चूलिका दृश्य के साथ धीरे-धीरे अन्धकार पूर्ण वातावरण में श्मशान की काली रात की सी भयावहता लिये पटोत्तोलन होता है और पुन: उसी नेपथ्य स्वर में `मन का मोती, आंख का पानी`, `प्रभु नयनन जो आंसू बरसा, वह जीवन सरवर का पानी` के संगीत द्वारा नाटक के प्रतीक को भी स्पष्ट कर दिया जाता है । इस समय मंच की भयानक चुप्पी का जो वर्णन किया गया है और `सरोवर की अदृश्य व्यापकता में कहीं काल सर्प ` के छिपे बैठने का जो संकेत किया गया है वह अतीत के किसी अघट और भवितव्य के किसी अनीष्ट की कल्पना से ही एक तनावपूर्ण भय का संचार करता है जिसे `सन्नाटे का भी दम घुटने ` द्वारा संकेतित किया गया है । नाटकीय कार्य यहां एक आन्तरिक तनाव से गुजर रहा होता है । इस दम घोटू वातावरण की निश्चलता को तोडते हुए वृद्ध का प्रवेश नाटक को धीरे-धीरे आगे बढाता है ।- `आंच आये आने दो। सरोवर है तुम्हारे पास। पर सांच मत जाने दो। वही मर्यादा है सरोवर की`- कहकर वह सरोवर के सूखने के पीछे छिपे कारण को व्यक्त करता है- `सत्य ` को त्यागकर जो सरोवर की, उसके जीवन-जल की मर्यादा थी, उसे राजा और उसकी प्रजा ने खो दिया- फलत: सरोवर भी सूख गया । यहीं वह अपने राजा के अधिनायकत्व पर भी प्रहार करता है और उसके `प्रभु ` समझने को मिथ्या धारणा पर भी चोट करता है जिसके कारण रस, जीवन, सत्य की खान इस सरोवर के महत्व पर आंच आयी और वह मनुष्य द्वारा स्वयं को

जीवन का नियामक मान लेने की प्रतिक्रिया में सूख गया । नाटक की वस्तु के इस आरंभ और बीजवपन के साथ ही नाटकीय कार्य गतिशील होता है । पृष्ठभूमि से आते स्वर `पानी, पानी` के साथ ही नगर के राजा के पुरोहित का आगमन बहिर्द्वन्द्व को जन्म देता है । पुरोहित के यह पूछने पर कि तू कौन है, वृद्ध अपना परिचय जिस रूप में देता है, वह तानाशाही शासन में प्रजा के विद्रोही और क्षुब्ध चरित्र को प्रकट करती है । सत्य-वचन कहने पर जिसे जवानी में ही कारागार मेंबन्दी होना पड़ा, आज बुढापे में जैसे कारागार में संचित किया उसका विद्रोह फूट पडता है और वह बार-बार सरोवर के सूख जाने का दोषारोपण शासन पर करता है । यह जनशक्ति के उस मुक्त विद्रोह का द्योतक है जो प्रताड़ना की तपी अग्नि में से निकली है । इसीलिये पुरोहित द्वारा भी भयभीत न हो वह कहता है- `अब भी कहूंगा। अंतिम स्वर तक कहूंगा ।---कह तो चुका। शब्द वायुमण्डल में बो दिया। शब्द बेधी। देखूंगा कैसे बेचते हो वायुमण्डल को ।`वृद्ध के ये सत्य वचन स्वर जनशक्ति के प्रतीक उन भिखारियों के बचनों का पूर्वाभ्यास कराते हैं जो डा० लाल के आगामी कुछ वर्षों बाद रचे गये नाटक `सूर्यमुख` में राजमहिषी रुक्मिणी के दान को अस्वीकार करते हुए कहे जाते हैं । वृद्ध और राजपुरोहित के सम्वादों के समाप्त होते ही नाटकीय कार्य अचानक क्षिप्र हो उठता है- एक बन्दी के प्रवेश और उसके द्वारा राजा के बन्दीगृह के टूट जाने की सूचनामें राज्य व्यापी मर्यादा के अन्त की सूचना का संकेत मिलता है । वृद्ध और बन्दीजन यातनाओं की अग्नि में तपे हैं - इसीलिये वे मुक्ति के आनन्दको समझ पा रहे हैं । सरोवर का सूखना और राज्य में सत्य, प्रेम और मर्यादा की समाप्ति से ही उस पाले हुए आदर्श का भी अन्त हो चुका और मनुष्य और यह राष्ट्र, समाज वस्तुत: क्या है- इसका बोध हुआ है ।स्वतंत्रता का जिन्हें बोध था, वे अब तक शासन द्वारा भूमिगत थे । अतएव शासन द्वारा तनाशाही, राष्ट्र-भक्ति, शासन के प्रति मौन समर्पण आदि को ही जनता पर थोपा गया और जनता

शासकों के स्वर मैंस्वर मिलाने को ही स्वतंत्रता समझती रही । बन्दीगृह से मुक्त बन्दी के सम्वादों में राजनीति के इस कुचक्र को और अब क्रान्ति को नये स्वर को इस प्रकार अभिव्यक्ति दी गयी है- `जो मुक्त थे सब अब तक कुछ नहीं कर सके । उन्हें मुक्ति का अर्थबोध ही नहीं। हमें बोध है, हम बन्दी थे ।अब हमीं मुक्ति देंगे सभी को ।` वस्तुत: यह तत्कालीन स्वातंत्र्योत्तर भारत की उस स्थिति का वर्णन है जिसमें स्वातंत्र्य युद्ध लडनेवालों का उनको सही प्राप्य न मिल पाने की वेदना है । सत्ता लोलुपों ने उनकी आवाज को राष्ट्र भक्ति, सेवा, समपूर्ण आदि आदर्श थोपकर दबा दिया । ऐसे में स्वतंत्रता के तुरन्त पश्चात एक बौद्धिक क्रांति अन्दर ही अन्दर सुलगती हुई फूट पड़ने के अवसर की तलाश करने लगी ।

बन्दी के उपर्युक्त कथन के साथ पृष्ठभूमि का जन कोलाहल परिस्थिति की भयावहता की सूचना देता है । यह वैसाही कोलाहल है जो काल-समुद्र के द्वारिका तट पर उमडने से उत्पन्न होता है । यहां काल सरोवर के सूख जाने के रूप में अपना दंश इस अभिशप्त राज्य पर गड़ा रहा है । इसके समय नगरवासियों का प्रवेश होता है और राजपुरोहित एक पेड़ की ठूंठ के पीछे छिपकर सरोवर के सूखने का दोषारोपण जनता पर लगता है । मानवता रहित धर्म की आड में सत्ता की राजनीति इसी तरह जनता को अपने जाल में फंसाती है । जनता इस असत्य को भी स्वीकार कर लेती है क्योंकि विपत्ति की वह मारी है और अपने उद्धार के लिये दो शब्द सान्त्वना के बोलने वाले किसी भी व्यक्ति को वह संपूर्ण विश्वास प्रदान कर देती है । सन्यासी उनके इस अन्ध विश्वास को तोडता है । उन्हें भविष्य में आस्था के लिये तैयार करता है ।- `आगत परीक्षा है तुम्हारी आस्था की । इसे दर्शन की मुट्ठी में कस लो। फिर जो अनागत है ।वह निश्चय ही सुनहरा पावन है।` जनता का विश्वास राजनीतिक कुचक्रों और सत्ता लिप्सा द्वारा कैसे तोडा जाता है- यहां जनता के टूटे और बिखरे व्यक्तित्व के अंकन से सहज ही मालूम होता है- `जहां तक नहीं दोगे अब शब्द।हम प्यासे बोलते रहेंगे, बोलते रहेंगे। विकल्पहीन।अर्थहीन।अन्त में शब्दहीन स्वरहीन ।` जनता की यह अर्थहीन टूटन` अन्धा युग` के पहरे दारों में इसी मानसिकता के जन्म का कारण

बनती है-`अर्थ नहीं था। कुछ भी अर्थ नहीं था। जीवन के अर्थहीन सूने गलियारे में। पहरा दे देकर। अब थके हुए हैं हम । अब चुके हुए हैं हम ।`- जनता परंपराओं की दास बन राजा की गति सौंपकर इसी प्रकार पिसती रहती है । सन्यासी उन्हें विश्वास दिलाता है और नगरी के राजा के साथ वे सरोवर देवता की अभ्यर्थना करने लगते हैं- `ओ सरोवर के देवता ! भाव से निकलो, अन्ध गह्वर को चीर आवो । नीर के देवता हमें अपनी पीर लाओ ।` की करुण प्रार्थना के साथ सरोवर के देवता का प्राकट्य मंच पर तीव्र आलोक सा फैला देता है । यहां नाटक के कार्य में गति आ जाती है । एक प्रकार से राजा, प्रजाऔर सन्यासी को होने वाला यह वह आत्मदर्शन है जो सरोवर के सूख जाने के कारण को विवेचित करता है । देवता के इन शब्दों में वही कारणाक्षिप्त है- `मैंने कियाथा शब्द। इस नगरी के उस आदि राजा को। जिस क्षण इस जीवन में। कोई आत्महत्या करेगा। उस क्षण मैं वापस ले लूंगा। सारा जीवन इस सरोवर का। मेरी मर्यादा है यही ।------यहां संपूर्ण वातावरण में जैसे एक प्रश्न व्याप्त होता है- क्या सरोवर की मर्यादा भंग हुई ? क्या सरोवर में किसी ने डूबकर आत्महत्या ही ? यहां सन्यासी के ये शब्द भी उसके प्रति रहस्य का भाव भरते हैं -`नहीं,नहीं । यह कलंक मेरा है । और मुझ पर वही अंकित रहेगा ।` देवता उस अभिशाप का वर्णन करता है जो इस नगरी की राजकुमारी के पिछली रात्रि को सरोवर मेंनिज इच्छा से डूब मरने के कारणइस नगर पर टूटा है । राजकुमारी की आत्म हत्या से स्वयं सरोवर का देवता भी अशिशप्त हुआ है । राजकुमारी की आत्म हत्या किसी मनुष्य मात्र की आत्महत्या नहीं बल्कि इस जीवन की आत्महत्या है । यहां नाटककार पर गांधी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है । एक बार फिर सरोवर के देवता द्वारा सन्यासी से- `शेष सत्य तुम जानते हो। मैंने देख लिया आंखों में। सबकाचित्र है तुम्हारे पास ।`- कहकर सन्यासी के प्रति रहस्य की सृष्टि करता है । इसी अवसर पर ~~अन्तर्द्वन्द्व~~ आत्म हन्त राजकुमारी का प्रेमी पुरुष का प्रवेश नाटकीय कार्य में एक नवीन रहस्योद्घाटन का मोड़ स्थापित करता है । अविवेकी प्यासी जनता `मारो, मारो ` के स्वर के साथ ज्यों ही पुरुष के पीछे भागती है, सन्यासी एक नये रहस्य को खोल कर सामने रखता है-

'अविवेकी ।कायर रोको। प्यासों की आत्मा प्यासी। कारण राजा है नगर का। राजकुमारी का पिता। जो इस पुरुष से घृणा करता रहा । राजकुमारी के मन आत्मा के विरुद्ध। जो दूसरे पुरुष संगव्याह रच रहा था । क्रय-विक्रय कर रहा था । इस उद्घाटन से राजा के यहां से भागने का कारणस्पष्ट हो उठता है । सन्यासी के लिये यह परिस्थिति विकट हो जाती है क्योंकि पुरुषनिदोंष होकर भी दोषभाजन बन रहा है । तब उसके अन्तस का अन्तराल और उसमें छिपा रहस्य प्रकट हो उठता है और एक नया मोड पर खडा होकर दर्शक नाटकीय कार्य को देखने तैयार हो जाता है । प्रथम अंक के अन्त में यह रहस्य अन्धकार से प्रकाश की ओर निकल पडने को तैयार है । आगामी अंक की कथा वस्तु का यह निर्देश अंकमुख नामक अर्थोपक्षेपक का उदाहरण कहा जा सकता है ।

सूने गलियारों में पहरा दे देकर थके चुके 'अन्धे युग' के पहरेदारों की तरह शास्ता से भयभीत सैनिकों के सम्वाद के साथ दूसरा अंक प्रारंभ होता है ।यह अंक सरोवर के सूखने से पूर्व की घटनाओं का चित्रण करता है । फलस्वरूप अन्तराल दृश्य के रूप में स्वयं सन्यासी का एक प्रकार से स्वगत कथन है । असली राजा के प्रवेश के साथ ही शासन भय का चित्र खिंचकर सामने आता है जिससे त्रस्त सैनिक 'पता नहीं राजन्' कहकर सारी रात जागकर किसका पहरा दे रहे हैं । राजा के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाते । आजकी अन्धी जनता का यहां सटीक चित्रण है जो अपने कर्तव्य बोध से ही अपरिचित हो गयी है । नाटकीय कार्य में इस भयावह मौन को तोडते हुए छोटे राजा का प्रवेश संघर्ष को बहिर्मुखी करके समक्ष रखता है । छोटे राजा की राज्य लिप्सा और असली राजा की राज्य के प्रति विराग और वितृष्णा- दोनों यहां एक बार टकरा जाते हैं । कायर और प्रवंचक के लिये शासन पर अधिकारी होने का बोध भी एक सर्वग्राही भय से जुड़ा रहता है । इसीलिये वह अपने पहरेदारों द्वारा स्वयं अवरोध में रहना चाहता है । यहां छोटे राजा का सिंहासन के प्रति मोह असली राजा में एण्टीथीसिस को जन्म देता

को जन्म देता है । इसीलिये वह कहता है-`पता नहीं किस निर्मम ने। किस अमानवीय क्षण ने। किस मनोबल से। निर्मित किया था। सिंहासन को। जिस चेतन ने इस जड़ की। कल्पना की होगी। सचमुच वह घोर शत्रु था । मानव का---।` यह एक ज्वलन्त सत्य है कि छोटा राजा जिस अन्ध मोह निद्रा में सो रहा है, सत्य के अभाव में वह निद्रा उसके विवेक का भी गला घोंट गयी है । जब शास्ता ही इस स्थिति में है तो उसकी प्रजा की तो बात ही क्या ? समकालीन शासन का राजनीति के साथ यही सत्य है- `तभी हमें नींद आ रही है । क्योंकि वह सच। जस्स- जो सतत जगाता है । हमें क्या हमारे अधिपति को भी। अब तक नहीं मिला । आज की अविश्वासपूर्ण राजनीति में शासक को मृत्यु भय इतना अधिक घेरे हुए है कि वह अपनी प्रजा में भी विश्वास नहीं प्राप्त कर पाता । छोटे राजा द्वारा पहरेदारों को बदल देने के पीछे यही अविश्वास है । यहां अविश्वास हत्या की राजनीति को जन्म देता है । छोटे राजा का असली राजा पर प्रहार, राजा द्वारा वार को झेलना,छोटे राजा छोटे राजा का स्वार्थ में आकर स्वयं को खंडित व्यक्तित्व में बांट देना और असली राजा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व परस्पर टकराते हैं, नाटकीय कार्य क्षिप्र होता है और अन्ततः असली राजा द्वारा छोटे राजा को सिंहासन पर उठाकर फेंक दिये जाने पर छल छद्मपूर्ण राजनीति पर आध्यात्म की विजय स्पष्ट हो जाती है । राजनीति का टुकड़ों में बंटा होना और इस प्रकार उसका खंडित व्यक्तित्व मिलकर नाटकीय क्रिया-व्यापार को सर्वथा समकालीन सन्दर्भ दे देता है । लेकिन यहां से आध्यात्म नाटक को जो मोड देता है, वह बडा ही निराशाजन्य है । उसका सिंहसन के प्रति वैराग्य तो समझ में आता है किन्तु उसे आततायी शासक को सौंप निर्वासित हो जाने का क्या औचित्य है- समझ में नहीं आता । क्या निर्वासन समस्याओं से पलायन नहीं है? प्रजा के भविष्य को बचाने का संकल्प फिर किसके हाथ दिया जायेगा ? क्या छोटे राजा को राज्य देकर असली राजा का सन्यास ले लेना उसकी वह अनास्था नहीं जो `अन्धा युग` के अश्वत्थामा या `सूर्यमुख` के प्रद्युम्न

की है । दोनों ही जीवन से टूटे निर्वासन के जंगल में भटक रहे हैं । एक अर्द्ध पशु बनकर और एक उदासीन व साधारण मनुष्य बनकर । यहां 'सूखा सरोवर' के राजा का निर्वासन प्रद्युम्न के अधिक निकट है क्योंकि इस अवस्था में वह अश्वत्थामा की भांति पशु नहीं हो जाता- बस संसार से, राजनीतिक कुचक्रों के प्रति उदासीन भर हो जाता है । लेकिन अपने निर्वासन के प्रति न ही प्रद्युम्न मोहासक्त है और न ही सन्यासी राजा । सन्यासी राजा अपने निर्वासन से राज्य पर आने वाले खतरे से भी अनभिज्ञ नहीं है, इसीलिये उसमें निर्वासन के साथ नि: श्वास भी है । प्रद्युम्न में तो वह बोध भी नहीं क्योंकि वह तो नागकुण्ड की पहाड़ियों पर जा बैठा है । दोनों के निर्वासन में मूलत: कहीं प्रेम के अभाव की पीडा तो है ही। सन्यासी में निर्वासन के लिये पश्चाताप नहीं है प्रत्युत सन्यासी होते ही वह तटस्थ होकर जन-कल्याण की बात करने लगता है । दूसरी ओर प्रद्युम्न का निर्वासन एक चहुंमुखी उदासीनता का कारण बनता है । इस सन्दर्भ में 'एक कण्ठ विष पानी' के शिव का निर्वासन का लक्ष्य किया जाय तो वह आत्म-भर्त्सना और पश्चाताप दोनों को कृता प्रतीत होता है, इच्छित फल की प्राप्ति न होने का दा रोष भी जो सन्यासी राजा ही नहीं, प्रद्युम्न की तुलना में भी उन्हें कहीं अधिक लघु बना देता है ।- 'देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़।मैंने क्या पाया---।निर्वासन। प्रेयसि वियोग !! हर परम्परा के मरने का विष मुझे मिला। हर सूत्रपात का श्रेय ले गये और लोग !' जो भी हो, असली राजा के सन्यासी होने के पीछे क्षुल्लक्षुद्र पूर्ण जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न होना है जिसके कारणवह सक्रिय राजनीति से दूर हो जाता है । राजा के चले जाने के बाद क्षोटे राजा का वध करने को कृत संकल्प सैनिकों को राजमाता द्वारा रोके जाना उस अहिंसक परंपरा को कायम करने का प्रयत्न है जो राजाविरासत में छोड़ गये हैं । यहां राजमाता का यह कथन-'यह रेखा जैसी हो। जो हो। निर्मित है उन्हीं से जो चले गये ।' स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय परिस्थितियों में उत्पन्न समस्याओं की ओर इंगित है जो हमेंविरासत में मिली हैं और जिन्हें नष्ट नहीं करना है, परिमार्जित करना है । राजमाता का क्षोटे राजा को बचाने का जो कार्य है, वह गांधी जी के 'पापी से नहीं, पाप से घृणा करो' वाले सिद्धान्त को प्रतिष्ठा करता प्रतीत होता है ।

छोटे राजा के प्रति उसका विरोध सृजनधर्मी प्रतिशोध बनकर समक्ष आता है- 'चलो हम आगे बढ़ें। हम जनता हैं। यह नगरी जिसकी रामाता मैं हूं। और वह पुरुष,। मेरे सीमन्त का सुहाग । हमें देकर गया है। जो भाव, जो शब्द। जो प्रतिनिधि उत्सर्ग । हम रक्षा करें उसकी ।' दूसरी ओर, होश में आया छोटा राजा खड्ग और राजमुकुट खोजता सत्ता-लोलुपता में प्रमत्त अधिनायक शक्ति का चित्र सामने रखता है ।

यहीं पर दूसरे अंक से प्रारम्भ हुआ वह अन्तराल दृश्य एक झटके सन के साथ टूटता है और सन्यासी का यह स्वर फिर सुनायी देता है ।'बहुत गहरी चोट है ।कहीं अन्तस में। बहुत गहरे, बहुत गहरे।कोई घाव है। जो कहीं दीखता नहीं। पर दरद है मरन सा। आओ चलें उस अन्तस में। दर्द का अन्तराल । इसी के साथ दूसरे अंक का दूसरा अन्तराल फिर सन्यासी की स्मृतियों में उभरने लगता है । यहां द्रष्टव्य है कि इस अंक के ये दोनों दृश्य प्रेम के जीवन जल के सूख जाने के दो प्रमुख कारणों को प्रस्तुत करते हैं- एक, सत्ता की राजनीति में प्रेम जैसे मानवीय सन्दर्भ का त्याग कर देना(जिसके कारण भाई भाई की हत्या करने में भी नहीं हिचकता है।) और द्वितीय, जो अब दूसरे अन्तराल -दृश्य में प्रस्तुत होने जा रहा है, दो प्रेमी हृदयों को राजनीतिक कुचक्र में पीस डालने का अमानवीय कृत्य । मानवता के नाम पर वे ऐसे अभिशाप हैं जो सरोवर के सूख जाने का औचित्य सिद्ध करते हैं । दोनों दृश्यों के मध्य वर्षों का अन्तर है जिसकी ओर इंगित स्वयं राजा भी करता है-' मैं नगरी का एक क्षात्र राजा। मेरे शासन के कितने वर्ष बीते । अपूर्व सत्ता मेरी । शासन के इतने वर्ष बाद भी यह राजा जनता के विश्वास को नहीं जीत पाया और सन्यासी हुए राजा के बढते प्रभाव से सुलग रही मौन क्रांति से भयभीत है । उसे विश्वास है कि यह क्रांति उस दिन फूट पडेगी जिस क्षण शासित स्वप्रज्ञा से जागकर अपनी बुद्धि पायेगा । राजनीति में जनक्रांति की ज्वालामुखी जिस प्रकार फूटती है- उसकी प्रकृति को यहां संकेतित किया गया है । नीति, जो शासन जनता को प्रदान करता है, का पर्दाफाश इसी क्रांति के दर्शन द्वारा हो जाता है । ऐसी जनक्रांतियों से जूझने का शोषक

शासकों का एक ही मार्ग रहा है- सैन्य संधियां जिससे एक साथ वे बाह्य व आंतरिक शक्तियों से स्वयं को सुरक्षित करने के लिये मैनापुरी के राजा से सन्धि ही नहीं कर रहा बल्कि इस सन्धि की कीमत वह राजकुमारी-अपनी ही पुत्री का विवाह मैनापुरी के राजा से करके चुकाना चाहता है । यहीं राजनीतिक वितण्डावाद की उस धुरी का बोध होता है जो राजकुमारी द्वारा चाहे गये पुरुष के साथ उसका सम्बंध स्थिर नहीं होने देती । राजनीतिक स्वार्थों द्वारा प्रेमी हृदयों को कुचले जाने का यह कृत्य कितना घृणित अथच आन्तरिक द्वन्द्व का हेतु है । यही वह पुरुष है जिसने गढ़ी के राजा से राजकुमारी को बचाया था, दूसरे शब्दों में संपूर्ण राज्य की स्त्री- मर्यादा की रक्षा की थी। उसी पुरुष को स्वयं राजा के आदेश से बन्दी बना लिया जाता है ।

सन्यासी की स्मृतियों में आनेवाले उक्त दो अन्तराल दृश्य 'सूखा-सरोवर' के मूल कारण तत्व को प्रकट करते हैं । कथा का बीज तत्व वस्तुत: यहीं है जब द्वितीय अंक समाप्त होकर तृतीय अंक का प्रारंभ होता है । दूसरी ओर, नाटक के वस्तु तत्व को खोलने की यह एक अभिनव युक्ति है जिसे भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र के में अन्तर सन्धि या सन्ध्यन्तर के नाम से अभिहित किया जाता है ।

तृतीय अंक के कार्य-व्यापार का सम्बंध प्रथम अंक से है । सूखे सरोवर के तट पर खडा सन्यासी (अन्तराल-दृश्य का असली राजा) उसका अन्तर्द्वन्द्व अन्तत: वृद्ध के शब्दों में उसके निर्वासन के अनौचित्य का प्रकट कर देता है-'निर्बलता। स्वार्थी। निजपरता। यथार्थ से। निष्क्रिय बनाकर। और खींचकर कहीं। ले गयी तुम्हें। उस गुफा में। अहं के। जिसके सब द्वार। बन्द हुये थे युगों से। सन्यासी का राज्य की बागडोर आततायी को सौंपने का परिणाम सत्य को भी पागल बना दिया जाना है । राजकुमारी तो उसी सत्य और प्रेम की रक्षा के लिये सरोवर में कूदकर डूब मरी।

आज जब उसका दु:खी स्वर `मिलन होय एक बार। मैं चकई बिनु पंख के ।` सरोवर की छाती पर सुनायी देता है तो जैसे नगर पर पड़ा अभिशाप और भी स्पष्ट हो जाता है । पुरोहित चिरन्तन प्रेम के संगीत का भी नामोनिशान मिटाना चाहता है और उसके स्वर से राज्य हरने के इस अतिक्रमण से क्रुध्द वृद्ध उसकी हत्या कर डालता है । जनक्रांति के बीज फूटना प्रारम्भ हो जाते हैं । निश्चय ही क्रांति के सूत्रपात करने के परिणाम स्वरूप वृद्ध को भी प्राणों की बलि देनी पड़ती है । सरोवर का नगर पर पड़ा अभिशाप शनै: शनै: नगर पर उतरने लगता है । भटकती आत्मा का स्वर और उसमें छिपी वेदनाकेसामने राजा का दण्ड-विधान भी नहीं टिक सकती । आत्मा की देह पर जितने भी दंश हैं वे जैसे नगर-निवासियों के दु:ख की कहानी कहते हैं । इसीलिये आत्मा कहती है-` मैं तुम्हीं में हूं ।घाव बनकर, औंधा घाव। जहां छुओगे मुझे। जरा भी स्पर्श दोगे। सच, अपने को छुओगे । औंधे घाव को`- तात्पर्य यह कि प्रेम-रहित नगरवासियों की आत्मा भी पीडा से पुकार रही है । पुरुष के प्रति राजकुमारी आत्मा को जो प्रेम है वह इतना निगूढ़ है कि पुरुष की हर पीडा उसकी अपनी पीड़ा बन जाती है-`आह ! लंगडी हो गयी मैं । नगरवालों ने। राजा ने तोड़ दिया बायां हाथ। दायीं टांग। मानवता पर होनेवाला हर प्रहार झेलने के लिये जो आत्मा अभिशप्त है वह उस कृष्ण की भांति है जिसे वे हर तीर चुभे हैं जो जीवन यथार्थ की शक्तियों ने निरीह मानवता पर चलाये हैं । पुरुष की पीड़ा का ऐसा ही प्रभाव राजकुमारी की आत्मा पर भी पडता है । यहां आत्मा के पुरुष के प्रति कहा गया हर सम्वाद वेनुरती द्वारा प्रद्युम्न को कहे सम्वाद का पूर्वाभास कराता है।`मेरे प्राण । मैं हर युग में पन्थ निहारती खड़ी रह जाती थी, तुम पथ पर चुपचाप बढ जाते थे । कभी ऋतु राज बनकर, कभी सूक्ष्म होकर---यह देखो मेरी बाहों में तुम्हारे शरीर का पराग। यह देखो मेरी आंखों में तुम्हारे सूक्ष्म का विप्रलम्भ।देखो मेरे वक्ष पर ये तुम्हारे आघात ।[१] प्रेम-विहीन इस नगर में सत्य भी विक्षिप्त हो गया

१- सूर्यमुख- अंक तीन, दृश्य सात पृ० ११२

है किन्तु उसके शब्द अन्तर की गहराइयों से निकल कर वस्तु-स्थिति समक्ष रख देते हैं । सत्ता निरंकुश तब होती है और प्रेम का सरोवर कब सूखता है-इसके उत्तर में पागल की `निष्क्रिय आदर्शों के नाम पर आत्मनिर्वासन द्वारा निरंकुश शासन को जन्म देनेवाली` बात सन्यासी को विप्लव का मूल कारण सिद्ध करती है । पागल के इन शब्दों में उन कोरे बुद्धि जीवियों पर व्यंग्य है जो निष्क्रिय बनकर, केवल वाचिक क्रान्ति की बात करते हैं और सक्रिय राजनीति से दूर उसके दोषों पर आंसू बहाते हैं -`त्यक्त। पराजित। निष्क्रिय। अपराधी। अविवेकी। अब सन्यासी बन आये जब सूख गयी नगरी। गैरिक वसन। धूल राख में। छिपने चले थे। और वाक्शक्ति से। सिद्ध करने बहले- चले हैं । सब कारण राजा है। और निरपेक्ष हैं यह । झूठे। प्रपंची। स्वार्थी ।` पागल के शब्दों में राजा का यह सन्यासी व्यक्तित्व खण्डित है वैसे ही जैसे स्कन्दगुप्त का जिसे अधिकार का बोध नहीं है, जो कुचक्रियों के हाथ पडे साम्राज्य को नियति का शाप मान लेता है और स्वयं निर्वासित हो यह कहता है-`अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है । अपने को कर्ता और नियामक समझने की बलवती इच्छा उससे बेगार कराती है । उंह । कुछ भी हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं ।[१] सत्य की यह प्रताडना सन्यासी के आत्म बोध को जगाती है, इस आप्त में स्व-कर्तव्य ज्ञान कराती है । नगरवासियों के साथ उसका सरोवर देवता का आह्वान और देवता द्वारा प्रतिश्रुत होकर उसका आत्मबलि के लिये प्रस्तुत होना उसके व्यक्तित्व में एक नये प्रायश्चितमूलक आयाम को जोडती है । नगर का राजा तो पूर्व ही नगर क्रोड़ मैनापुरी के राजा आश्रय में आ चुका है । पागल अपनी बलि देता है किन्तु वह तो सत्य का रूप है । इसलिये सत्य की बलि सरोवर के जीवन-जल को नहीं लौटा सकती । उसकी बलि तो उसकी अमरता का, प्रतीक बन जाता है । लेकिन क्या सन्यासी की बलि

१- स्कन्दगुप्त- जयशंकर प्रसाद ।

सम्पन्न हो पाती है- नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं से और प्रजा से भी कटा हुआ है । वह नगर का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। प्रतिनिधि होने का गौरव तो वह पुरुष ही करता है जो इस नगर में प्रेम के एक नये मन्वन्तर की स्थापना करता है, वह प्रेम के द्वारा नगर में ~~एक-नये-मन्वन्तर-की-स्थापना~~ एक नये युग को जन्म देता है । इसीलिये सन्यासी से पूर्व ही वह अपनी बलि देकर सरोवर-जीवन सरोवर की मर्यादा को स्थापित करता है और अपनी प्रेयसि से अभिसार पाता है ।

`सूखा सरोवर` एक अन्य परक नाटक है जिसमें मानव व्यक्तित्व के खंडित अंशों का चित्रण किया गया है । छोटा राजा निरंकुश अहं के कारण स्वयं में अपूर्ण है । सन्यासी व्यक्तित्व के उत्थान के एकांगी पक्ष को प्रस्तुत करता है । वह निर्वासित होकर अपने व्यक्तित्व को बहुआयामी नहीं बना पाता । नगरवासी जन में स्वविवेक ही का अभाव है- वे तो स्वयं दिशाहीन हैं । ऐसे में जो भी चाहे, उन्हें अपने प्रभाव में खींच लेता है । वे उस जनता की मनोवृत्ति की ओर इंगित करते हैं जिनका व्यक्तित्व निर्माण उनका नियन्ता बनाता है । उसी के इशारों पर वह नाचती है, उनकी वाचिक सान्त्वना पर ही अपना सर्वस्व दान करने को तैयार हो जाती है । इस दिशाहीन समाज को सक्रिय दर्शन देनेवाला है पुरुष और उसकी प्रेयसि । ये उस मानवता के पोषक हैं जो प्रेम द्वारा राजनीति व समाज को एक नया अर्थ देते हैं और जिनकी उपेक्षा राजनीति व सम्पूर्ण समाज के लिये मूल्यविहीनता को जन्म देता है । इस स्थिति में सत्य वचन भी प्रलाप ही समझा जाता है जो नाटक में पागल के अभिघटन से प्रकट किया गया है । यहां यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझा आता है कि नाटककार की कवित्वपूर्ण और इस कारण भावपूर्ण विषय-वस्तु का रूप स्थूल(concrete) न होकर सूक्ष्म (Abstract) हो जाता है । वस्तुत: डा० लाल के नाटकों पर यह रोमानी प्रभाव इस युग के नाटकों की प्रमुख विशेषता बनकर सामने आया है । मादा-कैक्टस में कला, `सुन्दर रस` में सौन्दर्य और `सूखा सरोवर` में प्रेम- ये तीनों तत्व नाटकों का विषय तत्व तो है ही, `प्रारंभिकलेखन` में व्यक्त तरुण लेखकीय मनोवृत्तियों का अंकन भी है ।

'सूखा सरोवर' में रंगमंच के काव्य तत्व का स्त्रोत उसका कार्य-व्यापार नहीं है, प्रत्युत वे रंग-निर्देश, अभिव्यक्तिमूलक दृश्य विधान और काव्य भाषा क्रम तत्व हैं जो नाटक की वस्तु की गहनता को व्यंजित भी कराते हैं और ऐन्द्रजालिक प्रभाव की स्थापना द्वारा नाटकीय कार्य को तरंगित भी करते हैं ।

नाटक के दृश्यों में वातावरण अपने पूर्ण प्रभाव के साथ व्यक्त हुआ है । प्रथम अंक का दृश्य विधान अनुकूल रंग-निर्देशों के बल पर वस्तुगत प्रभाव डालता है । अन्धकार की पर्त, अजब सन्नाटा जैसे श्मशान की काली रात - प्रकाश के व्यंजनामूलक प्रयोग से वातावरण की भयावहता तो स्पष्ट होती ही है, किसी अघट या अशुभ के घट जाने की भी सूचना प्राप्त हो जाती है । ऐसे में स्त्री के गेय स्वरों की प्रतिध्वनि सन्नाटे को चीरकर आती है । इस स्वर में छिपा जो दर्द है- वह 'मन का मोती', 'आंख का पानी', 'रूठ गया', ~~वस्तम-वस्त-की-करुणा-को-जगाने-में~~ 'किसने बांधा' शब्दों द्वारा प्रकट होकर सम्पूर्ण वातावरण में छा जाता है । भाषा वातावरणकी करुणा को जगाने में सहायक है । मटमैला प्रकाश इन्द्रजाल सा वातावरण प्रस्तुत करने के लिये है । प्रकाश में दिखायी देते हुए 'सूखे पेड़ पौधे', 'वृक्षों के ठूंठ'- सूखा सरोवर के नामकरणकी सार्थकता प्रकट करते हैं । 'सूखे सरोवर की अदृश्य व्यापकता में कहीं काल-सर्प छिपा बैठा है जिसके विषैले धुएं से मानों सन्नाटे का भी दम घुट रहा है, अस्पष्ट है । ये अमूर्त निर्देश मंच पर मूर्त होने के लिये एक लम्बी व्याख्या चाहते हैं- फलत: उनका औचित्य सिद्ध नहीं होता । प्रथम अंक में ही सरोवर देवता के आह्वान पर उसका प्राकट्य-प्रकाश और संगीत -दोनों की अपार सम्भावनाएं लेकर सामने आता है । प्रकाश का बहकर सूने सरोवर की ओर जाना, तीव्र आलोक का फैलाव, तूफान का गर्जन, वायु के थपेड़े और बीच-बीच में एक कांपती हुई प्रकाश र की रेखा- ऐसे गतिशील प्रयोग जो नाटकीय कार्य में एक साथ आरोह-अवरोह उत्पन्न करते हैं- अयथार्थ फार्म के लिये सार्थक हैं । इन प्रयोगों से उत्पन्नभय और राजा का उससे त्रस्त हो जाना नाटकीय

कार्य में आन्तरिक तनाव और फलस्वरूप एक तनिक ठहराव को जन्म देता है ।

नाटक का दूसरा अंक यद्यपि पूर्णत: यथार्थ बोध लिये है और तदनुकूल रंग निर्देश भी यथार्थ ही है किन्तु यह अंक और इसके दो अन्तराल सन्यासी की सुधियों(स्मृतियों) के अंग होकर आये हैं, फलस्वरूप इस अंक की स्र प्रस्तुति फलेश-बेक या अयथार्थ फार्म में ही कही जायेगी । यों प्रकट में स्मृतियों के चित्र इतना लम्बा बिना एक क्षण को भंग हुए सातत्य नहीं रख ते । अतस्व इतने लम्बे अन्त-रालों के कारण स्वाभाविकता में व्यवधान और एक अतिवादी कसाव शिल्प में दृष्टिगोचर होता है । ऐसे अन्तराल दृश्यों के लिये `उसने कहा था` का शिल्प द्रष्टव्य है क्योंकि वह स्वाभाविक भी है । वहां लहनासिंह के स्मृतियों के चित्र थोडी थोडी देर में उसके होश में आने के साथ टूटते रहते हैं । `वजीरसिंह, पानी पिला- उसने कहा था` के शब्दों द्वारा अन्तरालों का विभक्त होना प्राकृत लगता है जबकि `सूखासरोवर` में बिना रुके टूटे लम्बे समय तक अन्तराल दृश्य का चलना अस्वाभाविक व मानव स्मृतियों के उठने व समाप्त होने की प्रक्रिया के विरुद्ध है ।

तीसरे अंक म के अयथार्थ प्रयोग सरोवर की छाती पर, गहरे नीले प्रकाश के फैलने के साथ-साथ, सुनायी देते संगीत से प्रारम्भ होते हैं । नीला प्रकाश विषाद की व्यंजना करता है । अति प्राकृत तत्व के रूप में आत्मा का प्रवेश नाटक की अयथार्थता का एक और उदाहरण है । जो इस प्रकार के लोकगाथा-नाटक का अनिवार्य अपेक्षित अंग भी है । यद्यपि राजकुमारी उसकी प्रस्तुती से नाटकीय रहस्य की सृष्टि होती है । नाटक के अन्त में सरोवर में जल का भर आना और `मंच का सारा दृश्य जीवन की स्निग्धता एवं रसमयता से भव्य हो जाना` ऐसा निर्देश है जो कथागत या काव्यगत निर्देश हो सकता है, नाट्यगत नहीं । ऐसे निर्देश बुद्धिवादी नाटककारों में पर्याप्त मिलते हैं जो पाठक की क ल्पना जगाने के उद्देश्य से ही दिये जाते हैं ।- `---- डाक्टर साहेब इस पीढ़ी के उन

विकृत हृदय और विकृत मस्तिष्क युवकों में हैं जिन्होंने कि साहब बनने के शौक में संस्कार, चरित्र बल या ऐसी बातें जो मनुष्य को पशुत्व के ऊपर उठाये रखती हैं, छोड़ दिया है, जो प्रवृतियों के गुलाम हैं ।[१]

नाटक में निस्संदेह एक भव्य ईहा और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न है । उस ईहा को प्राप्त करने के लिये एक ओर नाटक की सभी सत शक्तियां हैं और दूसरी ओर निरंकुश राजा और पुरोहित जैसी असत शक्तियां हैं जिनकी परस्पर टक्कर होती है और अन्ततः `सत` की विजय होती है । किन्तु इनका संघर्ष कार्य व्यापार में छिपी गति में जितना प्रकट नहीं होता उतना प्रकट होता है उस करुणा और तंजन्य वातावरण के त्रासद बोध में जो अन्त तक नाटक को वलयित किये होता है । यह सर्वव्यापी करुणा-चरित्रों में, वातावरण में और वस्तु तत्व में - ही रंगमंच में लय उत्पन्न करती है । करुणा व्यापार के निर्देशन में ~~और-वस्तु-तत्व-में--ही-रंगमंच-में-~~ भी ऐसीअन्तर्हित गति हो सकती है जो क्रिया व्यापार को आगे बढ़ाती है- इस नाटक में देखने को मिलती है । नाटक की अन्तर्हित चेतना संघर्ष की नहीं बल्कि करुणा व्यापार की है । यही करुणा(भाषा के) काव्य का माध्यम लेकर दर्शक के साथ सम्प्रेष्य होने का प्रयत्न करती है और इसके लिये नाटक की दृश्य-योजना, रंग-तत्व आदि के कार्य करते हैं । तात्पर्य)यह कि यहां अभिनयात्मिका वृत्ति भाषा-सम्वादों में छिपी उस काव्याभिव्यक्ति से पूरित करुणा-व्यापार में है जो सारे वातावरण में छाया है । वे सभी दृश्य जिनमें अन्तर या बाह्य करुणा व्यापार द्वारा (संघर्ष द्वारा नहीं) रसोद्रेक हो रहा है- रंग का व्यत्व की अनुभूति देनेवाला अनिवार्य दृश्य हैं - सन्यासी की नगरवासी के साथ सरोवर देवता

१- आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच-से उद्धृत- पृ० ५६

२- नाटक साहित्य का अध्ययन- ब्रेण्डर मैथ्यूज-पृ० ६०

द्वारा अपनीदेह के घावों की बात करना, राजकुमारी द्वारा आत्महत्या और उसकी प्यासी आत्मा का विरहिन बनकर सागर की छाती पर तैरना और गति गाना, पुरुषक पर राजाद्वारा हो रहे अत्याचारों से आत्मा को पहुंचा कष्ट आदि ऐसे ही दृश्य हैं ।

वस्तुत: `सूखा सरोवर` अपनी रचना काल की समकालीन रची गयी काव्य-नाट्य शैलियों में लिखा गया नाटक है । किन्तु अन्य काव्य नाटकों की भांति इसमें छन्द का कोई विशेष मुहावरा प्रयुक्त न कर सहज रूप से काव्यानुभूतियों को प्रकट किये गये हैं । जहां `सुन्दर रस` में वर्णित मूल्यों के प्रश्न की गंभीरता का वहन उसकी हल्की फुल्की विषय वस्तु नहीं कर पाती वहीं `सूखा सरोवर` का मूल्य (प्रेमजिस गहरी अभिव्यंजना की अपेक्षा करता है उतनी गहराई को वहन करने की शक्ति उसके वस्तु तत्व में भी है ।

(आ) १९६१ से १९६५ तक के नाटक (कर्मक्षेत्र- दिल्ली)-उत्थान

५) रक्त-कमल :

`रक्त-कमल` का प्रकाशन सन् १९६२ में सर्वप्रथम हुआ था और अपने प्रकाशन के साथ ही इसका प्रथम मंचन नाट्य केन्द्र, इलाहाबाद द्वारा हुआ था । जिसमें डा० लाल ने नाटक के प्रमुख चरित्र कमल की भूमिका निभायी थी ।

लाल ने इस नाटक को युग-कवि सुमित्रानन्दन पन्त को समर्पित करते हुए लिखा है- वस्तु स्थिति के अनुरूप हमें नवयुग के आदर्शों की प्रतिमा निर्मित करनी होगी । दूसरे शब्दों में, नाटक के रचना काल तक लाल को वस्तु-स्थिति का ज्ञान होना प्रारम्भ हो गया था । यह वस्तु स्थिति क्या थी, इसकी चर्चा करते हुए स्वयं लाल ने एक स्थान पर उल्लेख किया है-`आखिर तुम्हारा युग क्या है? तुम्हारे

चारों ओर क्या है ? इसे पंख और वाणी दो न ! नहीं तो एक सौ वर्ष बाद का पाठक और लेखक तुम्हारे विषय में क्या सोचेगा ? नाटककार ही तो युग के दायित्व के साथ बन्धा है । 'मादा कैक्टस', 'सुन्दर-रस', और 'सूखा सरोवर' जैसे रोमानी पन को स्पर्श करते हुए नाटकों की प्रतिक्रिया में ही 'रक्त कमल' की रचना हुई है और अपने अयथार्थ प्रस्तुतीकरण के उपरान्त यह नाटक अपने उद्देश्य अथच सन्देश में पूरी तरह सामयिक है और सीधे सामाजिक व राष्ट्रीय मूल्यों से जुड़ा है ।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे कौन सी सामाजिक, राजनीतिक और समग्र रूप में राष्ट्रीय परिस्थितियां या पृष्ठभूमियां थीं जिन्होंने लाल को प्रेम, सौन्दर्य और कला जैसे अयथार्थ मूल्यों के आकाश से उठाकर राष्ट्र-चेतना जैसे यथार्थ मूल्यों की भूमि पर ला पटका और उन्हें 'युग के दायित्व' के प्रति सचेत किया ?

स्वतंत्रता के तुरन्त बाद हमारे समक्ष बड़ा प्रश्न यह था कि हम कैसे दो सौ वर्ष के उस सांस्कृतिक प्रभाव की अभिशप्त छाया को अपने ऊपर से हटायें जो अंग्रेज हमारे ऊपर थोपे गये थे और जिसके कारण हम अपने बहि और अन्तरंग रूप में सांस्कृतिक दृष्टि से अभारतीय हो चुके थे । इस अभारतीयता को दूर करना और अपनी ही परंपराओं से अपने आदर्श को समक्ष रखना आवश्यक था । राष्ट्र की यथार्थ सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण उतने महत्व का विषय नहीं था जितने महत्व का यह कि हम विचारों और कर्म से संस्कृति भ्रष्ट जनता को एक पूर्ण आदर्श का दिग्दर्शन दें जो जनता के आत्म गौरव के भाव को बार-बार कुरेदे और उसे परंपराओं के अतीत गौरव के रूप में ही नहीं बल्कि 'परंपराओं के सतत पालन करने की स्थिति में इस देश की मानसिकता को ला सके । साहित्यकार और उसमें

1- रक्त कमल- पृ0 21

भी नाटककार के 'युग के दायित्व' से बंधे व्यक्तित्व की यह प्रथम कसौटी थी। इस कसौटी पर स्वातंत्र्योत्तर कतिपय नाटककारों ने ऐसे आदर्शों की अपने नाटकों में प्रतिष्ठा की- यहां नाटककारों का अधिकांश इस समय युग की विकृतियों को चित्रण में ही लगा हुआ था। 'मिथक' नाटकों की शैली भी पूरी तरह उभरकर सामने नहीं आयी थी। अतएव संपूर्ण आदर्श का प्रतिपादन करने वाले नाटककारों की गिनती कम ही है जो किसी राष्ट्रीय चरित्र (चाहे वह काल्पनिक हो या यथार्थ) को उसके ऐतिहासिक गौरव के रूप में नहीं बल्कि सांस्कृतिक गौरव के रूप में उभारने का प्रयत्न करें। ऐसे नाटककारों में वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'वीरबल' लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'कवि भारतेन्दु', सेठ गोविन्ददास कृत 'कवि भारतेन्दु' और कवि रहीम कृत व 'महाप्रभु वल्लभाचार्य' एवं आचार्य चतुरसेन कृत 'पगध्वनि' और 'मृत्युंजय' (गांधी जी के जीवन से सम्बंधित) प्रमुख हैं। ये नाटक केवल जीवनी नाटक के रूप में नहीं पहिचाने जाने चाहिये। क्योंकि इनका उद्देश्य इन्हें ऐतिहासिक पुरुष के रूप में सामने लाना नहीं है प्रत्युत उन्हें सांस्कृतिक गौरव के आधार स्तम्भ के रूप में प्रकट किया जाना है जिससे स्वातंत्र्योत्तर भारत की जनता को अपनी परम्पराओं के गौरव का अनुभव हो सके। लाल का 'रक्त कमल' इस दृष्टि से उक्त नाटकों की परम्परा में ही आता है किन्तु जहां उपर्युक्त नाटककारों ने सम्पूर्ण आदर्श के लिये अपनी परम्परा से बने बनाये सांचे ग्रहण कर लिये वहां डा० लाल ने कमल जैसे चरित्र के रूप में अपने सांचे को स्वयं गढ़ा है।

स्वतंत्रता के पश्चात राजनीतिक से लेकर सामाजिक स्तर तक जिस पूंजीवादी मनोवृत्ति ने संपूर्ण देश को ~~ग्रस-लिया~~ ग्रस लिया वह भी एक राष्ट्रव्यापी प्रश्न था जिसके लिये समकालीन साहित्य में जन-चेतना को आह्वान करने की आवश्यकता थी। बिना इसके पूंजीवादी प्रवृत्तियों का जनशक्ति पर हावी हो जाना अवश्यंभावी था। शोषक और शोषित के जो दो वर्ग हमारे समाज में शताब्दियों से रहे हैं, द्वितीय विश्व युद्धोत्तर परिस्थितियों में अधिक उभरकर सामने लगे। एक

ऐसा वर्ग देश की निर्धनता के अन्दर से शीघ्र उठ खड़ा हो गया जो सामाजिक समानता की बात करने लगा । 1947 से 1962 की भारतीय विदेश नीति पर एक दृष्टि डालने से वर्ग-संघर्ष और जन-चेतना की पृष्ठभूमि का ज्ञान होता है । वस्तुत: गुटनिरपेक्षता की नीति का सिद्धान्त अपनाने पर भी उक्त आलोच्य-काल में भारतीय विदेश नीति व्यावहारिक कारणों से कभी अमेरिका और कभी रूस की ओर झुकने को बाध्य बनी रही । 1947 से 1950 तक तो हमारी राजनीतिक और सामरिक व्यवस्था पर पश्चिमी प्रभाव पूरी तरह छाया रहा । फलत: पश्चिमी जर्मनी को मान्यता देने और कोरियाई युद्ध में उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी सिद्ध करने के पीछे पश्चिमी प्रभाव ने कार्य किया । लेकिन शनै: शनै: पाकिस्तान-अमेरिका सैनिक सन्धि और गोवा के स्वातंत्र्य प्रश्न पर अमेरिका द्वारा पुर्तगाल को समर्थन दिये जाने के परिणामस्वरूप भारतीय विदेश नीति रूस से प्रभावित होने लगी । आन्तरिक राजनीति पर इसका प्रभाव तब देखने में आया जब 1957 के निर्वाचन में केरल में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई । तात्पर्य यह कि एक साथ कभी पश्चिमी और कभी साम्यवादी प्रभाव से भारतवर्ष में दक्षिण पंथी और वामपन्थी- दोनों प्रकार की विचारधाराओं ने जन्म लिया । चूंकि भारत युद्धोत्तर परिस्थितियों में आर्थिक विपन्नता का शिकार हुआ था, अतएव यहां साम्यवादी विचारधारा को पनपने का अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ । तत्कालीन हिन्दी साहित्य में साम्यवादी चेतना का यह स्वर कार्लमार्क्स व लेनिन की क्रांति का सन्दर्भ लेकर उभरने लगा । यहां इस स्वर को लेकर चलने वाले साहित्यकारों में भी एक मौलिक अन्तर देखा जा सकता है । एक वे थे जो मार्क्स व लेनिन के 'मानस -पुत्र' बनकर इसी सिद्धान्त के प्रचारार्थ साहित्य लेकर सामने आये । राष्ट्रीय समस्याएं उनके साहित्य का मूल नहीं थीं, वे तो उनके सिद्धान्त प्रतिपादन का माध्यम थीं । उनके साहित्य में देश के सांस्कृतिक उत्थान व पारम्परिक सन्दर्भ नहीं मिलता था । जो वर्ग-संघर्ष और समानता की बात करने पर भी अपनी देशव्यापी समस्याओं के समाधान को मूल लक्ष्य बनाये । इसीलिये ये साहित्यकार मार्क्स के 'मानस-पुत्र' की संज्ञा पाते हैं । इनसे विपरीत जो निर्धनों के उत्थान की बात करते हुए भी

शोषक के हृदय-परिवर्तन की बात कहते थे। जो आर्थिक समानता के साथ-साथ मानवीय मूल्यों की भी प्रतिष्ठा करना चाहते थे और नैतिक प्रतिमानों पर ही सामाजिक समानता को स्थापित करना चाहते थे, वे साहित्यकार इतिहास की आर्थिक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्यों आदि की स्थापना करने पर भी वाद-निरपेक्ष बने रहे। यही प्रवृत्ति डा० लाल के नाटक 'रक्त कमल' में उभरी है। इसीलिये यह नाटक बाहर से सैद्धांतिक मतवाद का बायस दिखने पर भी अन्दर से सांस्कृतिक उत्थान का उद्देश्य लिये है। कमल का गीत- जागे नव-भारतेर चेतना, एक जाति, एक प्रान,एकता' वही सांस्कृतिक उत्थान है। समाज और संस्कृति के ऊपर विजातीय परम्पराओं से प्राप्त ज्ञान की जो धूल जमी है, उसे साफ करना 'रक्त कमल' का उद्देश्य है, राजनीतिक मतवाद विशेष की स्थापना करना उसका अभीष्ट नहीं है। कमल के चरित्र में नाटककार का वह उद्देश्य अधिक स्पष्ट होता है। इस रूप में लाल का यह नाटक वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'नीलकण्ठ', दयानाथ झा कृत 'कर्मपथ' या शम्भुनाथ सिंह कृत 'धरती-आकाश' जैसे नाटकों की कोटि में नहीं रखा जा सकता जिसका उद्देश्य मजदूर चेतना को साम्यवादी मुहावरे के अन्तर्गत उभारना मात्र है।

'रक्त कमल' का वस्तु-तत्व केन्द्रोन्मुखी न होकर विस्तारक है। वह चरित्र के क्रमिक उदघाटन के साथ-साथ सामाजिक संघर्ष की पृष्ठभूमि तैयार करता है। वस्तु तत्व में जो कार्य की गति है, वह चरित्र-विधान द्वारा ही है, चरित्र में निहित विचार-तत्व द्वारा यहां दर्शकों तक चरित्र में निहित विचार तत्व को पहुंचाने के लिये नाटककार ने केवल भाषा को माध्यम बनाया है। इस प्रकार दोहरे माध्यम द्वारा वह अपने विचारों को दर्शक तक पहुंचाना चाहता है- चरित्र एक माध्यम है और उसके द्वारा प्रस्तुति की भाषा दूसरा माध्यम। विचार-तत्व में कार्यमूलकता होने के कारण उस विचार की प्रकृति है। यहां नाटककार जिस विषम राष्ट्रीय परिस्थिति का अंकन कर रहा है व उससे संघर्ष कर रहा है, वह अपने आप में

द्वन्द्वात्मक है। फलत: नाटक में ऐसा विचार तत्व बोझिल नहीं हो पाता। लेकिन भाषिक माध्यम द्वारा चरित्र को आधार बना विचार-तत्व को दर्शकों तक पहुंचाने की प्रक्रिया लम्बी है। वह नाटक की घटनाओं के साथ-साथ नहीं पाती। फलत: दर्शक विचार-तत्व को समझने के लिये पीछे रुक जाते हैं, नाटक आगे बढ़ जाता है, द्वन्द्वमूलक विचार तत्काल दर्शकों पर प्रभाव नहीं डालता प्रत्युत चर्चा की अपेक्षा करता है। इसका कारण विचार तत्व की प्रभावोत्पादकता की धीमी प्रक्रिया है। इसके विपरीत जिन नाटकों में कार्य व्यापार की प्रधानता होती है वे दर्शक तक शतपत्र भेदन न्यायवत पहुंच जाते हैं। नाटक की इस शिल्पगत शिथिलता पर नाटक-कार का ध्यान अवश्य गया दिखता है। जिसकी क्षतिपूर्ति के लिये उन्होंने 'नाटक के अन्दर नाटक' का विधान किया है। इस भीतर के नाटक में विचार-तत्व कार्य- व्यापार का सहायक होकर प्रकट हुआ है, बाहर के नाटक की भांति नहीं जहां कार्य- व्यापार विचार-तत्व की अन्त: प्रकृति बनकर प्रकट हुआ है जिसके कारण वह विचार तत्व का सहायक है।

नाटक का वस्तु तत्व समाज के उच्च व निम्न, दोनों वर्गों से स्पर्श होकर आगे बढ़ता है किन्तु उसका कार्य क्षेत्र प्रारम्भ है उच्चवर्गीय समाज से ही। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और नैतिक स्तर पर यह जीवन मूल्यों के अव-मूल्यन का चित्रण भी करती है और उनके उत्थान का प्रयत्न भी। ऐसे में यह नाटक नागर-धारा वाली मानसिकता से निकला नाटक है।

नाटक का नायक कमल विदेशों में पांच वर्ष रहकर अपने देश के प्रति अपमान भोग कर लौटा है। उसे अनुभव हुआ है कि हमारा देश पिछड़ा है, यहां की आबादी का अधिकांश निरक्षर निरक्षण और गरीब है। दूसरी ओर देश का एक छोटा सा वर्ग है- जो पूंजीपतियों की श्रेणी में आता है किन्तु जिसकी संख्या मुट्ठी भर है। यह सामाजिक और आर्थिक असमानता जिसके कारण देश विकास नहीं कर पाता। यही कमल की चिन्ता का विषय है। पूंजीपतियों द्वारा निर्धनों पर शोषण किया जाना उसकी आन्तरिक वेदना का कारण है। कठिनाई यह है कि जिस सामाजिक व्यवस्था का वह विरोध करता है, उसका बीज उसके घर में ही है। कमल के बड़े भाई महावीरदास की इलाहाबाद और नैनी में कास्मोटिक्स की

इण्डस्ट्रीज है और इनसे वह हजारों मजदूरों को रोटी दिये जाने का दावा करता है। कमल ऐसे गरीब देश में कास्मेटिक्स की इण्डस्ट्री खोलना भी देश का अपमान समझता है। वह अपने भाई महावीर की पूंजीवादी मनोवृत्ति से परिचित है। महावीर ने स्वार्थ सिद्धि के लिये एक निर्धन की भूमि को हस्तगत करने के लिये उसकी हत्या करा दी जिसका मूक प्रतिशोध आज भी उस व्यक्ति की निर्धन कन्या अमृता और उसका भाई कनु ले रहे हैं। यही वह महावीर है जिसके दरबान बिल्लू सिंह को पिटवाकर निकलवा दिया गया, फलस्वरूप बिल्लूसिंह डाकू बन गया। महावीर ने ही भूतपूर्व एम०एल०ए० को आठ हजार रूपये घूस देकर इनकमटैक्स माफ कराना चाहा था किन्तु केस पकड़े जाने पर एम० एल० ए० महोदय के स्तीफे दिये जाने के बाद अब दूसरे एम० एल० ए० इन्द्रजीत को इलेक्शन लड़ने में मदद दे रहा है। यही महावीर आगे जाकर सोनापुर गांव वालों पर डाकुओं का हमला कराता है क्योंकि इन गांव वालों ने इन्द्रजीत का विरोध किया था। इन सभी कुचक्रों को क्रियान्वित करने वाला है उसका पालतू नौकर गुरुराम। कमल अपने ही घर से सामाजिक संघर्ष की बुनिद रखता है और एक-एक करके षडयंत्रों का पर्दाफाश करता है। इसके लिये वह शोषित वर्ग में चेतना का मंत्र भी फूंकता है। वह अपने साथियों के साथ दो बार राष्ट्र की सही तस्वीर प्रस्तुत करने वाला नाटक भी खेलता है और इस प्रकार हमारे नेताओं द्वारा देश-विकास के लम्बे-लम्बे आंकड़ों और योजनाओं का कच्चा चिट्ठा खोल देता है।

समाज के स्तर पर संघर्षशील बनने के लिये कमल को इस परिवार की सीमासे बढ़ने की आवश्यकता का बोध होता है। फलतः वह अपनी मां और परिवार का मोह त्याग कर समाज व देश की सेवा के लिये निकल पड़ता है। पीछे छोड़ जाता है अपने भतीजे नन्हें पप्पू के रूप में ऐसा अगस्त्य जो स्वदेश का भविष्य है और जो मानवता का प्रकाश लौटायेगा। स्वार्थ, द्रोह, विश्वासघात, विघटन और मूल्यहीनता के विषाक्त जीवन समुद्र को सोखकर।

नाटक में तीन अंक हैं जिनमें क्रमशः दो व दो दृश्य हैं। दूसरा अंक स्वयं में पूर्ण व दृश्यरहित है। तीनों अंकों की घटनाओं को इस प्रकार देखा जा सकता है :-

प्रथम अंक- प्रथम दृश्य- अमृता द्वारा महावीर के लान में दीपक जलाना और महावीर द्वारा निषेध करने पर अमृता द्वारा इस खेत के लिये उसके दादा की हत्या किये जाने की बात कहना। गुरुराम व डा० देसाई के परिचय के साथ नये एम० एल० ए० के सम्मान में मीटिंग की सूचना गुरु द्वारा दिया जाना, साथ ही महावीर द्वारा कमल के व्यक्तित्व के सम्बंध में सूचना।

द्वितीय दृश्य- 'नाटक के भीतर नाटक' - एम० एल० ए० का भाषण व कमल द्वारा 'राष्ट्र की दुर्निवार स्थिति के चित्रण वाले नाटक' का समान्तर चलना।

द्वितीय अंक- महावीर के कुत्तों का कमल द्वारा गाँव वालों को बताया जाना जिसकी सूचना से महावीर का अविग्न होना, कमल व महावीर के मध्य वाक् संघर्ष।
सोनापुर गाँव में चौधरी के घर डाके का समाचार सुन कमल का गाँव प्रस्थान।
गुरुराम द्वारा सोनापुर डकैती में घायल हुए डाकू बिल्लूसिंह को इलाज के लिये डा० देसाई के पास लाना व भय के बल पर दवा कराना। डा० देसाई और कमल द्वारा गुरु के षड्यंत्र को पहचान लेना। महावीर के पप्पू प्रवेश और कमल द्वारा उसे अगस्त्य नाम से परिचित कराया जाना।

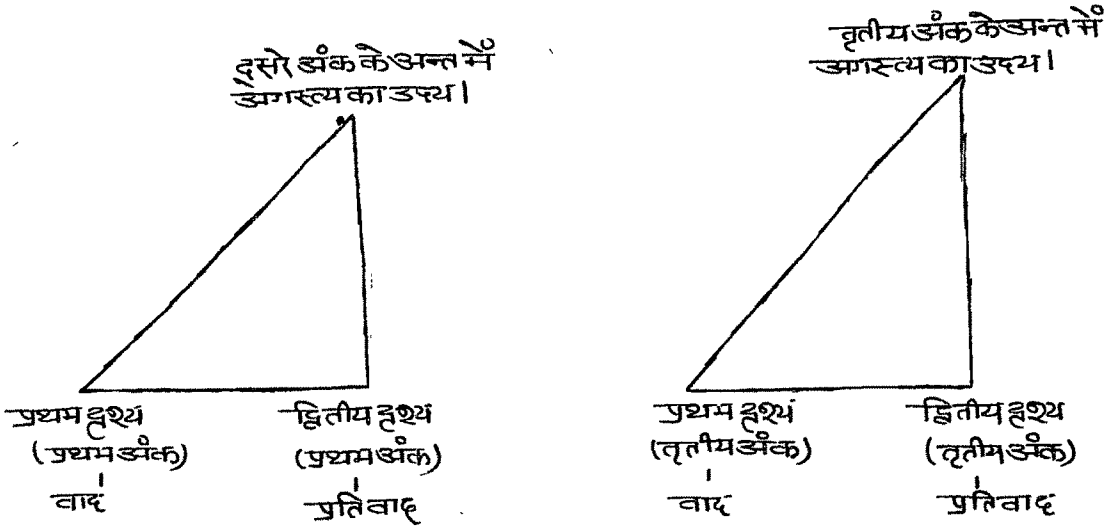
तृतीय अंक- प्रथमदृश्य- डा० देसाई द्वारा गुरुराम के कुकृत्यों का महावीर के समक्ष उद्घाटन- इन्द्रजीत के बाई-इलेक्शन में जीत किन्तु सोनापुर गांव द्वारा इस एम० एल० का विरोध करने के कारण उन पर डाका, अहल गांव में साम्प्रदायिक दंगे, जमुना-पट्टी में ब्राह्मण-अब्राह्मण लड़ाई, कृषि कालेज में हिन्दू-क्रिश्चियन झगड़ा, इण्डस्ट्री में किसान-मजदूर दंगे।

अगस्त्य को कमल द्वारा नवक्रान्ति के लिये तैयार करना (गांव का भ्रमण कराना)
कमल के नाटक के शेष हिस्से का मंचन (नाटक के अन्दर नाटक)
कमल की प्रेरणा से हृदय- परिवर्तन।

दूसरा दृश्य- कमल द्वारा घर को छोड़ समाज-सेवा का व्रत लेना।
एम० एल० ए० इन्द्रजीत का कमल से सामना व अपनी सफलता के पीछे गुण शक्ति की मदद के लिए गुरुराम को दोषी ठहराना। गुरुराम द्वारा आत्मानुभव व हृदय- परिवर्तन।
कमल द्वारा अगस्त्य को मानवता के प्रकाश का सन्देश देना और स्वयं समाजसेवा हेतु निकल पड़ना।

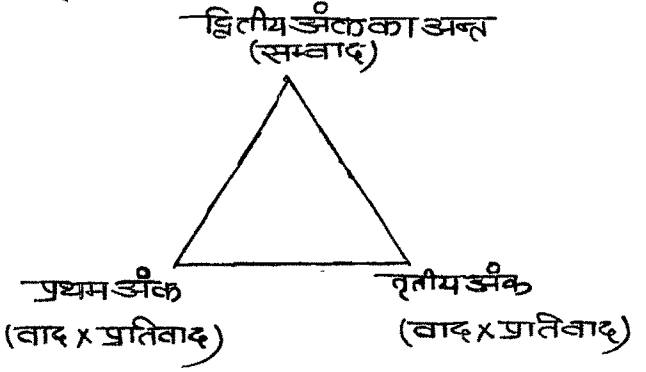
तीन अंकों के उपर्युक्त कार्य व्यापार को देखकर यह स्पष्ट होता है कि प्रथम अंक का प्रथम दृश्य परिचयात्मक है और महावीर के चरित्र की रेखाओं पर प्रकाश डालते हुए पूंजीवादी समाज के चरित्र को उभारता है। इसी तथ्य को दूसरे दृश्य में विस्तार दिया जाता है जब कमल द्वारा 'नाटक के अन्दर का नाटक' (इसे शास्त्रीय शब्दावली में 'गर्भाङ्क' कहा जाना उपयुक्त होगा) खेला जाता है। यहां नाटक के साथ एम० एल० ए० का भाषण भी चलता है जो एक साथ द्वन्द्वात्मक स्थितियों जैसे

के निर्माण के कारण है। द्वितीय अंक में महावीर व गुरुराम के चरित्रों का उद्घाटन जैसे कमल के लक्ष्य का मार्ग खोलता है और वह अगस्त्य पीढ़ी को सिन्थेसिस के रूप में प्रकट करता है- शोषक परम्परा के मध्य उठा शोषित को अभय दान देनेवाला स्वर। इस प्रकार दूसरे अंक के अन्त तक महावीर व कमल के द्वन्द्व के परिणाम रूप में अगस्त्य तैयार हो जाता है। तीसरे अंक के प्रथम दृश्य में घटा 'नाटक के अन्दर नाटक' का नाटक और डा० देसाई द्वारा गुरुराम के कुकृत्यों का भण्डा-फोड़ ही कमल को समाज-सापेक्ष हो जाने को प्रेरित करता है। इसे दूसरे दृश्य में दर्शाया गया है। यह पुनः एण्टीथीसिस है गुरुराम आदि द्वारा किये गये कुकृत्यों की थीसिस का जिसे डा० देसाई व्यक्त करते हैं। इन दोनों द्वन्द्वात्मक कार्यों का परिणाम अगस्त्य के हाथ राष्ट्र के भविष्य को सुरक्षित क्रोड देने का कमल का कार्य है। प्रथम अंक के दोनों दृश्यों का विरोधी द्वन्द्व दूसरे अंक में अगस्त्य रूप में देश का भविष्य बनकर प्रतिष्ठित होता है और तीसरे अंक पे के दोनों दृश्यों का द्वन्द्व पुनः दूसरे दृश्य के अन्त में अगस्त्य के ही रूप में फलागम पाता है। तात्पर्य यह कि प्रथम अंक व तृतीय अंक के दोनों दृश्यों के द्वन्द्व का सिन्थेसिस दूसरे अंक के अन्त में है- अगस्त्य के आगमन के रूप में। कार्य-व्यापार के इस द्वन्द्व को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है -



यहाँ ध्यातव्य है कि तृतीय अंक के अन्त में कमल द्वारा अगस्त्य को विषाक्त समुद्र

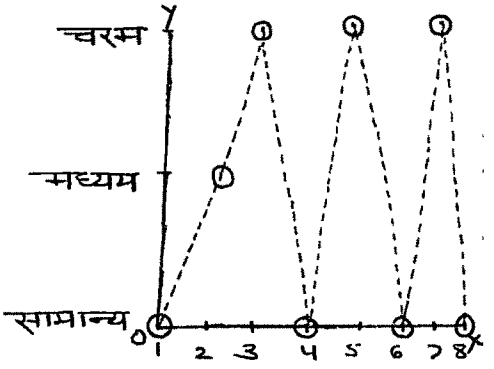
को सोख लेने का जो संकेत है वही दूसरे अंक के अन्त में भी है। ऐसे में, क्योंकि अगस्त्य क से हमारा परिचय द्वितीय अंक के अन्त में होता है, नाटक के मूल संवाद (Synthesis) को वहीं मानना उपयुक्त है। नाटक का द्वन्द्व प्रथम और तृतीय अंक में अन्तर्हित दो दो दृश्यों में विस्तार पाता है और दूसरे अंक में उस द्वन्द्व का फलोदय हो जाता है। इसे निम्नांकित चित्र में और भी स्पष्ट किया जा सकता है -

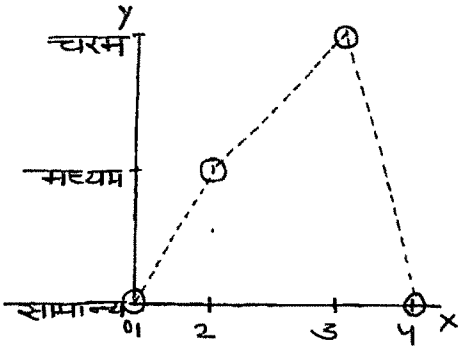


क्रमिक विकास की दृष्टि से दूसरे अंक में फल की स्थिति का औचित्य भले सिद्ध न हो किन्तु यह नाटक के क्रिया-व्यापार की संरचना और शिल्प की जमावट है जिससे प्रथम व तृतीय अंक के संघर्ष के मध्य दूसरे अंक में 'मानवता के प्रकाश' का संचार है। सम्भवत: यही कारण है कि जहां प्रथम व तृतीय अंक में दो दो दृश्यों का विधान है वहां द्वितीय अंक में ऐसा कोई दृश्य ही नहीं।

जैसा कि स्पष्ट कहा गया है, नाटक के अन्दर घटे नाटक में विचार-तत्व कार्य-तत्व का सहायक बनकर प्रकट हुआ है जबकि बाहर के नाटक में कार्य- तत्व विचार-तत्व की अन्त: प्रकृति बनकर आया है। इसीलिये दर्शकों के रुचिगत उतार-चढ़ाव के मूल्यांकन का प्रश्न सामने आता है तो वह विचार-तत्व की प्रधानता वाले अंशों (अर्थात् बाहरी नाटक में) में नहीं देखा जा सकता क्योंकि वहां कार्य-व्यापार में सपाटपन ही देखने में आता है। इसीलिये 'रक्त कमल' में भी दर्शक रुचि को आंकने के लिये 'नाटक के अन्दर नाटक' (गर्भांक) को ही कसौटी बनाना

उचित होगा । इस अन्तर्हित नाटक का कार्य-व्यापार निश्चय ही अभिनय में अपने उतार-चढ़ाव द्वारा लय उत्पन्न करता है -





अंक संकेत -

1- फटे व निर्जीव पुरुष देवता और बेवकूफ द्वारा पक बम-- गीत गाना । राहगीर का प्रवेश।

2- पुरुष देवता को देह राहगीर का सभय गिर पड़ना ।

3- प्रकाश की खोज में घूमती व्याकुल स्त्री का प्रवेश व प्रस्थान ।

4- तीन वर्णों द्वारा देवता को मुक्त करने का असफल प्रयत्न ।

5- शूद्र स्त्री द्वारा मुक्ति के प्रयत्न का शेष वर्णों द्वारा विरोध ।

6- राहगीर बने व बेवकूफ का सो जाना व बुद्धू द्वारा आकर देवता को मुक्त करना ।

7- देवता का वृद्ध को रोकना ।

8- देवता का वृद्ध को रोकने में असफल होना एवं थककर बैठ जाना-पृष्ठभूमि में एम0एल0 ए0 का भाषण सुनायी देना ।

अंक संकेत -

1- मुसाफिर व बेवकूफ का वार्तालाप व बेवकूफ का आत्म विस्मृति ।

2- पुरुष देवता व लड़के का प्रवेश-देवता का लड़के पर आश्रित होना ।

3- लड़के द्वारा देवता से प्रश्न व मन्त्रवत जवाब देते हुए अचानक लड़के द्वारा धक्का दिया जाना ।

4- महावीर व गुरुराम का आकर नाटक को भंग करना ।

नाटक के कार्य-व्यापार में प्रच्छन्न एक भव्य मानवीय इहा है जो कमल के इन शब्दों में प्रकट होती है -'--- मानवता का प्रकाश, उसकी समानता, एकता और मनुष्य का गौरव इतिहास के इस भयानक समुद्र ने अपने भीतर घूंट लिया है। इसके बाहर केवल स्वार्थ, द्रोह, विश्वासघात, विघटन और मूल्यहीनता का क्षुब्ध हाहाकार सुनायी दे रहा है। मेरे नये आस्त्य ! तुम्हें इस विषाक्त समुद्र को सोखना है ताकि हमें मनुष्य का विलुप्त प्रकाश, उसकी समानता, एकता और उसका गौरव वापस मिल सके।[1] इस इहा को प्राप्त करने में नाटक का चरित्र स्वयं आगे बढ़कर कार्य करता है और अन्य को भी प्रयत्न हेतु प्रेरणा प्रदान करता है। नाटक का कार्य भविष्य की असीम सम्भावनाओं तक फैला हुआ है। फलत: उसका क्षेत्र व्यापक है। प्रस्तुत नाटक समकालीन राष्ट्रीय परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा गया है। अतएव 'इहा' के प्रयत्नों के पीछे यहां तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लेकिन चूंकि यहां नाटक का कार्य व्यापार और विचार तत्व एक दूसरे में गूंथे चलते हैं, अतएव कार्य व्यापार में वह गति चिन्तन के धरातल पर हो जाती है। विचार -तत्व के कार्य व्यापार पर हावी होने की इस स्थिति को नाटककार ने भी अनुभव किया है इसीलिये विचार-तत्व को कार्य-व्यापार में स्पष्ट रूप से मूर्त करने के लिये 'नाटक के अन्दर नाटक' का विधान किया गया है। कमल के सम्भाषणों में देश, इतिहास, ~~निकि~~ निष्क्रिय जनशक्ति, आन्तरिक विघटन, बाह्याडम्बर का जो विवेचन हुआ है वही पुरुष देवता, राहगीर, बेवकूफ आदि के रूप में मूर्त हो गया है। कमल द्वारा खेले गये नाटक का यह शिल्पगत औचित्य है। इस नाटक में विरोधी इहाओं के संघर्ष वाले दृश्य हैं और राष्ट्रीय चेतना के दृश्यों में आन्तरिक अन्विति है। वस्तुत: काव्यत्व का बोध एवं अभिनयात्मका वृत्ति के गुणों का समावेश इसी नाटक के अन्दर खेले गये नाटक में है। यहां यह द्रष्टव्य है कि कमल के अन्दर जिस चेतना का जन्म हो रहा है, उसके प्रस्तुतीकरण की प्रकृति अयथार्थवादी है, और भी अति नाटकीय है- इसका कारण कमल का 'मिथकल चरित्र' है। विषय की गहनता को प्रकट करने के लिये इस प्रकार का फार्म आवश्यक भी था- क्योंकि ऐसे विषय केलिये यथार्थवादी फार्म का प्रयोग करने

1- रक्त-कमल-पृ0 113

पर नाटक 'मेलोड्रेमेटिक' हो जाता । इसीलिये प्रयुक्त अयथार्थ फार्म के साथ नाटक की तथाकथित अति नाटकीयता का तालमेल आसानी से बैठ जाता है । चरित्र गत मनोभाव, द्वन्द्व और उनकी आन्तरिक शक्ति की अभिव्यक्ति के लिये नाटक का अयथार्थवादी होना नाटक की अनिवार्यता है । 'रक्त कमल' के अयथार्थवादी फार्म के कारण शिल्प यहां भी प्रयोगवादी है (नाटक के अन्दर खेले नाटक वाले दृश्य यहां उल्लेखनीय हैं) किन्तु 'मादा कैक्टस' की भांति केवल शिल्पगत ही नहीं प्रत्युत वस्तु-उद्घाटक भी है ।

अयथार्थवादी रंगरूप के प्रश्न के साथ ही जुड़ा है प्रश्न नाटक में प्रयुक्त भाषा और सम्वाद का । 'रक्त कमल' के अन्य चरित्रों की भाषा और सम्वादों में शब्दों का भावों के साथ और क्रिया के साथ जो मेल है, वह भाषा-सम्वादों में नाटकीयता के तत्व का समावेश करती है । वह पात्र या चरित्रों की प्रकृति के अनुकूल सभी है । हृत सर्वस्व अमृता और कनू की अभिव्यक्ति में एक मूक विद्रोह और चेतना की चिनगारी का संकेत मिलता है, महावीर की अभिव्यक्ति में आस पास घट रही घटनाओं की प्रतिक्रिया में व्यग्रता दृष्टिगोचर होती है किन्तु कमल के सामने उसकी अभिव्यक्ति में न जाने क्यों तर्कहीनता और बहस से पलायन की वृत्ति अनुभव होती है -

कमल- यह देश नहीं, यह देश का केवल भूगोल है । अपना देश क्या है ?

महावीर- देश माने भारतवर्ष ।

कमल- भारतवर्ष देश नहीं, भारतवर्ष तो एक झूठा इतिहास है । देश क्या है ?

महावीर- देश माने भारतवर्ष ।

कमल- भारतवर्ष देश नहीं, भारत वर्ष तो एक इतिहास है । देश क्या है ?

महावीर- (चुप है)

कमल- देश है, हम तुम, ये सब लोग। यहां की तैंतालिस करोड अस्सी लाख जनता । उसकी भूख, गरीबी, गन्दगी,उदासी और उसका घोर असन्तोष। जिसके रक्त में इतिहास ईश्वर की मर्जी का, भाग्य का, जाति और फूट का कीड़ डाल गया है ।

महावीर- (उपेक्षा से) फुलिश एण्ड वाइल्डिश ![1]

~~कम्-ने~~ कमल के चरित्र के उत्थान के लिये उसके विपरीत चरित्र महावीर को अभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर न देकर नाटककार ने अन्याय ही किया है।

गुरु के कथन में उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति में कमल के प्रति जो विद्रोह है, उससे ऐसा प्रतीत होता है मानों कमल की एण्टी-थीसिस वह है, महावीर नहीं। डा० देसाई की अभिव्यक्ति सन्तुलित है और कमल की मां की भावुकतापूर्ण।

चाहे मूल नाटक हो अथवा नाटक के अन्दर खेला गया नाटक-सम्वादों में तार्किकता का अभाव है क्योंकि नाटककार प्रत्येक स्थान पर युग-सत्य और उससे प्रेरणा प्राप्त मार्ग के सन्धान का ही मंत्र देना चाहता है। कमल के सम्वाद (जिन्हें स्व सम्भाषण कहना अधिक समीचीन होगा) इसी कारण नाटक को छा लेने का कारण बने हैं।

तर्क, मूड या बुद्धिवादी प्रवृत्ति की भरपूर अन्विति होने से प्रसादोत्तर नाटककारों की समीक्षकों द्वारा आलोचना की गयी है। स्वयं डा० लाल इस प्रकार की आलोचनाओं में अगण्य रहे हैं। ऐसे में 'रक्त कमल' में प्रयुक्त बौद्धिक संवादों का आयोजन और उसे कार्य तत्व से ऊपर प्रतिष्ठित किये जाने की डा० लाल की धर्मिता उनकी समीक्षा के ही विरोध में खड़ी है। कमल जैसा चरित्र प्रासंगिक या अप्रासंगिक रूप से अपनी बात कहता है और उस बात को इतिहास, राजनीति और समाज के सन्दर्भों के साथ जोड़ता चलता है। ऐसे में उपरान्त अपने पक्ष में दिये गये अनेक तर्कों के नाटक के कार्य व्यापार पर विचार तत्व अपनी सम्पूर्णता-त्रिआयामीयता के साथ छा जाता है। कमल जब बोलता है तो शेष उसे सुनते हैं- वह अपने कथनों को क्रिया रूप में नाटक के अन्त में जाकर परिवर्तित करता है जब वह

1- रक्त-कमल- पृ० 37

~~मिल~~ समाज के लिये स्वयं को समर्पित करने का प्रण लेता है। देश की तस्वीर दिखाने वाला उसके व साथियों द्वारा खेला गया नाटक कार्य-तत्व से जुडा तो है किन्तु उसका हेतु भी कमल के सिद्धान्तों को स्पष्ट करना है। ऐसे में नाटक के अन्दर खेला गया नाटक भाषा के थक जाने पर उसे किंचित विश्राम देने का साधन बन जाता है।

'रक्त कमल' का प्रधान चरित्र कमल एक ऐसी समग्र क्रान्ति की प्रक्रिया का प्रतीक है जिसका लक्ष्य मानवता का प्रकाश, उसकी समानता, एकता और उसका विलुप्त गौरव पुन: लौटाना है। उसका कार्य ऐसे अगस्त्यों को जन्म देना जो इतिहास के भयानक समुद्र को सोख परमार्थ, सहयोग, विश्वास, संघटन और मूल्यों की स्थापना करेंगे। इस प्रकार उसका उद्देश्य युग-परिवर्तक का है। वह युग की व्याख्या भी करता है और उसे बदलने का संकल्प भी लेता है। उसके ये दोनों कार्य उसमें सम्पूर्ण आदर्श का समावेश करते हैं। इसी कारण वह 'मिथक' जैसा चरित्र है।

कमल की दृष्टि में भूत, वर्तमान और भविष्य एक साथ दिखायी देते हैं। इतिहास की सामाजिक भूलें जिसके कारण कोई बहुत निर्धन और कोई बहुत धनवान हो गया, राष्ट्र को सामाजिक दृष्टि से वर्गों में विभाजित करने का कारण बनी। उसके शरीर के इन सामाजिक दंशों ने उसे गुलामी की जंजीरों से जकड़ दिया। यह उसका विगत शताब्दियों का इतिहास है। इस राष्ट्र देवता की जंजीरें कोई न तोड़ सका क्योंकि सभी जाति वा धर्मों के मद में अन्धे थे। उनकी एकता का प्रकाश नष्ट हो गया था फलत: उनकी विकास-यात्रा विस्मृति और दिशाहीनता में खोकर भटक गयी थी। अतीत के इस बन्धन को महात्मा गांधी जैसे सन्त ने तोड़ा है- राष्ट्र मुक्त हुआ तो मार्ग भी मुक्त हुए। यह हमारा वर्तमान है(यह नाटक के रचनाकाल 1960 के आस-पास के समय की ओर संकेत है) किन्तु मुक्त होने पर देह में जो बाह्य और आन्तरिक घाव हैं, वे राष्ट्र को स्वस्थ नहीं कर सके हैं- इसके लिये

कमल आने वाली पीढ़ी को भविष्य को आह्वान करता है जो 'एक जाति एक प्रान एकता' द्वारा राष्ट्रीय चरित्र को स्वस्थ करे उस चरित्र को जो वर्षों की गुलामी से नष्ट-भ्रष्ट होकर राष्ट्र के शरीर पर फोड़ों के रूप में फूट पड़ा है। लेकिन यहाँ राष्ट्र की ~~नव~~ नव-चेतना को सजग भी किया गया है कि हमें विकास के लिये कोरे आदर्शों के महल नहीं खड़े करने हैं, भाषणों का वितण्डावाद भी नहीं खड़ा करना है अन्यथा 'विषाक्त समुद्र को सोखने का' जो हमारा लक्ष्य है, वह बिना कर्म के प्रभावहीन हो जायेगा। सम्भवत: कमल और उसके द्वारा नाटककार को भविष्य का पूर्वाभ्यास हो गया है जिसके प्रति सचेत 'नाटक के अन्दर खेले नाटक' के समान्तर चल रहे एम0 एल0 ए0 इन्द्रजीत के भाषण द्वारा कर दिया गया है। राष्ट्र के भूत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ प्रस्तुत कर वह देश के इतिहास, उसकी भूलें और उससे बचने का मार्ग बताता है, राष्ट्र देवता को स्वस्थ करने की आवश्यकता पर बल देना है अन्यथा आने वाली पीढ़ी राष्ट्र की संचित परंपराओं से जागरण, विकास, एकता, कर्म, पुनर्जागरण, सत्य, अहिंसा, हिंसा, युद्ध, शान्ति के नाम पर कुछ भी नहीं प्राप्त कर पायेंगे और इसके लिये राष्ट्र के इतिहास को कोसेंगे और स्वयं भी दिशाहीनता के जंगलों में भटक जायेंगे। जिस राष्ट्र में परम्परा के नाम पर केवल गुलामी का अन्धकार हो, ऐसे राष्ट्र में विकास का मार्ग स्वयं चुनकर गली-सड़ी परम्पराओं की कपाल क्रिया करने का काम नयी पीढ़ी को ही करना पड़ता है। नाटककार का यह भविष्य-दर्शन आज की पीढ़ी के लिये एक चुनौती है।

कमल द्वारा देश के इतिहास की व्याख्या के दो रूप हैं। वह आर्थिक वैषम्य से पीड़ित शोषित के शोषक के साथ सम्बंधों की व्याख्या तो करता ही है, राष्ट्र के आन्तरिक व्यक्तित्व या चेतना के क्रमिक नैतिक व सामाजिक पतन की भी व्याख्या करता है। एक स्थान पर वह मनुष्यत्व को छोड़कर दु:खीराम और सुखीराम बन जाने को अभिशप्त भाग्यवादी मनुष्य की बात कहता है- 'जिसका दांत लगा वह सदा के लिए अमीर, जो दांव हार गया वह सदा के लिए गरीब।[1] दूसरी ओर,

---

1- रक्त-कमल- पृ0 40

इसी मूल अभिशाप को लेकर किस प्रकार मनुष्य केवल दो वर्गों के अन्दर बंट शताब्दियों से लेकर आज तक के द्वन्द्वमूलक जीवन का निर्माता बन गया- इस व्यवस्था को वह आज के सन्दर्भ में व्यक्त करता है- ' मैं ऐसे देश का नागरिक हूं जहां की पूरी जनसंख्या के पच्चीस प्रतिशत मानव वर्ग के प्रति आदमी की कमाई दस रुपये मासिक से भी कम है । चवालिस प्रतिशत वे हैं जिनकी कमाई सोलह रूपये मासिक के बीच है । सौ रूपये प्रतिमाह कमाने वालों की संख्या सिर्फ एक प्रतिशत है ।और इस महा देश में आप जैसों की संख्या केवल प्वाइण्थ थ्री परसेण्ट है । इतनी भयानक असमानता । निन्यानवे प्रतिशत गरीब और एक प्रतिशत अमीर। यह अपमान है इस देश का ।[१] इस पर शोषकों के अन्दर गरीबों को अधिक गरीब और स्वयं को अधिकाधिक अमीर बनाने की प्रवृत्ति इस देश की गरीबी का मूल कारण है । शोषित के श्रम पर शोषक का अतिक्रमण (जिसे कमल ने एक स्थान पर अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है।) राष्ट्र की सामाजिक विषमता का मूल कारण है ।

उपर्युक्त निर्धनता ने राष्ट्र को नैतिक स्तर पर प्रभावित किया है जिसकी व्याख्या करना ही कमल का ही अभीष्ट है । इसीलिये उसके दु:ख का मूल कारण है इस देश का समूचा जीवन, केवल इस देश की अर्थ व्यवस्था नहीं । वह कहता भी है - ' मेरा दु:ख इस देश के समूचे जीवन को लेकर है । इसके घायल, खण्डित , अस्तव्यस्त शरीर से लेकर इसके बिखरे मन, अस्वस्थ प्राण और इसकी सोयी आत्मा तक मेरा दु:ख फैला है ।' यहां आर्थिक समानता उसका अंतिम लक्ष्य नहीं है प्रत्युत आर्थिक समानता द्वारा मानव-कल्याण उसका लक्ष्य है । उसका कार्य क्षेत्र यही देश है, वह अभी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक नहीं सोचता ऐसे में वह न तो सर्वहारा वर्ग की तानाशाही चाहता है और न ही 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ ' का नारा बुलन्द करता है । उसका यह चरित्र ही उसे मार्क्स या लेनिन का 'मानस-पुत्र' बनने से बचाता है । वह जिस जमीन पर खड़ा

१- रक्त-कमल- पृ० ५८

उसी के सुख दु:खों से अपना सम्बन्ध जोडता है । ऐसे में कमल का सृजन डा०लाल को वामपंथी लेखकों की श्रेणी में खडा नहीं करता । वस्तुत: वह उस राष्ट्रीय मनीषा को जाग्रत करना चाहता है जो १९४७ के स्वातंत्र्य के पूर्व थी, उस खोखले राष्ट्रीय चरित्र को पुन: भरना चाहता है जो स्वातंत्र्य के बाद हमारे देश ने प्राप्त किया । स्वातंत्र्य पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर देश की मनीषा पर उसकी यह दृष्टि उसे युग द्रष्टा बनाती है । - 'जब मैं जंग जंजीरों में बंधा था तो मेरे सामने सदा एक रास्ता दीख पडता है । चारों ओर एक प्रेरणास्पद महान उद्देश्य । ऐसा उद्देश्य जिसमें सभी एक थे । मेरा वही उद्देश्य मेरी आत्मा थी । पर मेरी मुक्ति के बाद मेरे भीतर का खोखलापन मुझमें अट्टहास करके हंस पड़ा । धूल-धंगड, सारे जहां से अच्छा एक बहुत बडा बेशकीमती महल,मकड़ी के जालों से पटे हुए उसके सूने कमरे । जगह जगह दीमक लगे हुए । उल्लू और चमगादडों से भरा हुआ ~~उसका~~ उसका आसमान । कमरों में बर्इ और ततैया के छत्ते । उनमें सोये हुए असंख्य भूत, प्रेत, और शैतान । संगमरमर के फर्श पर सांप और बिच्छू का नाच और कहीं बहुत दूर से उस सूने महल में सत्य-अहिंसा की आती हुई मंत्र गान की प्रतिध्वनियां ।[१] निस्संदेश देश की दुर्निवार स्थिति (जो स्वतंत्रता के बाद उत्पन्न हुई) में महात्मा गांधी का मंत्रगान ही देश के अभिशप्त बेशकीमती महल को पवित्र कर सकता है - कमल का ऐसा विश्वास है ।

कमल वर्तमान है तो अगस्त्य भविष्य । कमल राष्ट्र के विकास की एक प्रक्रिया है तो अगस्त्य उसका भविष्य में प्राप्त होने वाला सुफल । अगस्त्य मानव के विलुप्त प्रकाश को लौटाने वाला है, उसका स्थापक है । वह जड़ को चेतन बनाने वाली वह आत्म शक्ति है जिसे राजनीति से भी ऊपर नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है । कमल जीवन को जगाने वाला आह्वान है जिससे प्रान्त,धर्म, जाति और वर्ण भेद को विस्मृत कर जीवन को सूर्योन्मुखी बनाया जा सकता है ।[२]

१- रक्त कमल- पृ० ८६

२- वही- पृ० १०२

निस्संदेह आस्त्य को जन्म देकर कमल में भविष्य के स्वप्न जैसे आंखों के आगे स्पष्ट हो जाते हैं - 'पीछे फुलवारी के उस गमले में जो बरगद का वह बौना पेड़ लगा है न, उसमें बड़े बड़े वृक्ष झूम रहे हैं और तुम्हारा यह काठ का जड़ स्टूल एक दिन चेतन हो जायेगा । मैं अभी से यह देख रहा हूं। दरबान ।[१] आस्त्य के रूप में देश के भविष्य के उज्ज्वल होने का यह स्वप्न 'सूर्यमुख' की रचना का पूर्वाभास कराता है जिसमें यादवी-शिशु के रूप में प्रद्युम्न एक नयी परम्परा की स्थापना करता है और स्वयं समाप्त हो जाता है ।

कमल जैसे अयथार्थ चरित्र का संघटन प्रतिनिधान रूप के कारण उपयुक्त है किन्तु प्रतिनिधान रूप के नाम पर चरित्र को इस नाटक में इण्टर प्रेटर की तरह बना दिया गया है । उसके इतने महत्व के कारण न तो रंग तत्वों की दृष्टि से नाटक में किसी प्रकार का वैविध्य है, न ही उसकी अपेक्षा है । यहां प्लेटफार्म वाले मंच का प्रयोग निर्देशित है जो पीछे तक खुले मैदान के रूप में फैला है ।यह फैलाव नाटककार की रंगमंच-अवधारणा को ससीम से असीम या यथार्थ से अयथार्थ तक फैलाव देने के रूप में देखी जा सकती है । नाटक का लोक-संगीत नाटक की वेदना को उभारने वाला है किन्तु वह कोरस गान के रूप में संगीत के कार्य-व्यापार की लय से न जोड़कर विचार-तत्व से जोड़ने के कारण प्रभावहीन हो जाता है ।

'रक्त कमल' क्रान्ति का सिम्बोल तो है ही किन्तु वह 'मिथिकल' होने के कारण कमल के सन्दर्भ में जुड़ी कतिपय पौराणिक अवधारणाओं को आधुनिक मुहावरों में प्रस्तुत करता है । इसीलिये डा० देसाई की आंखों के सागर में कश्मीर से कन्या कुमारी और द्वारिका से ब्रह्मपुत्र तकफैला सहस्त्र दल कमल के रूप में जो कमल है, वह सृष्टि के पोषण करने वाले विष्णु के आयुध (शंख, चक्र, गदा,पद्म) का स्मरण दिलाता है । अन्ततः कमल ने भी तो राष्ट्रोदय का बीड़ा उठाकर देश को पोषण तत्व को उभारा है ।

१- रक्त कमल- पृ० १०४

स्वातंत्र्य पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर ~~भारत~~ देश की मनीषा पर उसकी यह दृष्टि उसे युगद्रष्टा बनाती है- ' जब मैं जंजीरों में बंधा था तो मेरे सामने सदा एक रास्ता दीख पडता था । चारों ओर एक प्रेरणास्पद महान उद्देश्य । ऐसा उद्देश्य जिसमें सभी एक थे । मेरा वही उद्देश्य मेरी आत्मा थी । पर मेरी मुक्ति के बाद मेरे भीतर का खोखलापन मुझमें अट्टहास करके हंस पड़ा। धूल धंगड़, सारे जहां से अच्छा एक बहुत बड़ा बेशकीमती महल, मकडी के जालों से पटे हुए उसके सूने कमरे । जगह जगह दीमक लगे हुए । उल्लू और चमगादड़ों से भरे हुए उसका आसमान । कमरे में बर्रे और ततैया के छत्ते । उनमें सोये हुए असंख्य भूत, प्रेम और शैतान । संगमरमर के फर्श पर सांप और बिच्छू का नाच और कहीं बहुत दूर से उस सूने महल में सत्य-अहिंसा की आती हुई मंत्र-गान की प्रतिध्वनियां ।[१] निस्संदेह देश की दुर्निवार स्थिति(जो स्वतंत्रता) के बाद उत्पन्न हुई) में महात्मा गांधी का मंत्रगान ही देश के अभिशप्त बेशकीमती महल को पवित्र कर सकता है- कमल का ऐसा विश्वास है ।

कमल वर्तमान है तो अगस्त्य भविष्य । कमल राष्ट्र के विकास की एक प्रक्रिया है तो अगस्त्य उसका भविष्य में प्राप्त होने वाला सुफल । अगस्त्य मानव के विलुप्त प्रकाश को लौटाने वाला है, उसका संस्थापक है । वह जड़ को चेतन बनाने वाली वह आत्म शक्ति है जिसे राजनीति से भी ऊपर नीति के रूप में स्वीकार किया जाता है । कमल जीवन को जगाने का एक आह्वान है जिसमें प्रान्त, धन, जाति और वर्ण भेद को विस्मृत कर जीवन को सूर्योन्मुखी बनाया जा सकता है ।[२] अगस्त्य को जन्म देकर कमल में भविष्य के स्वप्न जैसे आंखों के सामने स्पष्ट हो जाते हैं ।- 'पीछे फुलवारी के गमले में जो बरगद का वह बौना पेड़ लगा है, उसमें बडे बडे वृक्ष झूम रहे हैं और तुम्हारा यह काठ का जड स्टूल एक दिन चेतन

१- रक्त कमल- पृ० ८६

२- वही- पृ० १०२

हो जायेगा, मैं अभी से यह देख रहा हूं दरबान ![१] अगस्त्य के रूप में देश के भविष्य के उज्जवल होने का यह स्वप्न 'सूर्यमुख' की रचना का पूर्वाभ्यास कराता है । जिसमें यादवी शिशु के रूप में प्रद्युम्न एक नयी परम्परा की स्थापना कर चला जाता है ।

कमल जैसे अयथार्थ चरित्र का संघटन प्रतिनिधान रूप के कारण उपयुक्त है किन्तु प्रतिनिधान रूप के नाम पर चरित्र को इस नाटक में एक इण्टरप्रेटर मात्र बनाकर रख दिया है । उसके इतने महत्व के कारण न तो रंगतत्वों की दृष्टि से नाटक में किसी प्रकार का वैविध्य है, न ही उसकी अपेक्षा है । प्लेटफार्म रंगमंच का प्रयोग यहां किया गया है जो पीछे तक खुले मैदान के रूप में फैला है- यह फैलाव नाटककार की रंगमंच अवधारणा को सीमा से असीम व यथार्थ से अयथार्थ तक फैलाव देने के रूप में देखी जा सकती है । नाटक का लोक-संगीत नाटक की वेदना को उभारने वाला है किन्तु वह कोरस गान के रूप में संगीत को कार्य-व्यापार की लय पर न जोडकर विचार तत्व से जोडने के कारण प्रभावहीन हो जाता है ।

'रक्त कमल' क्रान्ति का सिम्बोल तो है ही किन्तु वह 'मिथिकल' होने के कारण कमल के सन्दर्भ में जुडी कतिपय पौराणिक अवधारणाओं को आधुनिक मुहावरों में प्रस्तुत करता है । इसीलिये डा० देसाई की आंखों के सागर में कश्मीर से कन्याकुमारी और द्वारिका से ब्रह्मपुत्र तक फैला सहस्त्र दल कमल के रूप में जो नायक कमल है वह सृष्टि के पोषणकर्ता विष्णु के आयुधों (शंख, चक्र, गदा, पद्म) का स्मरण दिलाता है । कमल के चरित्र का यह 'विराट मिथक' हजारी प्रसाद द्विवेदी के ' जलौघमग्ना ' महावराह का स्मरण दिलाता है ।

(६) रातरानी :

सर्वोच्च भारतीय 'कालिदास-पुरस्कार' प्राप्त नाटक रातरानी सर्वप्रथम नाट्य-केन्द्र, इलाहाबाद द्वारा २१ फरवरी १९६२ को पेलेस थियेटर में खेला गया

१- ~~रक्त-कमल, पृ० १०४~~

और इसी वर्ष नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित भी हुआ ।

'रातरानी' संक्रमित हो रहे जीवन मूल्यों का उद्घाटक है । व्यक्ति की आत्म केन्द्रिता आज का युग सत्य कहा जाता है किन्तु यह आत्म केन्द्रिता जब स्वहित तक ही सीमित हो जाती है तो वह शोचनीय होती है । यह सब अर्थ युग की देन है । ऐसे युग में जीवन का हार्द महत्वहीन सा सिद्ध कर दिया जाता है । 'रातरानी' ऐसे ही खोखले और स्वार्थरत अर्थयुगीन जीवन मूल्यों के विरुद्ध एक आदर्श की प्रतिष्ठा करने का प्रयास है । रातरानी की सुगन्धि जैसे चारों ओर छाकर अपने अस्तित्व का बोध कराती है, वैसे ही आज के अर्थजीवी मनुष्य के सामने आस्था, विश्वास, प्रेम की आवश्यकता भी नितान्त है । बिना इनके वह आत्म-बोध नहीं कर सकता । अर्थजीविता मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्ड खण्ड करके देखती है । इन्हीं खण्डों को जोडकर अखण्ड व्यक्तित्व की स्थापना करना 'रातरानी' का अभीष्ट है । इस उद्देश्य की पूर्ति का समारम्भ परिवार से होकर द्वन्द्व द्वारा विस्मृत होते होते बहिर्मुख (समाजगत) हो जाता है । ऐसे में नाटक का सांचा केन्द्र से विस्तार की ओर बढ जाता है । अर्थोपजीवी मानसिकता और संवेदना-संघर्ष के ये दो बिन्दु हैं जो अन्ततः आस्था और विश्व-भावना में परिणत होकर व्यापक हो जाते हैं ।

नाटक के कथानक का केन्द्र है जयदेव और कुन्तल का दाम्पत्य जीवन । जयदेव अपने सम्पन्न पिता एक इंजीनियर साहेब का इकलौता बेटा पुत्र है जिसके नाम उसके पिता पचहत्तर हजार का बैंक- बैलेन्स और एक प्रेस छोड़ गये हैं । जयदेव इस कमाई का दुरुपयोग करता है, दोस्तों के साथ जुआ और क्लब-होटलों में मौजमस्ती का जीवनबिताता है । दूसरी ओर, उसकी पत्नी कुन्तल है जो जयदेव के इस जीवन को देख कर दुःखी है और चाहती है कि वह (जयदेव) अपने स्व० पिता के आदर्शों पर चले । कुन्तल का जीवन फुलवारी का जीवन है जिसे स्व० इंजीनियर साहब की धरोहर मानकर वह पूजा के कार्यवत उसकी देख-रेख करती है । परिवार का ही अन्तरंग सदस्य माली उसके इस जीवन का सहायक है । एक ओर कुन्तल जयदेव के

लिये 'रातरानी' है तो दूसरी ओर स्व० इंजीनियर साहब के शब्दों में 'नन्दन वन की इन्द्राणी' भी । जयदेव व कुन्तल परस्पर अगाध प्रेम के सूत्र में बंधे हैं किन्तु जयदेव क उसके दो व्यक्तित्व देखना चाहता है और इसके लिये विश्वविद्यालय के म्यूजिक विभाग में उसे नौकरी करने को बाध्य करता है । वस्तुत: इसके पीछे उसका अधिकाधिक धन कमाना ही उद्देश्य है ।

जयदेव कुन्तल के दोहरे व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करना चाहता है किन्तु उसका अपना दोहरा व्यक्तित्व भी कोई उदात्त नहीं । वह अपने प्रेस मजदूरों की तनख्वाह और बोनस समय नहीं देता ।फलत: प्रेस में हड़ताल हो जाती है । मजदूरों की विपन्नता में कुन्तल उनकी आर्थिक सहायता करती है जबकि जयदेव तो घर की तरफ बढ़ते हुए मजदूरों के जुलूस पर गुण्डों द्वारा पुलिस पर पत्थर फिंकवाने की भी योजना अपने दोस्तों के साथ बनाता है जिससे पुलिस मजदूरों पर लाठी चार्ज कर दे । ऐसी ही विषम स्थिति में जब कुन्तल को ज्ञात होता है कि जयदेव अपना बैंक-बैलेन्स दोस्तों की कसंगत में समाप्त कर बैठा है तो वह केवल अपने पत्नीत्व के विश्वास और आस्था तथा जयदेव के प्रति अपने प्रेम का बल लेकर भीड़ में दौड पड़ती है और स्वयं घायल हो जयदेव की रक्षा करती है । जयदेव कुन्तल के इस उदात्त रूप को देखकर आत्म ग्लानि से भर उठता है ।

उक्त आधिकारिक कथानक के साथ दिया गया निरंजन व सुन्दरम का प्रासंगिक वृत्त भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उसका सीधा सम्बंध कुन्तल के जीवन से है । निरंजन यूनिवर्सिटी में लेक्चरार है और एक दिन जब अचानक अपने मित्र की बहिन सुन्दरम(जो आकाशवाणी पर प्रोग्राम एक्जीक्यूटिव है और कुन्तल की सहपाठिनी व मित्र भी) के साथ कुन्तल के घर आता है तो कुन्तल को पुरानी स्मृतियां ताजा हो जाती हैं । वस्तुत: कुन्तल का विवाह पूर्व निरंजन से होनेवाला था किन्तु निरंजन के पिता द्वारा दहेज की राशि न दे पाने के कारण वह सम्बन्ध नहीं हो पाया था। तभी से निरंजनअपने पिता से अलग हो गया था । अब जब संयोग दोनों को फिर

मिलाता है तो एक प्रकार की हीन भावना निरंजन में घर कर जाती है और वह कुन्तल की हर सम्भव सहायता द्वारा जैसे अपनी गलतियों का प्रायश्चित करता है। कुन्तल को जीवन में जो न मिल सका उसकी पूर्ति वह सुन्दरम के साथ निरंजन का विवाह करके करती है । माली बाबा के शब्दों में कुन्तल द्वारा कराया यह व्याह 'जैसे पृथ्वी पर सतगुरु द्वारा रचाया गया व्याह' है । लेकिन दूसरी ओर, जयदेव इसे कुन्तल के हत-स्वाभिमान(जो निरंजन से विवाह न होने के कारण है) का प्रतिशोध बताता है । वह कहता है- 'निरंजन की शादी के लिये जहां तुम्हारे पिता जी पांच हजार रुपये देकर भी उनके पिता को नहीं संतुष्ट कर पाये और तुम्हारी शादी टूट गयी, वहां तुमने उसी निरंजन की शादी इस तरह मुफ्त में कर दी । यह बदला नहीं है तो क्या है?[१] किन्तु कुन्तल के प्रति जयदेव की यह भ्रांति तब टूट जाती है जब निरंजन और सुन्दरम भी उस अनौपचारिक विवाह को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं ।

नाटक का स्वरूप पारिवारिक और सामाजिक है और इस रूप में हमारे सामाजिक जीवन के मध्य उठने वाले द्वन्द्वों को प्रकट करता है । ऐसी स्थिति में 'रातरानी' वैचारिक स्तर पर एक द्वन्द्व मूलक नाटक है । दूसरी ओर, इसी नाटक को कार्य के स्तर पर लक्ष्य करने पर यह नाटक उस द्वन्द्व की सृष्टि करता प्रतीत नहीं होता जो अभिनय और उसके माध्यम से अभिनेतादि के अनुभाव व व्यभिचारी भावों को आलोड़ित करता हो । इसका कारण 'रातरानी' के मुमुख चरित्र कुन्तल में प्रच्छन्न कोमलता है जो सामने वाले चरित्र के विपरीत भावों को भी उपशमित कर देता है । जयदेव का क्रोध, झुंझलाहट और क्षोभ कुन्तल के सामने उमड़कर टकराता तो है किन्तु कुन्तल की मृदुता से टकराकर जैसे चूर चूर हो जाता है । कार्य में मन्दगति होने के पीछे यह एक बड़ा कारण है । तथापि अवसर आने पर नाटककार ने नाटक के कार्य द्वारा द्वन्द्व की सृष्टि करने का प्रयास किया है । कार्य द्वारा नाटकीय द्वन्द्व की सृष्टि के लिये 'रातरानी' के निम्नांकित अंश द्रष्टव्य हैं :-

---

१- रातरानी- अंक दो, दृश्य दो- पृ० ८५

प्रथम अंक- (१) जयदेव और कुन्तल की उन्मुक्त हंसी के साथ कुन्तल का घर भागना और इधर जयदेव द्वारा कैंची से कॉटन्स की पंक्तियों को काट डालना । तत्पश्चात-कुंतल व जयदेव का वार्तालाप ।

कुन्तल- हाय! हाय! यह क्या कर रहे हो ? च---च---च--- इस पर कैंची चला दी ।

जयदेव- कैंची इसलिये बनी है कि वह कहीं न कहीं चलायी जाय । दु:खी हो गयी तुम ? अच्छा, मैं कल महज ढाई रूपये में इससे बडा और उम्दा कॉटन्स तुम्हारे लिये मंगवा दूंगा ।

कुन्तल- ये लो रुपये । हर चीज का मूल्य तुम रूपये में ही आंकते हो ।

जयदेव- (रूपया पाकेट में रखता हुआ) यह अर्थ युग है अर्थयुग ! इक्नामिक एज ।

कुन्तल- तभी तो इस युग में मनमाने कैंची नहीं चलायी जा सकती । प्रेस में तुमने यही कैंची चलायी थी न ! एक मशीन-मैन को निकाला, दो फारमेनों की छंटनी की ।[१]

(२) सुन्दरम द्वारा कुन्तल के सामने अपने एक पुराने प्रेमी की नकल उतारने के लिये उसी वेशभूषा में सजना और कुन्तल का हंसी के मारे लोट-पोट हो उठना । भावोद्रेक में गा उठना ।[२] सुन्दरम की नकल ।

(३) योगी और सुन्दरम का आमना-सामना, सुन्दरम द्वारा योगी को खिजाना और इस प्रकार योगी को आवेश में चले जाने को बाध्य करना ।

१- रातरानी- पृ० २४-२५

२- वही- पृ० ३२

(४) कुन्तल, जयदेव और सुन्दरम के त्रिकोण वार्तालाप में नाटकीय कार्य की सृष्टि । कुन्तल के सम्वादों का जयदेव द्वारा काटा जाना और एक क्षण के सन्नाटे के साथ सुन्दरम द्वारा कुन्तल को पृष्ठ बल देते हुए जयदेव के प्रति निम्नांकित सम्वाद कहना -

'जयदेव बाबू ! कभी आपने देखा है उन घरों को जहां की पत्नियां बाहर नौकरी करती हैं ?' इस उत्तर में जयदेव द्वारा योगी के घर का उदाहरण दिये जाने पर सुन्दरम का यह कथन जयदेव को चुनौती देता प्रतीत होता है । -'खुशी की परिभाषा उनकी और होगी ।

(५) जयदेव द्वारा कुन्तल से, निरंजन को विवाह पूर्व लिखे गये पत्रों की मांग करना और कुन्तल से, ~~निरंजन-के~~ द्वारा इस सम्बंध में 'अपनी पूरी पूरी परीक्षा' देने का संकल्प - भावावेश में भर उठना और जयदेव का देखते रह जाना ।

दूसरा अंक-प्रथम दृश्य-(१)

जयदेव, योगी व प्रकाश का ताश खेलना और कुन्तल का नौकरी से लौटना, खेलने वालों पर एक दृष्टि डालना और चुपचाप भीतर चले जाना- इसी के साथ जयदेव का कथन-'अच्छा खेल खत्म करो यहीं प्लीज़ ।'

(२) सुन्दरम के साथ अनजान में अपने संग निरंजन को लेकर प्रवेश व निरंजन और कुन्तल दोनों का कांप उठना । तत्पश्चात निम्नांकित संवाद ।-

सुन्दरम-(आश्चर्य से) कुन्तल ! तुम इन्हें पहिचानती हो क्या ? ये मेरे भाई के सहपाठी हैं, निरंजन बाबू ! यहां यूनिवर्सिटी में लेक्चरर हैं । कुन्तल !------
(कुन्तल अपने को सम्भालती हुई कुर्सी पर चुपचाप जैसे गिरगयी है)

सुन्दरम- निरंजन बाबू !----आप मेरी कुन्तल को पहले से ही जानते थे क्या ?

निरंजन- तुम मुझे कहां ले आयीं ।[१]

(३) अजीब प्रकार की खिंची खामोशी के मध्य जयदेव, कुन्तल, सुन्दरम व निरंजन का काफी पीना और इसी वातावरण में निरंजन व कुन्तल के मध्य वार्तालाप -

कुन्तल- (सहसा) एक बात कहूं, क्षमा कीजियेगा न !

निरंजन- कुछ आप कहिये तो भला !

कुन्तल- मेरे कुछ पत्र आपके पास हैं, मुझे वे वापस दे दीजिये ।

निरंजन- उन पत्रों को वापस-----?-----अच्छा-----जरूर ![२]

(४) जयदेव का पीछा करते हुए प्रेस-मजदूरों का आगमन और कुन्तल के साथ उनका वार्तालाप ।

(५) निरंजन द्वारा कुन्तल को पत्र लौटाना और उनके औचित्य के सम्बंध में कुन्तल से प्रश्न करना- पति को व्यक्ति या संस्था के रूप में ग्रहण करना ।

(६) माली बाबा के भजन को कुन्तल द्वारा चुपचाप सुनाना ।

दूसरा दृश्य-(१) बांसुरी के मध्यम संगीत के मध्य मंच पर उतरती सुबह की धूप और कुन्तल और प्रसन्न मुख गीत गुनगुनाते हुए फूलों के गुच्छों के साथ प्रवेश ।

(२) कुन्तल द्वारा निरंजन और सुन्दरम का विवाह कराना जिसे जयदेव का 'निरंजन से बदला' लेने की संज्ञा देना ।

१- रातरानी- पृ० ५५

२- वही- पृ० ५८

तीसरा अंक-प्रथम दृश्य :

(१) माली द्वारा सुन्दरम को सूचना देना-
सुन्दरम- जयदेव बाबू भीतर हैं न ।
माली- हां, दोस्तों के संग ताश खेल रहे हैं ।
सुन्दरम-और कुन्तल ।
माली- पढाने गयी हैं ।
सुन्दरम(आश्चर्य से)- पढ़ाने गयी हैं ? किसने जाने दिया उसे ? हास्पिटल से आये हुए उसे अभी दस दिन भी तो नहीं हुए ।[१]

(२) कुन्तल द्वारा जयदेव को अपनी नौकरी छोड़ देने की सूचना और इससे जयदेव का चौंक उठना- जयदेव का कथन-(चिढ़कर) मेरा मन ! मेरा मन ! -----पर तुम्हारे उस मन का मालिक हूं ।---- कुन्तल- पता नहीं । पर मैं उनकी दया नहीं चाहती । यह मेरा अपमान है । इस देश को मैं दु:खों की आग में भस्म कर दूंगी और आत्मा की जयजयकार करूंगी कि मैं मुक्त हूं, मैं मनुष्य हूं। (रुककर) दया का पात्र केवल पशु है ।[२]

(३) कुन्तल के स्तीफे का समाचार जयदेव द्वारा निरंजन को दिया जाना और निरंजन के यह कहने पर कि- `ठीक किया कुन्तल ने । मैंने नाहक ही उसका श्रेय ले लिया था । - कुन्तल का यह कहते हुए हंसते-हंसते उन्मादित हो उठना-`क्या करूं । मेरी इस हंसी की डोर टूटती ही नहीं जैसे मुझमें यह हंसी मेरा पीछा कर रही है। और मैं उस सूने महल के कमरों में उन उडते हुए सुनहले पन्नों का पीछा कर रही हूं ।[३]

१- रातरानी- पृ० ८७
२- वही- पृ० ९५
३- वही- पृ० १०१

दूसरा दृश्य :

(१) कुन्तल के द्वारा केसर का पुष्प जयदेव को देना किन्तु पुष्प का फर्श पर गिर पडना अर्थात् जयदेव का कुन्तल के उसके प्रति प्रेम पर अविश्वास प्रकट करना ।

(२) कुन्तल का जयदेव की हथेली पर हाथ रख अपनी आस्था का प्रतिपादन-`तुम्हारी वाणी का अर्थ क्या है -------`[१]

(३) माली और कुन्तल के सम्वादों में प्रसरित करुणा-व्यापार ।

(४) माली द्वारा `महर` पदवी के आगमन की ओर संकेत ।

(५) जयदेव का प्रकाश और योगी के साथ मिलकर पुलिस पर गुण्डों द्वारा पत्थर फिंकवाने का षडयंत्र किन्तु मित्रों द्वाराबदले में सुन्दरम की फर्माइश करने पर जयदेव का मित्रों के साथ हाथापाई कर बैठना ।

(६) पृष्ठभूमि से जुलूस का कोलाहल और किसी की न सुनते हुएकुन्तल का जुलूस की ओर भागना व पीछे-पीछे निरंजन व माली का भागना ।

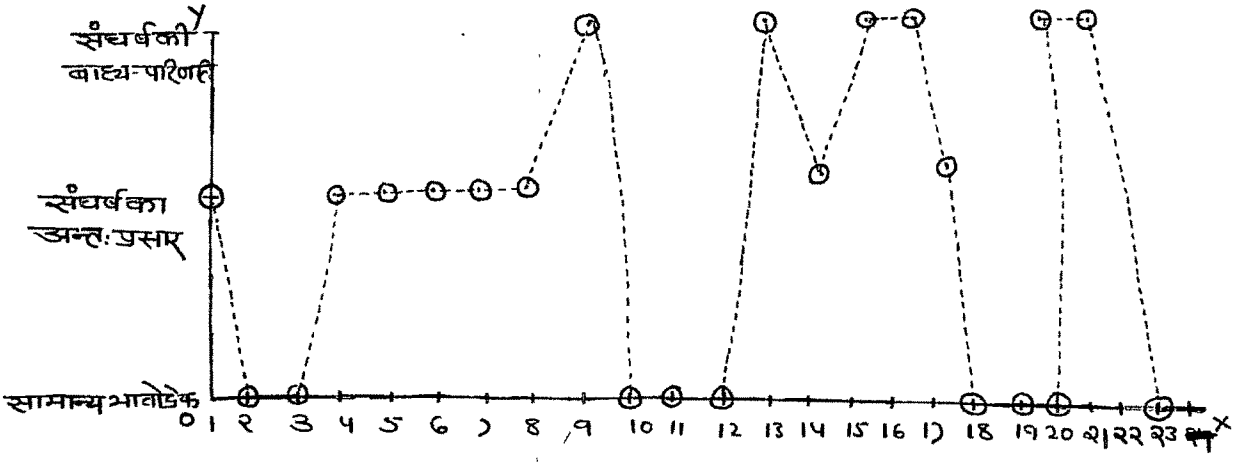
(७) निरंजन का घायल कुन्तल को लेकर प्रवेश और कुन्तल का अपने प्रति जयदेव का विश्वास लौटा देखकरकह उठना-`केसर का फूल मेरे आंचल में बंधा है ।[२]

उपर्युक्त अंशोंमें शब्दाभिव्यक्ति कार्याश्रित होकर प्रकट होती है । वस्तुत: कार्य नाटकीय द्वन्द्व का वाहक बन अभिनय को गतिशील बनाने में सहायक होता है । किन्तु इस नाटक के सन्दर्भ में यह गतिशीलता मंच पर प्रभाव की दृष्टि से सघन नहीं कही जा सकती । `रातरानी` के कथानक में प्रच्छन्न कार्य-व्यापार इसी सघनता के

१- रातरानी-पृ० १०६

२- वही- पृ० १२०

अभाव से ग्रस्त है । उसमेंसवंत्र कुन्तल, निरंजन,सुन्दरम व माली जैसे चरित्रों की 'अति भावुकता' के पुट के कारण फैलाव अधिक दृष्टिगोचर होता है । इस कार्य तत्व को निम्नांकित रेखा चित्र में देख कर उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की जा सकती है । उपर्युक्त रेखाचित्र में २ व ३, ४,५,६,७,८,१०,११,१२,१५ व १६,१८,१६ व २०, २१ व २२ ऐसे कार्य बिन्दु हैं जो एक ही प्रभाव के स्तर पर एक साथ खड़े हैं । ऐसी स्थिति में नाटकीय कार्य इन स्थानोंपर सपाट सा चलता प्रतीत होता है । अधिकतर कार्य- बिन्दुओं पर प्रभाव के स्तर का एक होना एकरूपता का दोष प्रकट करने लगता है ।



'रात रानी' की घटनाओं और परिस्थितियों से वलयित कार्य-तत्व इस नाटक के चरित्रों की विविध मन: स्थितियों के निर्माण में बडा सहायक सिद्ध हुआ है । उपर्युक्त रेखा चित्र के कार्य विन्दु वस्तुत: नाटक के विशिष्ट भावों को

१- विशेष सन्दर्भ के लिये-

set of objects
उभारने वाले घटक हैं जिन्हें के नाम से टी० एस० इलियट नामक समीक्षक ने प्रकट किया है । कार्य तत्व के इस चारित्रिक भाव-बोध के साथ सम्बन्ध को ही टी० एस० इलियट नामक समीक्षक ने प्रकट किया है । कार्य तत्व के इस चारित्रिक भाव-बोध के साथ सम्बंध को ही इलियट ने वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धान्त (objective-correlation-theory) के नाम से पुकारा है । इलियट ने जो बात 'कवि के कलात्मक भावावेग को पाठक तक सम्प्रेषित करने हेतु वस्तु, घटना या स्थितिविशेष के चित्रण के सम्बंध को लेकर' कही है, वही नाटक के सन्दर्भ में, नाटककार के कलात्मक भावावेग को पाठक के स्थान पर दर्शक तक सम्प्रेषित करने के अभीष्ट को लेकर कही जा सकती है । जैसा कि इलियट मानता है, भावावेग रचनाकार द्वारा अनुभूत नहीं होते हैं, वे अन्य की अनुभूतियां होते हैं जिन्हें रचनाकार ज्ञापित करता है,[१] वैसे ही नाटक के भावावेग नाटककार द्वारा सर्जित चरित्र में कलागत शिष्ट्य के रूप में भरे गये होते हैं, जिन्हें कार्यगत समीकरण द्व प्रदान किया जाता है । 'रातरानी' के इस प्रत्येक कार्य बिन्दु में वे अनुभूतियां और भावावेग समाविष्ट है जो नाटक के पात्रों को चारित्र्य और कहीं-कहीं व्यक्तित्व तक प्रदान करते हैं । नाटक के चरित्रों पर इन्हीं कार्य बिन्दुओं के आधार पर विचार किया जाना समीचीन होगा ।

'रातरानी' की चरित्रांकन- पद्धति मुख्य रूप से दो प्रकार की है- (१) विकासात्मक(Developing) (२) उद्घाटन(Expositing) घटनाओं या परिस्थितियों के क्रमिक विकास के साथ-साथ चरित्र का विकास होता रहता है । किन्तु कतिपय स्थानों पर चरित्रों की रेखाओं का अचानक उद्घाटन भी हो गया है । जयदेव की बैंक बैलेन्स की पास-बुक के खालीहोने की जानकारी जयदेव के चरित्र के एक नये कोण को अचानक उद्घाटित कर देती है ।

१- विशेष सन्दर्भ के लिए-
Sacred Wood ('Hamlet and his problems') P.100

माली द्वारा इंजीनियर साहब व कुन्तल के चरित्र और अतीत की घटनाओं की पर्तों को खोलना चरित्र की उद्घाटन शैली का दृष्टान्त कहा जा सकता है । अनेक स्थानों पर चरित्रों के हृदयोदगार व स्वगत-कथन को प्रकट कर भी स्वयं के चारित्रिक-वैशिष्ट्य को प्रकट कर दिया है ।

कुन्तल इस नाटक की मुख्य पात्रा है जो चरित्र से भी आगे बढकर व्यक्तित्व के स्तर तक उठ गयी है । प्रथम अंक पर पर्दा उठते हुए ही पृष्ठभूमि से सुनायी देता यह गीत कुन्तल के सम्बंध में `देवत्व की गरिमा से पूर्ण चरित्र` की संकल्पना को दर्शक के मन में जागृत करता है । इस गीत की निम्नांकित पंक्तियां कुन्तल की अपने परिवेश के साथ `मिसफिट` होने का संकेत देती है । - इसने स्वर्ग रिझाना सीखा। स्वर्गिक तान सुनाना सीखा । जगती को खुश करनेवाले स्वर से कैसे। इसको भर दूं ? कुन्तल का स्वर्ग कुछ और ही है, ऐसे में अपनी जीवन-वीणा को जगत को खुश करने वाले स्वर में कैसे भरे- यही जैसे वर्तमान में कुन्तल के दाम्पत्य जीवन के समायोजन की सबसे बडी समस्या है । कुन्तल के सम्बंध में शब्दों द्वारा स्वचित यह काव्यात्मक चित्र तब पुष्टि प्राप्त करता है । जब कुन्तल दर्शकों के समक्ष आती है- अवस्था अट्ठाइस वर्ष के आस-पास- यौवन की महिमा से पूर्ण । गुलाबी रंग की साडी पहने है । हाथ में ताजे सफेद ग्लेडिवोलस के पुष्प का गुच्छा लिये हुए दायीं ओर बढती है और फ्लावर -पाट में सजाती है । वास्तव में उसका बाह्य-व्यक्तित्व उसके गीत की भांति स्वर्गीय-बोध प्रदान करने वाला है ।

व्यक्तित्व में प्रच्छन्न स्वर्गीय तत्व ही उसके `धर्म ` से उसे जोडते हैं । जयदेव-कुन्तल के पति द्वारा प्रेस में चल रही स्ट्राइक में उसकी (कुन्तल की) सहानुभूति की बात पर कुन्तल `अर्थ ` पर `धर्म ` की प्रधानता दर्शाती हुई कहती भी है- `यही तो कठिनाई है । स्ट्राइक है तुम्हारे अर्थ में । तुम तो एम० काम० पास हो, सब जानते हो ।` कुन्तल के जीवन में धर्म या अन्य शब्दों में जीवनादर्श ही उसे उसके पति के विरोध में खडा करता है । वह तथाकथित एकानामी एज़ का विरोध

करती है । उसका कहना है कि यदि एकानात्मिक रूज के ही अस्तित्व को ही स्वीकार किया जाता है तो उसमें तो परस्पर अधिकारों की रक्षा और भी बड़ा कर्तव्य, आदर्श या धर्म बन जाता है । इसीलिये वह कहती भी है-'तभी तो इस युग में मनमाने कैंची नहीं चलायी जा सकती । प्रेस में तुमने यही कैंची चलायी थी न ! एक मशीन मेन को निकाला था, दो फोरमैनों की छंटनी की ।[१] कुन्तल की इस अभिव्यक्ति में उसकी समाजवादी धारणा छिपी हुई है ।

कुन्तल का उपर्युक्त चरित्र जयदेव के विरोध में खड़ा है । किन्तु यह कुन्तल का सामाजिक जीवन दर्शन है । पत्नी के रूप में पति को सम्पूर्ण प्रेम प्रदान करने वाली है । जयदेव के जीवन उपवन की वह रातरानी है और नन्दन-वन की इन्द्राणी है । जयदेव के जीवन में कला, साहित्य, संगीत की जो कमी थी वह कुन्तल के उसके जीवन में आ जाने से पूरी हो गयी ।

पत्नीत्व के सम्बंध में कुन्तल में एक प्रकार की गौरवानुभूति है और उसे जयदेव से पूर्ण प्रेम है । लेकिन दूसरी ओर उसका पुरुष समाज के प्रति एक मूक विद्रोह भी है जो सुन्दरम के इस कथन के मौन स्वीकार से प्रकट होता है ।-'पिछले करीब एक हजार वर्षों से हमारे समाज का मन सिर्फ मालिक और गुलाम ही देखता आया है । वही एक मर्यादा, वही एक सम्बंध ।[२] यहां सुन्दरम की भांति कुन्तल विद्रोह को मुखर नहीं कर पाती । ऐसी स्थिति में क्या यह कहना कुन्तल के साथ न्याय करना है कि-'अभिव्यक्ति के अभाव में वह कायर है ? वस्तुत: बात यह नहीं है । विद्रोह को व्यक्त करने का समय तो निकल चुका है । पुरुष समाज की क्रूरता का विद्रोह यदि वह विवाह से पूर्व कर पाती तो यह उसके स्त्रीत्व के लिये गौरव की बात होती । अब जबकि वह विवाह बन्धन में बंध गयी

१- रातरानी- पृ० २५

२- वही- पृ० ३७

और पुरुष समाज की क्रूरता (दहेज-प्रसंग) का शिकार हो चुकी है तो विद्रोह खडा करना अपने शान्तिपूर्ण दाम्पत्य जीवन पर कुठाराघात करना है । अतएव अपने वैवाहिक जीवन में विद्रोह के स्थान पर सामाजिक समायोजन उसके लिये विधेयात्मक मार्ग है और जयदेव के साथ स्वयं के सम्बंधों को मधुर बनाये रखने में यही मार्ग उचित है । निस्संदेह उसने जयदेव के साथ जो विवाह सम्बंध स्थापित किया है, उसके पीछे पति को संस्था(Institution) मानकर स्वीकार करने की भारतीय नारी की नियति प्रच्छन्न है । भारतीय समाज में स्त्री का पति से साक्षात्कार एक संस्था(Institution) के रूप में ही होता है । तत्पश्चात वह शनैः शनैः पति के साथ आत्मानुभूति की प्रक्रिया से गुजरकर उसे सर्वस्व प्रेमदान करती है । व्यावहारिक जीवन में कुन्तल का निरंजन से होने वाला सम्बंध(जो न हो सका) और फिर जयदेव के साथ स्थापित सम्बंध 'संस्थागत' से 'आत्मानुभूति परक' वाली दिशा में बढा है जबकि सही दिशा है 'आत्मानुभूति' से 'संस्थागत' सम्बन्ध की स्थापना की ओर बढना । स्वयं के जीवन में वह इस सही दिशा की ओर नहीं बढ़ पायी, फलतः वह समाज की उलटी पद्धति को चुनौती देती हुई निरंजन व सुन्दरम की आत्मानुभूति से संस्थागत सम्बंधों की स्थापना में साक्षी का काम करती है । वस्तुतः कुन्तल द्वारा साक्षी प्राप्त यह दूसरी प्रक्रिया बडी ही अनौपचारिक है । अपने वैवाहिक जीवन को एक औपचारिक पद्धति की देन मानकर भी उसमें विवाह सम्बंधों के प्रति अनास्था नहीं है - यदि ऐसा होता तो वह जयदेव से इतना गहन प्रेम नहीं कर पाती । वह तो केवल उस पद्धति का विरोध करती है जिसके कारण वैवाहिक सम्बंधों के असफल होने की सम्भावनाएं उठ खड़ी होती हैं क्योंकि वे पति पत्नी के मध्य आत्मदर्शन के अभाव से ग्रस्त होती हैं । कुन्तल के चरित्र में उक्त धारणाएं उसे समाजशास्त्रीय मूल्यों से जोड़ती हैं ।

कुन्तल की जीवन के प्रति आस्थाएं उसके जयदेव के साथ मधुर सम्बंधों में छिपी हुई है । वह जयदेव से बदले में व्यक्तिगत स्तर पर भरपूर प्रेम प्राप्त भी करती है । किन्तु सामाजिक स्तर पर जब जयदेव उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को बांटकर

देखता है तो ऐसे समय जयदेव का 'पति' रूप कुन्तल पर हावी हो जाता है और वह कुन्तल के प्रति अपनी हार्दिकता को पीछे छोड देता है । जयदेव से अप्राप्त इस हार्दिकता की पूर्ति तब कुन्तल फुलवारी में स्वयं को लगाकर करती है । ऐसे में जयदेव और फुलवारी- दोनों उसके जीवन का पर्याय हैं, दोनों में से एक का भी अभाव कुन्तल के जीवन को अपूर्ण बना देता है । वह इस रूप में सम्पूर्ण व्यक्तित्व को स्वयं में समाहित करके चलती है । जयदेव का उसे दो व्यक्तियों से पूर्ण मानना उसके व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को खण्ड-खण्ड करके देखना है । वस्तुत: कुन्तल के चरित्र में जो वृहत्तर मानवीय प्रसंगों के समावेश की बात कही जाती है ।[1] वह कुन्तल के न केवल फुलवारी के प्रति मोड लिये गये प्रेम के कारण है और न केवल जयदेव के प्रति प्रेम के कारण है । और न केवल जयदेव के प्रति प्रेम के कारण है । वह समावेश तो दोनों को कुन्तल के चरित्र में संयुक्त रूप से ग्रहण करने पर ही होना सम्भव है । ऐसे में कुन्तल का फुलवारी प्रेम जयदेव के प्रति असन्तोष की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं है प्रत्युत जयदेव के व्यक्तित्व को ही पूर्णता देने के लिये है । विवाह ने कुन्तल और जयदेव दोनों को इसी प्रक्रिया द्वारा मिलाकर एक किया है, बांटा नहीं है- स्वयं कुन्तल के शब्दों में- 'अरे । पति-पत्नी में बंटवारा नहीं चलता । ब्याह करोगी तो पता चलेगा ।[1]

जहां तक कुन्तल के निरंजन के प्रति रुझान का प्रश्न है- उसे कुन्तल की अतीतजीविता की संज्ञा दी जा सकती है- ऐसा अतीत जिसकी सुगन्धि से कुन्तल का मन आज भी हरा-भरा हो जाता है । कुन्तल निरंजन को अपना ही समझती है क्योंकि वह सुन्दरम को स्वयं को सौंपने की बात कहती है और अन्तत: स्वयं को (अर्थात् निरंजन को) उसे सौंप भी देती है । निरंजन कुन्तल का अपना कब से हुआ- तब से जब से उसकी सगाई की बात कुन्तल से होना प्रारंभ हुआ था । लेकिन यह तो आत्म दर्शन था ही नहीं- यह तो एक प्रकार की पद्धति थी । अतस्व इस रूप में निरंजन को कुन्तल का अपना नहीं माना जा सकता ।

१- रातरानी- पृ० ३१

तब क्या यह कहा जाय कि जब से कुन्तल ने निरंजन को सुन्दरम के साथ देखा, तब से वह उसे अपना समझने लगी ? लेकिन तब तक तो कुन्तल ही परायी हो गयी, जयदेव की पत्नी बन चुकी । बिना आत्म दर्शन के जब कुन्तल पुरुष स्त्री के सम्बंध की बात स्वीकार नहीं करती तो फिर निरंजन के प्रति उसका `राग` क्या है ? यदि यह कहा जाता है कि कुन्तल जयदेव के व्यक्तित्व के अभावों की पूर्ति निरंजन द्वारा करना चाहती है तब तो निरंजन कुन्तल के लिये व्यक्तित्व की पूर्णता हेतु एक भराव मात्र सिद्ध होता है । वस्तुत: कुन्तल का निरंजन के प्रति राग अस्पष्ट है- जबकि वह जयदेव और फुलवारी, दोनों का योग कर अपने जीवन को संपूर्ण बना रही है । केवल एक ही कारण मालूम होता है और वह यह कि निरंजन कुन्तल के लिये एक स्मृति चित्र है जो उसमें मीठा व तिक्त- दोनों ही भाव भरता है । इसीलिये निरंजन की उपस्थिति उसमें आन्तरिक तनाव को जन्म देती है, वह निरंजन के प्रति आकर्षण और अपकर्षण- दोनों के मध्य झूलती है । निरंजन के चले जाने पर भी कुन्तल जब स्वयं को सम्भाल नहीं पाती तो माली उससे कहता है- `मां ! आओ, फुलवारी में चलो, मन हल्का हो जायेगा ।[१]

कुन्तल का चरित्र आदर्श का अवदर्श० आधार लिये खड़ा है- आत्मानुभूति या आत्म दर्शन कुन्तल का सामाजिक जीवन दर्शन है जबकि विडम्बना यह है कि अपने ही जीवन में वह इस दर्शन की पालना नहीं कर पायी । यह आत्म-दर्शन उसके अनुसार शकुन्तला, पार्वती इत्यादि के क्रमश: दुष्यन्त और शिव से बंधने का कारण बना- फलत: भरत और कार्तिकेय का जन्म हुआ । ये ऐतिहासिक, प्रक्रिया का परिणाम नहीं थे प्रत्युत प्रेम और उसके मूल में छिपी आत्मानुभूति का परिणा थे । कुन्तल के उन पत्रों में जो उसने `एक होने वाली पत्नी द्वारा होने वाले पति` को लिखे थे, यह आत्म दर्शन संकेतित है, निरंजन और कुन्तल के मध्य वह आत्म दर्शन फलीभूत होने से पूर्व ही नष्ट हो गया । जो भी हो, कुन्तल का

१- रातरानी- पृ० ६०

आदर्शवाद उसका अतीत के प्रति सहज आकर्षणापकर्षण और वर्तमान के प्रति प्रेम, श्रद्धा और विश्वास (जो महर पत्नी और केशर के फूल के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं) ही उसे `रातरानी के विशेषण से जोड़ता है । जयदेव उसका वर्तमान है और उसके प्रति अपने विश्वास को अक्षुण्ण रखना ही उसके लिये चुनौती है । यह विश्वास वह प्रेस मजदूरों की भीड के बीच माथे पर पत्थर की चोट खाकर अर्जित करती है । जीवन की यथार्थ समस्याओं का हल विश्वास, श्रद्धा व प्रेम के सहारे प्राप्त करने का प्रयत्न उसे मानवता वादी बनाता है । उसके लिये चुनौती है- यह विश्वास वह प्रेस-मजदूरों की भीड़ के बीच माथे पर पत्थर की चोट खाकर अर्थित करती है । जीवन की यथार्थ समस्याओं का हल विश्वास, श्रद्धा व प्रेम के सहारे प्राप्त करने का कुन्तल का प्रयत्न उसे मानवतावादी बना देता है ।

कुन्तल को अपने जीवन के अप्राप्य तत्व का बोध है - दयदेव की अर्ध-जीविता से कुन्तल का स्वयं की भावनाओं को उपेक्षित किये जाने की पीडा का बोध उसमें चोट अवश्य उत्पन्न करता है जिसके कारण `सूने महल में उडते सुनहले पन्नों ` के पीछे वह दौडती है किन्तु इस चोट वा आत्तरिक तनाव का समाधान भी खोज लेती है- जयदेव के विरुद्ध संघर्ष अथवा विद्रोह की सीमा तक बढकर नहीं प्रत्युत उसके हृदय को अपने प्रेम के बल पर जीतकर । यहीं उसका उन नारियों से वैशिष्ट्य प्रकट हो जाता है जो अपने अहं का यत्किंचित भी विगलन न कर पाने की स्थिति में पारिवारिक विघटन का कारण बनती है । इसका कारण इन नारियों की `भावना के स्तर` पर न जी पाने की विडम्बना है जबकि कुन्तल में भाव सम्बंधों द्वारा ही खण्ड-खण्ड होने जा रहे पारिवारिक जीवन को बचा लेने का स्तुत्य कार्य है । वह पति में अपेक्षित गुण न पाने की स्थिति में न तो सावित्री की भांति यह कहकर प्रताडना करती है कि `आदमी होने के लिये क्या यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शाख्सेयत हो ।[१] न ही पूरे आदमी की खोज में वह `सिंघानिया`, `जुनेजा`, `मनोज` व `जगमोहन` की ओर भागती है

१- आधे अधूरे- मोहन राकेश ।

(यहां निरंजन का नाटक में स्थान `अन्य पुरुष` के रूप में देखा जा सकता है) वस्तुत: जीवन से भागने की यह स्थिति जीवन में तब आती है जब आस-पास सभी कुछ खण्डित होता है लेकिन `रातरानी` के परिवेश में अण्डता या जीवन की पूर्णता अधिक सशक्त रूप में उभर कर सामने आती है । - वह कुन्तल के प्रसंग में हो या फुलवारी के प्रसंग में या निरंजन व सुन्दरम के दाम्पत्य के प्रसंग में । ऐसे में जयदेव की अपूर्णता असाध्य रोग बनकर समक्ष नहीं आती, कुन्तल द्वारा उसका उपचार शीघ्र हो जाता है ।

कुन्तल की तुलना में जयदेव का चरित्र बड़ा ही लघु है और नाटक के अन्य चरित्रों की तुलना में कहीं नहीं ठहरा पाता । फिर भी उसके चरित्र का गठन कुछ इस प्रकार है कि समग्र प्रभाव के रूप में उसके प्रति दर्शकों में सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो जाता है और वह दया का पात्र बनकर समक्ष आता है । तथापि जयदेव सामयिक परिस्थितियों में सम्भाव्य पात्र के रूप में समक्ष आता है । क्योंकि वह आधुनिक समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है । उसके द्वारा आज के मनुष्य की अर्थजीवी प्रवृत्ति का चित्र खींचा जा सकता है । दूसरी ओर, कुन्तल आज के समाज में सहज प्राप्य पात्र के रूप में प्रकट नहीं होती । उसका सर्जन करने में नाटककार को श्रम करना पड़ा है क्योंकि वह समाज को दिशा बोध करानेवाला पात्र है । लेकिन जयदेव का सर्जन करने में नाटककार को श्रम नहीं करना पड़ा है क्योंकि वह वस्तु-स्थित समाज को समक्ष करता है । ऐसा समाज को नाटककार के इर्द-गिर्द फैला हुआ है ।

जयदेव से हमारा परिचय प्रथम अंक के प्रारम्भ में होता है जब वह कमरे में प्रविष्ट होकर कुन्तल के गीत की स्वर लहरी में खो जाता है । वह आकर्षक पुरुष है, अवस्था पैंतीस वर्ष है । कुन्तल के गीत में खो जाना उसके कुन्तल के प्रति अनुराग की ओर संकेत है । लेकिन यह अनुराग अन्तरंग जीवन में ही फलता है । सामाजिक स्तर पर उसका कुन्तल से मतभेद स्पष्ट हो जाता है- `तुम कुछ नहीं समझती, कुन्तल ! तुम्हारा ज्ञान अभी पुस्तकों तक ही सीमित है, तभी तो तुम

कहती हो कि पढ़ी लिखी स्त्री का क्षेत्र घर है ।[१] जयदेव का तथाकथित व्यावहारिक ज्ञान` ~~स्वार्थ~~ एकानाक्मि एज` के कारण है जो उसे अपने प्रेस मजदूरों के प्रति क्रूर होने को प्रेरित करता है । प्रेस के मजदूरों की हडताल के पीछे जयदेव का अर्थवाद ही कार्य कर रहा है । कुन्तल प्रेस-मजदूरों की हडताल को न्याय की तुला पर तौलती है, इसीलिये उसके अनुसार- `धर्म में कहीं `स्ट्राइक` नहीं है । स्ट्राइक है तुम्हारे अर्थ में ।[२] जयदेव ने `अर्थ को ही जीवन मूल्यों का वाहक माना है और इसीलिये इस अर्थ की कैंची को वह मनमाने ढंग से मजदूरों पर चलता रहता है । यहां उसके अन्दर की पूंजीवादी प्रवृत्ति उभर कर सामने आती है । जीवन की हार्दिकता उसके लिये बेमानी बन जाती है यदि घर में धन की कमी हो- `जिस घर में धन की कमी हो, सुख -साधन की सीमा हो- वहां संगीत और कला का कोई मतलब नहीं ।[३] युग के अर्थवाद के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने को ही वह `प्रोग्रेस` मानता है । जयदेव और कुन्तल के मध्य अर्थवाद को लेकर जो मतभेद है, एक कोण से देखने पर वह मालिक और मजदूर संघर्ष के रूप में समक्ष आता है ।

जयदेव के अर्थजीवी होने का ही दूसरा रूप है उसका अपनी परंपराओं से कटकर और शरीर के स्तर पर जीकर- वस्तुत: स्वार्थी होकर - आधुनिक होने का दावा करता अपनी तुलना में वह कुन्तल को मध्ययुगीन कहकर उपहास करता है लेकिन वस्तु स्थिति में वह स्वयं ही मध्ययुगीन है किन्तु स्वयं की कमजोरी छिपाने के लिये वह कुन्तल के समक्ष स्वयं को आत्म-प्रतिष्ठित करना चाहता है । कुन्तल से पत्रों की मांग करना औरमाली को चौके पर भोजन करने के अधिकार को छीनने के प्रयत्न द्वारा अपनी संकीर्णता का परिचय देना उसकी मध्य-युगीन मानसिकता के प्रमाण हैं । पत्नी पर हावी होकर अपने पौरुष का अहं-प्रदर्शन उसके मध्य युगीन

१- रातरानी- पृ० २५

२- वही- पृ० २४

३- वही- पृ० ४२

चिन्तन प्रक्रिया से गुजरने का बोध है । यह बोध तब अधिक स्पष्ट हो उठता है जब कुन्तल द्वारा स्वयं को भी होटल साथ ले चलने की मांग के उत्तर में जयदेव कहता है-' अपनी बाहर की कुन्तल से कहो- अभी वह घर की कुन्तल की अपेक्षा बहुत बच्ची है ।[१]

जयदेव कुन्तल को रूपों में देखना चाहता है । पत्नी के रूप में घर पर एवं लक्ष्मी के रूप में बाहर । कुन्तल के बाहरी रूप को वास्तव में वह अपने उपयोग में लाना चाहता है । वह कहता भी है- 'कहो, तुम्हारी म्यूजिक क्लासेस ठीक चल रही है न । अब बहुत जल्दी से कार खरीद लूंगा ।[२] अधिकाधिक धन कमाने के लिये वह अपनी पत्नी को भी अर्थजीवी बनने को बाध्य करता है । अर्थोपार्जन की यह क्रिया पति-पत्नी - दोनों की ओर से हो, तब उसे सहकार की संज्ञा दी जाती है किन्तु जहां पति संचित धन पर केवल मौज करना चाहता हो तो वह उसका पत्नी पर किया गया शोषण कहा जायेगा । जयदेव शोषण ही कर रहा है । यह शोषण केवल पत्नी द्वारा नौकरी से कमाये जा रहे धन की ही नहीं है प्रत्युत उस अर्जित संपति का भी है जिसे उसके पिता उसके लिये छोड़ गये हैं । जयदेव द्वारा पत्नी के दो व्यक्तित्वों को स्वीकार करने के पीछे उसकी सिद्धान्तवादिता नहीं प्रत्युत स्वार्थपरता ही है । वस्तुत: कुन्तल के अखण्ड व्यक्तित्व को दो करके देखने के पीछे वह अपनी ही अपूर्ण जीवन दृष्टि का परिचय देता है । विधि-विधान वश जयदेव और कुन्तल एक साथ होकर भी फुलवारी में उगे लाल कनेर और रातरानी की तरह दूर-दूर हैं ।

जयदेव में अपनी अपूर्णता के प्रति कहीं-कहीं आत्म-स्वीकृति भी प्राप्त होती है जब वह कहता है कि उसके जीवन में साहित्य,दर्शन, कला की जो कमी थी

१- रातरानी- पृ० ७३

२- वही- पृ० ५४

वह कुन्तल द्वारा पूरी हो गयी । लेकिन कुन्तल के रूप में उसे प्राप्त ये गुण उसके चरित्र निर्माण का अंग नहीं बन पाते प्रत्युत उसके अपने चरित्र में अधुलनशील बनकर रह जाते हैं । भावावेग में बहकर वह अवश्य कुन्तल के इन गुणों की प्रशंसा कर देता है किन्तु उन्हें अपने चरित्र में स्थायी स्थान नहीं दे पाता । इसका कारण यही है कि कुन्तल के गुणों का उसके अपने मूल व्यक्तित्व से ही सर्वथा विरोध है- कनेर और रातरानी के समान इस युगल का सम्बंध है । इसीलिये यदि जयदेव को कुन्तल के साथ जोड़कर देखना चाहा जाय तो उन क्षणों की प्रतीक्षा करनी होगी जब भावावेग जयदेव को कुन्तल के निकट खोज लाते हैं । जयदेव की आन्तरिक जीवन्तता से जुड़े रहने तक ही बनी रह सकती है । जैसे ही वह उससे दूर होता है, सामाजिक, जीवन के क्रूर प्रश्न और उनके क्रूर समाधान उसे घेर लेते हैं । यही कारण है कि फुलवारी का सानिध्य पा जयदेव प्रफुल्लित हो उठता है, नाच उठता है । उसे इस प्रफुल्लता के क्षण प्रदान करने का श्रेय भी कुन्तल को है । वही सुन्दरम को, जयदेव को उसी की `फुलवारी` दिखाने का अवसर प्रदान करती है । सुन्दरम द्वारा फुलवारी दिखाने की बात किंचित आश्चर्य में डालने वाली हो सकती है किन्तु वस्तुत: यह एक सत्य की ओर संकेत है ।- स्वयं को समझने के लिये दूसरों की दृष्टि आवश्यक होती है । दूसरे द्वारा ही व्यक्ति स्वयं को मुखर कर सकता है और सही स्वरूप की खोज कर सकता है । वास्तव में अपनी ही वस्तु `फुलवारी` को कुन्तल के प्रयत्नों और सुन्दरम की दृष्टि से देखने पर उसके अन्दर जो आनन्द का स्त्रोत है प्रच्छन्न है, जयदेव को भी अनुभूत हो उठता है । जयदेव को व्यक्तित्व की सीमा तक उठाने वाला यही आनन्द तत्व है जो उसका वास्तविक स्वरूप है और जिसे उसकी अर्थोपार्जिता ने दबा रखा है । `अर्थ` के अहं का पर्दा अन्तत: जब उस पर से हटता है तो जैसे वह अ जीवन के उक्तहार्द को अब तक स्थायित्व का देखाने की पीडा से भर उठता है और उसे अपनी हीनता का बोध होता है - `विश्वास करो, आज मुझे पहली बार चोट लगी है और वह भी सीधे हृदय में । -----तुम नहीं जानतीं, मैं अकेला कितना निर्बल हूं ? [१] पचहत्तर हजार रूपये की पूंजी

१- रातरानी- पृ० ११७

से हाथ धोकर बैठा जयदेव सहानुभूति का पात्र बनकर सामने आता है - कुन्तल द्वारा विजित होकर, दंशित होकर भी वह घृणा या उपेक्षा का पात्र नहीं माना जा सकता । वस्तुत: वह परिस्थिति व परिवेश से प्रभावित हो जाने वाला लचीला(Flexible) इन्सान है जो निर्धनता का बोध होने के पश्चात प्रायश्चित के लिये जैसे दीनता के साथ प्रस्तुत होता है । कुन्तल का सान्निध्य, उसकी श्रद्धा व प्रेम जयदेव के लिये सत्य-असत्य,कर्म-अकर्म, सुख-दु:ख का बोध कराने वाला बन जाता है ।

जयदेव और कुन्तल के सम्बंध को स्पष्ट करने के लिये निरंजन व सुन्दरम के चरित्रों की सर्जना की गयी है । निरंजन की भूमिका इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । वह कुन्तल के अतीत की अग्नि को कुरेदने का कार्य करता है । बुद्धिजीवी होने के साथ विश्वविद्यालय में वस्तु- दर्शन शास्त्र का लेक्चरर है । एक समय था जब कुन्तल का विवाह निरंजन से हो रहा था किन्तु निरंजन के पिता द्वारा उठाये दहेज के प्रश्न पर यह सम्बंध पूर्व ही टूट गया था । निरंजन स्वयं को इस कार्य के लिये अपराधी मानता है यद्यपि इस बात पर विद्रोह करते हुए वह पिता से अलग भी हो गया था ।

कुन्तल से विवाह न होने के पश्चाताप निरंजन को है किन्तु समान रुचिधर्मिता की प्राप्ति न हो पाने के कारण वह अन्य को कुन्तल का स्थानापन्न भी नहीं बना सकता । कुन्तल के साथ उसकी आत्मीयता क्या आत्म-दर्शन की प्रक्रिया है- वस्तुत: ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि कुन्तल व निरंजन को एक दूसरे को समझने का यथेष्ट अवसर ही नहीं मिला । पत्रों द्वारा परस्पर पहिचान और आत्मानुभूति होने के सम्बंध में उस सघनता की आशा नहीं की जा सकती जो आत्म दर्शन की प्रक्रिया को पूर्ण करे । तथापि कुन्तल के पत्र, उसके साथ निरंजन के सम्बंध, कुन्तल व निरंजन दोनों का भाव और विचार के स्तर पर एक होना और अन्तत: कुन्तल के साथ सम्बंध विच्छेद होने के कारण उसमें उत्पन्न अपराध भाव- सब मिलकर निरंजन को कुन्तल से अधिक गहरे धरातल पर परिचय सूत्र में जोड़ देते हैं ।

कुन्तल की वैवाहिक भूख निरंजन के सामीप्य से मिटती है- अतएव वह उसे जयदेव के समान ही आत्मीयता प्रदान करती है । जैसा कि कुन्तल के चरित्रांकन के सन्दर्भ में कहा जा चुका है , जयदेव और निरंजन के मध्य रहकर भी कुन्तल के मध्य तनाव तब उत्पन्न होता है जब उस पर उसका पत्नीत्व हावी होता है अन्यथा एक भावनामयी और बुद्धिजीवी नारी के रूप में आत्मीयता ही उसे क्रमश: जयदेवऔर निरंजन की ओर खींचती है । इसी आत्मीयता वश वह निरंजन को उसी के योग्य जीवन साथी प्रदान करने में साक्षी का कार्य करती है । निरंजन और सुन्दरम का विवाह कराती है, किसी प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर नहीं । दूसरी ओरनिरंजन कुन्तल के इस उपकार के बोझ से लदा समय-समय पर उसका सहयोग करना चाहता है । इस प्रकार कुन्तल पर हुए उस अन्याय के सम्बंध में स्वयं की सफाई देना चाहता है । यूनिवर्सिटी में कुन्तल को नौकरी दिलाना, मध्यस्थ होकर प्रेस-मजदूरों से हड़ताल समाप्त करने का प्रयत्न करना- अन्य अर्थों में कुन्तल के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना है । वही नौकरी, जब कुन्तल स्वाभिमान वश छोड देती है तो इस प्रसंग में भी यह कहकर वह अपना ऋण व्यक्त करता है-`ठीक किया कुन्तल ने । मैंने नाहक ही उसका श्रेय ले लिया था ।`[१] निरंजन का कुन्तल के प्रति वह समर्पित भाव स्पष्ट हो जाता है जिसके आकर्षण में बंधी कुन्तल भी इस `सूने महल` में उडते `सुनहले पन्नों का पीछा करती है ।

सुन्दरम स्वतंत्र पात्र नहीं है प्रत्युत कुन्तल को ही व्याख्यायित करने वाला पात्र है । वह कुन्तल की अपेक्षा अधिक मुखर है और नारीत्व को स्वाभिमान के साथ जीने का मंत्र देती है । सम्भवत: नाटककार की भी कुन्तल और उस जैसी अनेक नारियों से यही अपेक्षा रही है । सुन्दरम की दृष्टि में विवाह एक बन्धन है और स्त्रियों के लिये तो बड़ा ही अपमान जनक है- `पढ़ी लिखी लड़कियों का यह

१- रातरानी- पृ० १०१

सारा विवाह का चक्कर बड़ा ही अपमान जनक है । पति के माने इज्जत-मर्यादा नहीं जो विवाह के बाद कन्या को वर से मिलती है । बल्कि पति के अर्थ होते हैं मालिक, मालिक माने खुदा नहीं, मालिक माने गुलाम वाला मालिक ।[१] लेकिन निरंजन के साथ उसका आत्म दर्शन उसे निरंजन के साथ दाम्पत्य सम्बंध में बांध देता है और फिर पति की इच्छा के अनुरूप वह प्रोग्राम एक्जीक्यूटिव की नौकरी का भी त्याग कर देती है । कुन्तल और जयदेव के दाम्पत्य को चुनौती देने के लिये नाटककार द्वारा सुन्दरम का उक्त चरित्र निर्माण उपयुक्त हो सकता है अन्यथा सुन्दरम का विवाह और फिर पति की इच्छा का अनुमोदन उसी के ऊपर कहे विवाह सम्बंधी उदगारों के साथ विरोधाभासी प्रतीत होते हैं । वस्तुत: सुन्दरम का स्वतंत्र चरित्र निर्माण नाटककार का अभीष्ट नहीं है । इसी कारण उक्त विसंगति उसके चरित्र में लक्ष्य होती है ।

माली कुन्तल के शब्दों में घर का ही सदस्य है- यद्यपि जयदेव उसके सम्बंध में अधिक उदार नहीं है । वह इस घर की परम्परा का दर्शक और समीक्षक दोनों है । बदलते हुएसामाजिक व आर्थिक जीवन मूल्यों से पारस्परिक सम्बंधों का बिखराव और जीवन दृष्टि में उत्पन्न संकुचन माली की वेदना का कारण है । कबीर पन्थी होने से जीवन के प्रति विरक्ति उसमें है लेकिन स्व० इंजीनियर साहेब द्वारा स्थापित महत् परंपराओं को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ जयदेव और विवश कुन्तल को देखकर उसका ~~मर्ममर्मर्म~~ इस घर के प्रति मोह उत्पन्न हो ही जाता है । नाटक के सभी चरित्र उसकी दृष्टि से गुजरकर ही पूर्णता या अपूर्णता के मापक सिद्ध होते हैं । फुलवारी का कार्य उसके लिये भी वैसे ही सेवा का कार्य है जैसे कुन्तल के लिये । वह उसका कैलास-लोक है जहां वह अपने शेष जीवन को सेवा द्वारा व्यतीत कर देने को कृत संकल्प है ।

१- रातरानी- पृ० ३७

नाटक में योगी और प्रकाश जयदेव के चरित्र को पतनोन्मुख करने वाली राक्षसी शक्तियां हैं । उनका न तो स्वतंत्र अस्तित्व है न ही वे नाटक के उल्लेखनीय पात्र हैं । हां, नाटकीय कार्य में हास्य और संघर्ष की स्थितियों को गतिशील बनाने में उनका योग है । सुन्दरम के साथ आत्मा के नाटक के प्रसंग में और जयदेव के चरित्र के बिन्दुओं को उभारते हुए अन्ततः उनके जयदेव पर क्रोधित हो कुर्सी उठाने के प्रसंग में।

'रातरानी' नागर परिवेश में रचा डा० लाल का वह पहला नाटक है जिसमें 'सम्पूर्ण रंगमंच' की सम्भावनाओं पर विचार किया जा सकता है । 'अन्धा-कुआ' अपनी यथार्थता में पूर्ण तो था किन्तु परिवेश व चरित्र चित्रण में नाटककार का रुझान उसे पारम्परिक नाट्य-लेखन से ऊपर नहीं उठा पाया । 'मादा कैक्टस' की प्रयोगधर्मिता ने तो उसे सम्प्रेषण की दृष्टि से सफल नाट्य-कर्म नहीं बनने दिया- फलतः उसका दर्शक भाषागत प्रतीकों की भूल-भुलैया में ही भटक गया । 'सूखा सरोवर' का शिल्प (गीति नाट्य) तो उसके कथ्य व चरित्र को ही ढंक ले गया । 'सुन्दर रस' प्रहसनात्मक मूड में लिखे जाने के कारण सम्पूर्णता की अपेक्षा से ही परे है और 'रक्त कमल' में चिन्तन और चरित्र का फैलाव नाटक पर छाये होने से उसमें सम्पूर्णता की तलाश नहीं की जा सकती । टोटल-थियेटर की इस अपेक्षा को डा० लाल ने 'रातरानी' द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया है ।

'रातरानी' के सम्पूर्ण रंगमंच की कसौटी है । उसमें प्रयुक्त नाट्य-भाषा व सम्वाद, उनकी काव्यात्मक-यथार्थ के निर्माण में भूमिका, क्रिया के साथ उनकी अन्योन्याश्रितता, रंगमंच पर अभिनयगत लय उत्पन्न करने की उनकी निपुणता और नाटक के फार्म को प्रभावित करने की उनकी सीमा ।

डा० लाल ने 'रातरानी' में काव्यात्मक यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करते हुए इब्सन के 'डाल्स हाउस' सीगल' के रंगमंच का उदाहरणप्रस्तुत किया है जो उनके अनुसार -'महज यथार्थ का आधार लिये हुए है, शेष इसमें मानवतापूर्ण ठोस कथा के सहारे बहुमुखी जीवन के प्रति अपनी एक विशेष कलात्मक व्यंजना है । ये

दोनों नाट्य-कृतियां अपने आन्तरिक रंगमंच की अन्विति में निश्चय ही कहीं काल्पनिक रंग-तत्वों तथा काव्यमयी वृत्तियों से निर्मित हैं।[१] यहां उनका काव्यात्मक यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है जिसके अनुसार निम्नांकित तत्वों की आवश्यकता है- मानवतापूर्ण ठोस कथा, जीवन की बहुमुखता व उसकी कलापूर्ण व्यंजना , काल्पनिक रंग तत्व, काव्यमयी वृत्तियां। कुन्तल के व्यक्तित्व को आधार बनाकर और उसमें मानवीय तत्वों की प्रतिष्ठा करके नाटक के कथ्य को मानवीय बोध प्रदान किया है। जीवन की फुलवारी और उसमें कुन्तल का रातरानी की तरह महकना मानवीय स्पर्शों से नाटक को भरता है। जब कुन्तल कहती है कि- `ब्राइडल क्रीपर पूरे वर्ष भर में केवल पन्द्रह दिनों तक फूलती है, शेष वर्ष भर वह उसकी तैयारी करती है। मैं सोचती हूं, मनुष्य जो इतना कार्य-व्यस्त रहता है, सदा इतनी तैयारी में रहता है ब्राइडल क्रीपर की तरह वह कब फूलता है और सुगन्ध बिखेरता है और कब खंजन की तरह गाता है।[२] - तो वह जीवन में प्रकृति की जीवन्तता के समावेश की अभिलाषिणी बन जाती है। नाटक के इन्हीं अंशों में मानवता का बोध होता है। दूसरी ओर, कुन्तल से सर्वथा विपरीत जयदेव के जीवन का जो चित्रण है, वह कुन्तल के जीवन का विपर्यय बनकर तो प्रस्तुत होता ही है, इस कारण एक रचनात्मक द्वन्द्वका भी कारण बनता है। विपरीत चरित्रों के अभिघटन से द्वन्द्व का चित्रण पारम्परिक है किन्तु उस द्वन्द्व में चरित्रगत उत्थान-पतन व इसी के द्वारा कथा को आगे बढाने का जो कौशल है, वह `रातरानी` में द्रष्टव्य है। फिर भी कुन्तल और जयदेव द्वारा बहुमुखी जीवन का चित्रण करने के उपरान्त कुन्तल के जीवन की सुगन्ध (जिसे रातरानी की महक के रूप में देखा गया है) ही नाटक पर छायी है। ऐसे में जीवन की बहुमुखता की कलापूर्ण व्यंजना होने पर भी अन्ततः नाटक कुन्तल के जीवन दर्शन की ओर केन्द्रित हो जाता है।

१- रातरानी- पृ० ४

२- वही- पृ० ६७

नाटक में काव्यात्मक यथार्थ की प्रतिष्ठा के दो तत्व- काल्पनिक रंग तत्व और काव्यमयी वृत्तियां- नाटक के शिल्प से सम्बद्ध हैं और इनके समावेश का प्रमुख घटक है- नाटककी भाषा और उसमें प्रयुक्त सम्वाद तत्व । यहां यह ध्यातव्य है कि भाषा स्वयं में स्वतंत्र नहीं है प्रत्युत काव्यात्मक यथार्थ का हेतु बनकर आयी है । `रात रानी` की भाषा में डा० लाल `मादा कैक्टस` के समान प्रयोगधर्मिता से बचे हैं, भाषा को बौद्धिक ~~अत्यन्त~~ व्यायाम की कसौटी पर नहीं चढाया है और सम्प्रेषण की प्रक्रिया में विखण्डन (Fragmentation) के दोष से बचे हैं । इसी कारण इस नाटक की भाषा का स्वरूप केवल शिल्प गठन की दृष्टि से नहीं प्रत्युत कण्टेण्ट की दृष्टि से भी उद्भावना के गुण लिये हैं । भाषा की यह विशेषता उसके `~~पेण्ड्युलम~~ पेण्ड्युलर`[१] होने का प्रमाण है और इसे स्पष्ट करने के लिये उसे निम्नांकित कसौटियों पर कसा जाना आवश्यक है -

नाट्य-भाषा की एक महत्वपूर्ण सीमा है ~~-~~ उसकी पात्रोपजीविता। नाटक में पात्र जिस भाषा का प्रयोग करता है वह उसके व्यक्तित्व को प्रकट करने वाली होती है । ऐसे में नाटक कार को पात्र और उसके द्वारा बोले जा रहे शब्दों पर परस्पर तालमेल बैठाना आवश्यक होता है । पात्र के अन्तर्निहित जीवन तत्वों को उभारना ही उस पात्र के अन्दर चारित्र्य भरना है । यदि नाटककार इस प्रक्रिया के लिये प्रथम तो नाट्य-रचना से पूर्व ही पात्रों की ~~संकल~~ संकल्पना करता है और इसके द्वारा ही उन पात्रों को दी जाने वाली भाषा के सम्बंध में वह पूर्व निश्चय कर लेता है । ऐसी स्थिति में नाटक की भाषा पात्र बनकर आधारित होकर प्रकट होती है और उसे नाट्य-भाषा की संज्ञा दी जाती है । `रातरानी` में पात्र व भाषा के परस्पर तालमेल के अनेक कारण हैं :-

१- जयदेव और कुन्तल के स्नेह प्रसंगों में प्रयुक्त भाषा
२- सुन्दरम और कुन्तल के सम्वाद में प्रयुक्त भाषा
३- जयदेव और उसके मित्रों के सम्वाद में प्रयुक्त भाषा
४- कुन्तल और निरंजन के सम्वाद मेंप्रयुक्त भाषा

१- The theatre and Dramatic theory (A. Nicoll) - P. 150.

नाटक के प्रारंभिक दृश्य में जयदेव और कुन्तल के मध्य चल रहे अन्तरंग वार्तालाप के ये कतिपय अंश उल्लेख्य हैं जो कुन्तल व जयदेव के चारित्र्य को उभारने वाले हैं-`यह ढाई मन का सिर क्यों ~~हिलता~~ हिलाते हो---नहीं बताओगे तो लो---न बोलो,न बोलो ।(कुन्तल का जयदेव के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उक्त रेखांकित शब्दों में प्रकट होता है।),`प्रेस कर्मचारियों को मेरे इस घर की लक्ष्मी की सहानुभूति जो प्राप्त है (जयदेव के इस कथन का अन्तिम वाक्यांश कुन्तल के प्रति उसके उलाहने को प्रकट करता है।),`यह-अर्थ `धर्म में कहीं स्ट्राइक नहीं है ।स्ट्राइक है तुम्हारे अर्थ में ।` (धर्म और अर्थ-इन दो शब्दों की अन्विति कुन्तल और जयदेव के चरित्र की विरीतता को प्रकट करती है।), `यह अर्थयुग है, अर्थयुग । इकानामिक एज । (अन्तिम शब्दों पर जिस प्रकार जोर दिया गया है, वह जयदेव के जीवन दर्शन को प्रकट करता है।) उक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि यहां भाषा पात्र के चरित्र को उभारने के लिये सहवर्ती होकर आयी है । शब्द यहां चरित्रगत रेखाओं को प्रतिबिंबित करते प्रतीत होते हैं । इस स्थिति में ये शब्द भाषिक माध्यम से चरित्र गत एवं उनकी मन: स्थितिगत अर्थ को ध्वनित करते चलते हैं ।

सुन्दरम और कुन्तल के सम्वाद में शब्द कहीं-कहीं चरित्रगत वैशिष्टय को ध्वनित करते हैं । उदाहरणार्थ-`वाह । वाह । क्या घर है-----मुकद्दर हो तो ऐसा हो ।`यहां रेखांकित शब्द सुन्दरम के अन्दर की उन्मक्तता और सहदृयता को प्रकट करता है ।उसकी उन्मुक्तता `वाह रे मरी रातरानी`,`सुनो सुनो एक मजेदार बात`, `मुफ गरीब से उन्हें प्रेम रूपी गलतफहमी का इन्फ्लुएंजा हो गया - आदि उद्रेकों से प्रकट होती है । तथापि ऐसे भाषा प्रयोग अति नाटकीयता की ही सृष्टि करके रह जाते हैं , किसी गहन और सार्थक अभिव्यक्ति की सृष्टि नहीं कर पाते । उदाहरण के लिये कुन्तल की यह अभिव्यक्ति- `यू आर ग्रेट सुन्दरम । अगले जन्म में तुम पुरुष होना अब मैं तुम्हारी पत्नी बनूंगी । तुम मुझे जब पुकारोगी ----- नहीं पुकारोगे कि `ओ री हो, कुन्तल । तुम कहां हो ?` तब मैं चांदनी के झूले पर से बोलूंगी- ` मैं तुम्हारे लिये फूलों का हार बना रही हूं ।[१] केवल कुन्तल और

१- रातरानी- पृ० ३२

सुन्दरम के वार्तालाप में ही नहीं प्रत्युत सुन्दरम के योगी व प्रकाश के साथ हुए संवादों में भी यही अति नाटकीयता दिखायी देती है । काव्यात्मकता के संचार का लोभ संवरण न कर पाने के लिये कुन्तल के उक्त कथन में नाटककार ने अपनी काव्य मूलक तरलता का तो पूरा परिचय दिया है किन्तु उसमें ध्वनि और पात्रगत भावों का प्रतिबिंबन न होने से वह नाटकीय सम्वाद न बनकर मात्र काव्याभिव्यक्ति बनकर रह जाता है । फलत: भाषा में नाट्यगत प्रभाव नहीं आ पाता ।

जयदेव व उसके मित्रों के मध्य हुए संवादों में जयदेव के चरित्र के कतिपय अन्य आयाम उभर कर सामने आते हैं- यहां यह भी ध्यातव्य है कि जयदेव के चरित्र को उभारने में उसके मित्रों का भी सहयोग है । इसी कारण `नाटक -क्वीन` (सुन्दरम के लिये), `भई, अपन तो डाउन`, `भई, मेरे साथ भी मेरी बीबी की किस्मत है`, `अरे वह सुन्दरम आय हाय ! ` मैं तो तभी से उस पर कुरबान हूं प्यारे ।`, `और मैं तो कत्ल हो गया । आहा हा ! क्या चीज है वह ।`, `मैंने तो सिर्फ तुम्हारा कालर पकडा था, पर पहला घूंसा तुम्हीं ने मारा था`, हम उस पर जीजान से फिदा हैं ।`- इन शब्दों या अभिव्यक्तियों में योगी और प्रकाश के चारित्रिक स्तर की अनुरूपता छिपी हुई है और जयदेव के चरित्र का भी एक दूसरा पक्ष यहां उभरकर सामने आता है । नाटकीय प्रभाव डालने में आय-हाय, कुरबान, कत्ल, चीज, जीजान, फिदा आदि शब्द बड़े प्रभावशाली हैं ।

`रातरानी` की भाषा में चरित्रों के प्रेक्षोपण की शक्ति का सर्वाधिक समाहार हुआ है कुन्तल और निरंजन के सम्वादों में । इन दोनों का साक्षात्कार होता है तनाव के मध्य और यही तनाव परस्पर स्नेह और सौहार्द्र के सम्बल द्वारा नाटक के अन्त तक प्रसार पाता है । इसी मन: स्थिति के अनुरूप- `तुम मुझे कहां ले आयीं ? (निरंजन का आन्तरिक तनाव इस अभिव्यक्ति से ही प्रकट होता है), `सुन्दरम, तुमने अच्छा नहीं किया मुझे लाकर ! तुम्हें बताना था कि तुम कहां जा आ रही हो ?`, `आप बहादुर हैं` (यहां निरंजन द्वारा सुन्दरम को `बहादुर`

कहने के पीछे निरंजन स्वयं को कायर के रूप में जस्टीफाई कराना चाहता है ।), `ठीक । मैं अपने को ही दे दूंगी` (कुन्तल द्वारा सुन्दरम को अपने को ही देने के पीछे नाटक की आगामी घटना का पूर्वाभास है । यहां `अपना` शब्द निरंजन की ओर इंगित होने के कारण कुन्तल के चरित्र को उद्घाटित करने वाला है।), निरंजन व कुन्तल के मध्य विवाह, आत्म दर्शन आदि विषयों पर चर्चा होने पर प्रयुक्त शब्द- पति एक संस्था, इन्स्टीट्यूशन, विवाह महज एक कर्मकाण्ड, एक स्कूल, परम्परा का पालन नहीं, आत्मानुभूति, `स्त्री-पुरुष दोनों की आत्माएं यहां बन्दी हैं `, `सिर्फ स्वतंत्र है संयोग, भाग्य- ए ब्लाइण्ड कल्ट`, `लाल कनेर और रातरानी` (ऐसे शब्द प्रतीकात्मक तो हैं ही, अर्थों की अनुगूंज देने का भी कार्य करते हैं ।), `माली की योजना` (निरंजन की वेदना को अभिव्यक्ति देना ही यहां अभीष्ट है।), कुन्तल द्वारा निरंजन को लिखे गये पत्र- `दैहिक प्यास के अतिरिक्त एक अजब प्यास मुझमें और है---संगीत तो जैसे मुझे हरदम बांधे रहता है, क्या मजाल कि मैं उसे एक क्षण के लिये भी भुला सकूं । लगता है यह संगीत मेरे अन्तस्तलवासी की पुकार है । मैं उसे देख नहीं पाती, इन कानों से सुन नहीं पाती पर मेरे भीतर एक के बाद दूसरा सुर, एक के बाद दूसरा राग--------`[१] (कुन्तल के कोमल-तत्व को स्थान-स्थान पर उभारने वाले । ये शब्द भाषा और अनुभूति तत्व को मिलाते चलते हैं।), `श्रद्धा ,विश्वास, भरोसा । पर प्यार नहीं, क्यों ? (जयदेव के प्रश्न उसका कुन्तल के साथ विद्रोह स्पष्ट है।) यों `शब्द उसी विद्रोह को अभिव्यक्त करता है ।)

`नाट्य-भाषा के पात्र के साथ तालमेल के उक्तगुण के अतिरिक्त उसकी एक अनिवार्य आवश्यकता है- दृश्य बिम्ब खडा करने का गुण एवं इसके द्वारा मंच पर सज्जा और वातावरण के निर्माण में निर्देशक के लिये आधार प्रदान करने का कार्य करना । भाषा का यह रूप ही उसे रंगमंच से जोडता है । `रातरानी` में शब्दों

१- रातरानी- पृ० ७१

द्वारा दृश्य-चित्रण की पर्याप्त सम्भावना बन सकती थी किन्तु तब जबकि उन दृश्यों का विवेचन पूर्व ही दिये रंग निर्देशों द्वारा नहीं हो जाता । रातरानी` में सुन्दरम को कुन्तल फुलवारी दिखलाती हुई कहती है-`बगीचे की जरा प्लानिंग देखो । चारों ओर चहरदीवारी के किनारे किनारे युकिलिप्टिस, अशोक, हरसिंगार, कदम, चम्पा और मुचकुन्द । बीचों बीच लिली पाण्ड और वह दक्षिण दिशा में इतना बड़ा फर्न हाउस जिस पर लता की बहार देखो ।[1] यहां शब्दों में दृश्य बोध नहीं है क्योंकि वे केवल विवरणात्मक ढंग से प्रकट होते हैं, उनमें वह काव्यत्व नहीं जो निर्देशक के लिये stage-craft के लिये दृश्य-नियोजन, ध्वनि या प्रकाश योजना के लिये निर्देश दे सकें । साथ ही, इससे पूर्व ही रंग-निर्देश में फुलवारी का विवरण दे दिये जाने पर ये अपनी अर्थवत्ता या प्रभाव ही खो देते हैं । प्रथम अंक के प्रारंभ में नवम्बर मास के प्रथम सप्ताह का विवेचन करने में निर्देशों का उल्लेख तो कर दिया गया है किन्तु कुन्तल व जयदेव के सम्वादों में वैसा एक भी शब्द नहीं जो उस वातावरण की व्यंजना कर सके । दृश्य-बोध करने में शब्दों की जो भूमिका है, वह इस उदाहरण से स्पष्ट होती है-`परन्तु मां ! मुझे भीगने का तनिक खेद नहीं । भीगती नहीं तो आज मैं वंचित रह जाती । (जैसे अपने से बात कर रही हो) चारों ओर धुंआरे मेघ घिर आये थे । मैं जानती थी, वर्षा होगी । फिर भी मैं घाटी की पगडण्डी पर नीचे नीचे उतर गयी । एक बार मेरा अंशुक भी हवा ने उड़ा दिया ।[2] `रातरानी` में शब्दों से पूर्व ही निर्देशों के कारण शब्दों द्वारा उत्पन्न किये जाने वाला प्रभाव समाप्त हो जाता है- जयदेव द्वारा कुन्तल से यह कहे जाने से पूर्व ही कि-`ठण्ड लग जायेगी तुम्हें`- रंग निर्देश में दिसम्बर का सप्ताह और उसकी सुबह का वर्णन कर दिया गया है । रंग निर्देशों का इतना विस्तार और उससे देशकाल की सूचना नाटक के पाठक के लिये उपयोगी हो सकता है, निर्देशक के लिये शब्दों के स्थान पर निर्देशों द्वारा नाटककार की सहायता वस्तुत: निर्देशक की कल्पना शीलता को आगे बढ़ने से रोकना है । इसी तथ्य को समक्ष रखते हुए इस सन्दर्भ में यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है - "Whatever picture the dramatist may wish us to know of, he will describe his scene during the progress of the conversation between the characters"[3]

१-रातरानी- पृ० ३०
२-आषाढ़ का एक दिन-मोहन राकेश
३- The theory of modern stage (Art of the theatre-the first dialogue' by Craig) P.120.

Play Goer - Then is all the stage-direction of the world's plays worthless,
Stage-Director- Not to the reader, but to the stage-director and to the actor - yes.[1]

दृश्य और शब्दके सन्दर्भ में 'रातरानी' का विवेचन करने के बाद कार्य और शब्द को 'रातरानी' में देखना आवश्यक है क्योंकि रंग-कर्म में अपेक्षित लय कार्य और शब्द के पारस्परिक संयोजन से ही बनती है। इस नाटक में, जैसा कि कार्य-व्यापार के विवेचन के सन्दर्भ में देखा गया कि यहां द्वन्द्व वैचारिक स्तर पर अधिक गहन है, कार्य स्तर पर नहीं- यह स्पष्ट होता है कि शब्द विचार तत्व के वाहक अधिक हैं, कार्य तत्व के कम। इसी कारण कतिपय स्थानों पर कार्य व्यापार का वर्णन हुआ है तो वे शब्दाश्रित नहीं प्रत्युत स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुए दिखते हैं। उदाहरण के लिये- नाटक का अंतिम भाग-प्रेस-वर्कर्स का जुलूस जयदेव के घर की ओर आ रहा है। इसी समय जयदेव कुन्तल के सामने रहस्योदघाटन करता है कि वह बैंक के पचहत्तर हजार का बैलेंस जुए में हार गया है। यहां अचानक कुन्तल व माली हतप्रभ होकर जयदेव को देखते रह जाते हैं। यह एक चरम स्थिति पर पहुंचा नाटकीय कार्य है जो मंच पर एक तनाव उत्पन्न कर देता है। किन्तु कार्य की इस अन्तर्हित द्वन्द्वमूलकता को कुन्तल के निम्नांकित सम्वाद और अधिक न बढ़ा एक साथ शान्त कर देते हैं। यहां कुन्तल का चारित्र्य, उसकी वैचारिकता और उसमें निहित सहनशीलता उक्त नाटकीय कार्य को वहीं समाप्त कर देती है। ऐसे में कुन्तल के ये सन्तुलित शब्द उक्त कार्य के अन्योन्य न बनकर विपरीत प्रभाव उत्पन्न करते हैं- 'माली बाबा! मेरे आंचल में केसर का वह पुष्प डालो।'-----' मेरे निर्धन जय। काश तुम सदा इतने ही ईमानदार होते। इस तरह भटकते नहीं। पर अब तो बहुत देर हो रही है। जुलूस करीब आ गया है-----मुझे जाना है।[2] यहां कार्य व शब्द अन्योन्याश्रित नहीं प्रत्युत विपरीत दिशा में बहते दृष्टिगोचर होते हैं। यथार्थ जीवन के परिप्रेक्ष्य में कल्पनाशील चरित्रों के अभिघटन, उन चरित्रों के कर्म व चेतना के विकास व चेतना के

१- The theory of modern stage (Art of the theatre - the first dialogue - by Craig) - p. 121.

२- रातरानी- पृ० ११८

ही संघर्ष से रंगमंच पर जो काव्यत्व का निर्माण होता है, वह तो नाटक के उक्त महत्वपूर्ण अंश में देखने को मिलता है लेकिन `कथा का निर्माण जो घटनाओं के चयन की अपेक्षा पात्रों के कार्य ` द्वारा होता है वह शब्दों द्वारासंचालित न होकर स्वतंत्र है । फलत: यहां शब्द व कार्य अपना राग अलग-अलग अलापते प्रतीत होते हैं । लेकिन वहीं दूसरी ओर ऐसे स्थल भी हैं जहां नाटकीय कार्य का विस्तार ही सम्वादों में हुआ है । ऐसे स्थलों पर प्रयुक्त सम्वाद सहज ही कार्य, दृश्य व कथन का संयोग प्राप्त कर उभरते हैं । ये स्थल नाटक के कार्य-व्यापार के विवेचन के प्रसंग में उद्धृत भी किये गये हैं ।)

नाटक में भाषा की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण तथ्य भी विवेच्य है और वह है स्काध ही किन्तु कुन्तल के चरित्र के गहन स्तरों पर दर्शकों को पहुंचाने के लिए उस अंश में प्रच्छन्न प्रतीक(symbol) को विवेचित करना आवश्यक है । जब `रातरानी` का शीर्षक ही प्रतीकात्मक है तो यह अंश तो कुन्तल के `रातरानी` वत् व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है-`एक बडा सा सुनसान महल जिसमें सुनहले कागज के फटे हुए पन्ने तेज हवा में चारों ओर उड़ रहे हैं । मैं उन उडते हुए फटे पन्नों का पीछा करती हुई सारे कमरों में दौड़ रही हूं ।---- मायावी की तेज हंसी ।[१] कुन्तल का स्वप्न और उसके प्रतीकात्मक अर्थ को समझना आवश्यक है क्योंकि वह उसकी आन्तरिक तनावपूर्ण स्थिति और अचेतन की किसी इच्छा की ओर इंगित करने वाला है । ऐसी किसी घटना की ओर भी वहांसंकेत प्राप्त हो सकता है जो कुन्तल के जीवन पर प्रभाव डाल गयी है । कुन्तल के अचेतन मन की गुत्थियों को खोलने के लिये नाटककार ने दो प्रकार की सहायता ली है- प्रथम, कुन्तल का स्वप्न जिसमें उसके अचेतन इच्छाओं की अनेक सम्भावनाओं को देखा जा सकता है । द्वितीय , इस स्वप्न के कारण उसमें उत्पन्न मन:स्ताप जिसके कारण उसका व्यवहार व क्रियाएं असाधारण बन जाती हैं ।

१- रातरानी-पृ० ९८-९९

कुन्तल के स्वप्न में दृश्यों का एक अटूट सिलसिला चलता है । इन दृश्यों में संकेतों की श्रृंखला सी बन्धी हुई है - बड़ा सा सुनसान महल, सुनहले फटे कागज के पन्नों का हवा में उड़ना, पीछा करना किन्तु हाथ में कुछ भी नहीं आना, फूलों की सेज पर गिरना और फूलों की सुगन्ध, सितार की झंकार व बांसुरी का मोहक संगीत के बीच मायावी की तेज हंसी । वस्तुत: ये वे वस्तुत: जीवन के बोध (senses) हैं जो यथार्थ जगत से कुन्तल के मस्तिष्क में एक लम्बे समय की प्रक्रिया से स्थानान्तरित हो गये हैं । ऐसे में इन दृश्यों में तार्किकता की खोज तो नहीं की जा सकती किन्तु ये दृश्यों के गुम्फन के उपरान्त एक अर्थ अवश्य देते हैं । तर्कपूर्ण वाक्यों का इस प्रकार सांकेतिक अर्थों में बदल जाना कुन्तल में दो व्यक्तित्वों को कारण बनता है । कार्ल जुंग ने इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है - 'Phychologists assume the existence of an unconscious phyche-though many scientists and philosophers deny its existence.They argue naively that such an assumption implies the existence of two 'subjects or(to put it an a common phrase)two personalities within the same individual. But this is exactly what it does imply-quite correctly.And it is one of the curses of modern man that many people suffer from this divided personality.[1]

वस्तुत: कुन्तल के अचेतन में जयदेव द्वारा अप्राप्त जो 'विशाल जीवन दृष्टि है'- वह जयदेव के उसके प्रति प्रेम को लम्बाई और ऊंचाई का आयाम तो अवश्य देती है किन्तु कुन्तल की अन्य अनेक अपेक्षाओं की पूर्ति के अभाव में जयदेव का प्रेम कुन्तल के मन में एक प्रकार के अभाव का कारण बनता है । वह महल के समान बहुत विशाल और मन में एक प्रकार के अभाव का कारण बनता है । वह महल के समान बहुत विशाल और ऊंचा होने पर भी कुन्तल को एकाकिता ही प्रदान करता है । ऐसे में कुन्तल अपनी अभुक्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये दौड़ती है- निरंजन में

१- Man and his symbols-Cart Jung.P.56

जयदेव के अभावों की पूर्ति चाहती है किन्तु नियति निरंजन को कुन्तल से और भी दूर कर देती है, सुन्दरम जैसे निरंजन को कुन्तल से छीन लेती है । कुन्तल के अचेतन में सुन्दरम और निरंजन के विवाह से निरंजन से अधिक दूर हो जाने की जो नियति है वह कुन्तल की मानो हंसी उड़ाती प्रतीत होती है । जयदेव और निरंजन दोनों से ही वह निष्कल मानवीय प्रेम को प्राप्त नहीं कर पाती है । फलत: वह फुलवारी के जीवन में इस अभाव की पूर्ति करना चाहती है । वस्तुत: यह जीवन भी उसे `उस अभाव को विस्मृत` नहीं कर पाता- मानों उसने से विवश होकर ही फुलवारी मेंस्वयं को भुलाया है । जैसे यह विवशता ही उस पर हंसती है । कुन्तल के अचेतन का यह अभाव उसके स्वप्न में एक मोहक-कामना के छिन्न-भिन्न हो जाने के रूप में प्रकट हुआ है । इस स्वप्न द्वारा जैसे कुन्तल स्वयं को व्यक्तित्वों को स्वयं में प्राप्त करने लगती है । जयदेव द्वारा कुन्तल को दो व्यक्तित्वों में देखने की बात कुन्तल पर आरोपित है किन्तु उसके अचेतन में छिपे आत्म स्वरूप का ज्ञान जब उसे होता है तो वह स्वयं चकित हो जाती है । कुन्तल सुन्दरम और निरंजन का विवाह करा `स्वयं को सुन्दरम को दे देने` का संकल्प पूरा करती है किन्तु उसका अचेतन `निरंजन के उससे दूर हो जाने और कभी हाथ न आने` से उत्पन्न उद्वेग को प्रकट करता है । वहां संकल्प की पूर्ति की प्रसन्नता ` से सर्वथा विपरीत तथ्य उभर कर सामने आता है । यही नहीं, जहां फुलवारी को कुन्तल के अनुराग और रुचि का कारण बताया है (जिसके लिये उसे `नन्दन बन की इन्द्राणी` कहा गया है) वहां अचेतन इसे उसकी विवशता के रूप में देखता है । ये विरोध ही उसमें Double-personalities का कारण बनते हैं । इस कारण कहा जा सकता है कि चेतन व अचेतन जगत में कुन्तल का व्यवहार व चिन्तन भिन्न-भिन्न अथच दोहरा है । तात्पर्य यह कि कुन्तल को स्वप्न में दिखायी देने वाले दृश्य और उनके प्रतीकात्मक अर्थ कुन्तल के अन्तश्चेतन की गुत्थी को सुलझाते हैं । नाटककार द्वारा प्रयुक्त प्रतीक शब्द यथार्थ की पहिचान या अभिज्ञानार्थ अचेतन के घटक (Unconscious aspects of our perception of reality)[१] यहां `सुनसान महल की विशालता` और `सुनहले फटे

१- Man and his symbols - Carl Jung - P.4.

पन्नों के पीछे भागती कुन्तल', 'फूलों की सेज' और 'मायावी की तेज हंसी' जैसे दृश्य बोधक शब्द मन की गुत्थियों को स्पष्ट करने में एक विशाल कैनवास का कार्य करते हैं । इन दृश्य शब्दों द्वारा चिन्तन को एक विस्तृत क्षेत्र मिलता है । वही साधारण स्थिति में कुन्तल को प्रस्तुत कर उसके मानसिक द्वन्द्व को इतना व्यापक अर्थ लेकर नहीं समझा जा सकता । इसका कारण यह है कि चेतनावस्था में 'तर्क' और सम्भाव्य' की सीमाओं को ध्यान रखना आवश्यक होता है जबकि अचेतनावस्था में दृश्यों को मनमाना फैलाव पाने की स्वतंत्रता रहती है । तभी वहां व्याख्या की गुंजायश अधिक रहती है ।

लाल के नाट्य-लेखन में 'रातरानी' काव्यात्मक यथार्थवाद की दिशा में बढ़ने की एक प्रक्रिया है । इब्सन के 'डाल्स हाउस' और चेखव के 'सीगल के समान नाटककार ने यहां मानवतापूर्ण ठोस कथा का आधार तो अवश्य लिया हैकिन्तु काव्यात्मकता को भाषा से उठाकर अभिनय में प्रतिष्ठित करने में वे पूरी तरह सफल नहीं हुए हैं । रातरानी के कुन्ज का नाम-परिणाणन ही काव्यात्मकता का संचार नहीं कर सकता । ऐसे में श्री नेमिचन्द्र जैन का कथन की रातरानी हिन्दी में आधुनिक नाट्य लेखन का द्योतक है- नितान्त गलत तो नहीं किन्तु अतिव्याप्ति दोषान्तर्गत अवश्य आता है । प्रकृति से मनुष्य को जोडने की जो प्रक्रिया है वह नाटक को रोमांटिक बनाती है, आधुनिकता में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती । इसीलिए डा० शुक्ल का यह कथन भी 'काव्यात्मक -यथार्थवाद' के सन्दर्भ में कहा जाने पर भी एक ओर रोमांटिक प्रभाव का प्रतिपादक है और दूसरी ओर उक्त पद 'काव्यात्मक-यथार्थवाद' को रंगमंच के काव्य से न जोड़कर भाषागत काव्य से जोड़ता है-'मनुष्य और प्रकृति के समंजन से नाटक यथार्थ धरातल पर खड़ा होने पर भी काव्यात्मक-बोध प्रदान करता है, फलत: काव्यात्मक यथार्थवाद की प्रतिष्ठा करता है ।'[१]

१- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच -डा० शुक्ल

(७) दर्पन :

लाल के नाटकों में अब तक कन्टेण्ट की दृष्टि से एक सामान्य तथ्य की और विशेष रुझान देखने को मिला है। अन्धा कुआ की सूका, मादा कैक्टस की मीनाक्षी और सुजाता, 'सूखा सरोवर' की राजकुमारी और रातरानी की कुन्तल भारतीय नारी जीवन के बहुमुखी चित्र प्रस्तुत करने वाली पात्राएं हैं जिनमें चारित्र्य की प्रतिष्ठा की गयी है। इन सभी नारी-चरित्रों में एक तथ्य उभरकर सामने आता है कि हमारे यहां नारी जीवन की सम्पूर्ण करुणा को समेट कर चलती है। उस पर सन्नि शारीरिक या मानसिक अत्याचार होते ही रहे हैं। यह हमारी सामाजिक व्यवस्था ही है जिसके कारण पुरुष नारी को अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान कर उसके जीवन का स्वामी बन बैठता है। भगौती, अरविन्द, छोटा राजा व जयदेव ही नारी जीवन की गति के निर्धारक हैं। ऐसे में 'रातरानी' तक लाल का नारी चित्रण पुरुष द्वारा नियंत्रित होने के कारण आत्मोत्सर्ग या आत्म दमन तक ही प्रसार प्राप्त कर सका। नारी स्वतंत्र रूप से स्वयं को न तो परिस्थितियों के अनुसार ढाल सकी और न ही परिस्थिति के प्रति विद्रोह कर सकी। सुजाता में नारी के सम्बंध में स्वतंत्रचेता का जन्म हो सकता था किन्तु डा० लाल ने उसे भी अपने धरातल से ऊंचा उठाकर उसके विरोध को कृत्रिम बना दिया।

अपना मार्ग स्वयंनिर्धारित करने की जो स्थिति है, उसे नारी के चरित्र में प्रतिष्ठित करने की सूझ 'दर्पन' की रचना के समय नाटककार को आयी। 'नाटक तोता-मैना' में मैना का तोता के साथ द्वन्द्व और स्वयं को आत्म-प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न एक शुरूआत अवश्य थी लेकिन वहां तोता-मैना सम्वाद में जातिगत पूर्वाग्रह अधिक था और एक दूसरे पर बलात स्वयं को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न अधिक था। तात्पर्य यह कि अपने जीवन के मार्ग को निर्धारित करने के लिये परिस्थितियों से संघर्ष नहीं था, जीवन के मध्य उतर कर उसमें स्वयं को डुबोकर स्वयं से साक्षात्कार

करने की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया नहीं थी । `दर्पन` में जीवन के मध्य उतर कर साक्षात्कार करने से नारी स्वयं के मार्ग को खोजती है । अत: वहां नारी की नियति के लिये अरविन्द, मणीती, जयदेव जैसा कोई भी पुरुष जिम्मेदार नहीं है । नारी अपने जीवन के सम्बंध में जब निर्णय लेती है, उसके लिये वह स्वयं जिम्मेदार है । `दर्पन` की रचना के साथ डा० लाल नारी सम्बंधी चिन्तन पर स्वयं की मान्यताओं को न थोपकर, उसमें स्वयं के सम्बंध में निर्णय स्वातंत्र्य के अधिकार की एक नवीन परंपरा स्थापित करते हैं ।

आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया का इस नाटक में क्या आधार है, इसके विवेचन के लिये नाटक की भूमिका पर ध्यान देना आवश्यक है-`इस जीवन से, इसके मूल नाटक से साक्षात्कार करने का मतलब है नदी में कूद पडना । खूब थहाना, और भीग भीगकर सरबोर हो जाना । फिर हमें पता चलेगा कि यह वर्तमान क्या है ? इसकी गति किधर है ? क्यों है ?---- नदी का अपार जल हर क्षण आगे बहता रहता है । पर ये कगार पर बैठकर नदी के बारे में नाटक लिखने वाले लोग स्वभावत: सिर्फ इतना ही कह पाते हैं कि नदी इसलिये बह रही है कि मैं अकेला कगार पर बैठा हूं पर यदि उनसे पूछा जाय कि नदी किधर बह रहीहै तो वे यही कहेंगे कि नदी का जल उल्टा बह रहा है । क्योंकि वे कगार पर खडे हैं जहां महज मृत्यु है, अस्थि और पंजर है, जिसे नदी के अपार जल ने किनारे पर फेंक रखा है ।` जीवन से कटे, अस्वाभाविक चरित्रों को नाटक के शिल्प में बांध देनेवाले नाटकों पर यहां कटाक्ष किया गया है । `दर्पन` जीवन जल में उतरकर थाहने और तब आत्म-शोध किये जाने की प्रक्रिया वालानाटक है ।

दर्पन इस नाटक का केन्द्रीय चरित्र है जिसके माध्यम से आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया को आन्तरिक द्वन्द्वात्मकता के द्वारा प्रकट किया गया है । बी० ए०सी० बटेलियन के केप्टन की पुत्री दर्पन जब तीन वर्ष की ही थी तो उसकी जन्मपत्री बनवायी गयी । यह जन्मपत्री दर्पन के भावी जीवन की नियामक बन गयी क्योंकि

मूल नक्षत्र का जन्म, आठवें में मंगल, तीसरे में राहु, चौथे में केतु और सातवें में शनि, सिर पर त्रिशूल लट, दायीं बांह पर चन्द्रमा और कमल का चिन्ह- लड़की घर परिवार में रहने योग्य नहीं थी । फलत: इस नन्हीं अवस्था में ही दर्पन को बौद्ध मठ के हवाले कर दिया गया । शने: शनैं वय और बुद्धि से बढती हुई दर्पन को समाज द्वारा थोपा यह जीवन अनुचित और अपनी आकांक्षाओं के विपरीत प्रतीत हुआ । जीवन की इच्छाओ और उनका भोग विरक्ति जैसे विद्रोह कर बैठा और 'अपने जीवन का स्वामी स्वयं बन' वह इस थोपे गये जीवन से भाग निकली ।रास्ते में संयोग ने चलती रेल में एक बीमारी के दौरान हरिपद्म नामक एक युवक को दर्पन से मिलाया और उसकी सेवा-सुश्रुषा से प्रभावित हो हरिपद्म उसे अपने घर ले आया ।

अब वही दर्पन पूर्वी हो गयी है जो हरिपद्म, भाई सुजान और बहिन ममता के प्रेम से सराबोर हो चुकी है । जीवन के मध्य उसने पाया है कि यह बहुत सुन्दर है । प्रेम और सेवा की यहां उतनी सम्भावनाएं हैं जितनी बौद्ध जीवन में थीं- तब जीवन से पलायन ही क्यों ? फलत: वह इस जीवन में ही जीवन के आनंद को पा लेना चाहती है । 'दर्पन' पर अब उसके पूर्वी रूप का आवरण आ जाता है और उसका अतीत जैसे इस नये जीवन के रूप द्वारा ढंक लिया जाता है ।'दर्पन' अपारदर्शी बन जाना चाहता है ताकि पूर्वी को उसमें अपना अतीत दिखायी न दे ।

नये जीवन में प्राप्त हरिपद्म का प्रेम अन्तत: विवाह सूत्र में बंध जाने को इच्छुक हो उठता है लेकिन हरिपद्म के पिता जी इस सम्बंध के खिलाफ हैं ।एक ऐसी लड़की जिसके नाम और वंश का अता-पता नहीं, उनके घर की बहू कैसे बन सकती है ? लेकिन हरिपद्म के दृढ़ निश्चय के समक्ष उन्हें 'सिर झुकाना पड़ता है । पिता जी का यह निर्णय वास्तव में हरिपद्म की इच्छा का अनुमोदन मात्र करने के लिये है । पूर्वी पिता जी के इस निर्णय पर प्रसन्न अवश्य है किन्तु अपनी वास्तविकता को छिपाने के कारण वह आत्म-भय और विश्वासघात के भय से ग्रस्त हो जाती है । वह अपने अतीत से मन पलायन कर जाती है और मन में छिपी

द्विविधा को सबके समक्ष `दर्पन नामक भिक्षुणी बहिन` का उल्लेख कर बार-बार हल्का करना चाहती है । अन्तर्द्वन्द्व की यह प्रक्रिया लम्बे समय तक चलती है । भाई सुजान जो पूर्वी का आत्मीय है, से भी वह अपने अन्तर्द्वन्द्व का हल प्राप्त करने में असफल रहती है । अन्तत: जब अतीत में समाज द्वारा थोपी जा चुकी जीवन-पद्धति उसे चारों ओर से घेर लेती है तो वह इस निर्णय पर आती है कि-`---इसे मैं नहीं तोड़ सकी । इसे मैं जला भी नहीं सकी । और अब मुझे जाना है।`- वह पुन: भिक्षुणी के दर्पन के रूप में प्रकट होती है और हरिपद्म, पिता जी, सुजान आदि को एक अतार्किक स्थिति में छोड़कर चली जाती है ।

`दर्पन` की कथा का केन्द्र पूर्वी का वह जीवन है जो संसार के मध्य उतरकर निवृत्ति के सापेक्ष प्रवृत्ति मार्ग की समीक्षा करता है और परिणामत: पाता है कि संसार में रहकर भी जीवन के विकास की अपरिमित सम्भावनाएं हैं । इन सम्भावनाओं को पूर्वी जीवन में प्राप्त करना चाहती है लेकिन यहीं समाज द्वारा खींची गयी सीमा-रेखा उसे रोकती है, वह समाज की अन्ध:शक्तियों द्वारा छली जाती है । नाटक के अंतिम अंक में ये ही सामाजिक छलनाएं या वर्जनाएं उसके `जीवन का (बलात) स्वामी` बन जाती हैं । नाटक पूर्वी के द्वारा जिस महत ईहा को लेकर चलता है, वह समाज द्वारा निर्धारित व्यवस्था से टकराकर चूर चूर हो जाती है । ईहा की यह असफलता नाटक में निराशावाद को जन्म देती है और दर्शक यह सोचने को बाध्य हो जाता है कि जीवन के आत्म-साक्षात्कार का तात्पर्य स्वयं की कमजोरी का उघड जाना है । ऐसा साक्षात्कार उसमें आत्म-भय भर देता है और वह इस साक्षात्कार-प्रक्रिया से ही पलायन कर जाता है । नाटक के अन्त में दर्शक में उत्पन्न यह प्रभाव संरचनागत दोष कहा जाय तो अनुपयुक्त नहीं होगा क्योंकि नाटक का आदि और मध्य इतना गतिशील है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जिस भव्य ईहा को लेकर पूर्वी चल रही है, उसका पूर्ण होना ही नाटक और उसमें निहित उद्देश्य की सार्थकता है । विशेषकर नाटक का उद्घाटन ही हरिपद्म और पूर्वी के जिन उद्गारों से होता है, वे नाटक की ईहा को विश्वास पूर्वक जीतने का एक मोर्चा तैयार करते हैं :-

हरिपद्म- पिता जी, मैं इस तरह नहीं सोचता । जीवन मेरे लिये एक आस्था है, वह हर क्षण मुझे कृतज्ञ करता है ।[१]

\+ + +

दूसरी ओर , इस जीवन को जीने की इच्छा पूर्वी के लिये 'नीले आकाश में चल रही सितारों की नाव' के समान रूमानी है जिसे वह प्राप्त करना चाहती है, चाहे उस 'नाव' को 'क्षितिज की आंधी' का ही सामना क्यों न करना पड़े ? नाटक का द्वन्द्वात्मक विकास, नये जीवन की अनुकूल परिस्थितियों का पूर्वी के अतीत जीवन के साथ संघर्ष और बार-बार पूर्वी का वर्तमान को प्राप्त करने की इच्छा शक्ति इतनी प्रबल होकर सामने आती है कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अन्ततः वह पूरी होगी। लेकिन नाटक के निरन्तर चढ़ते कार्य-व्यापार की जब अचानक अगति होती है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक के प्रारंभ और विकास की तुलना में अन्त सर्वथा अप्रतिहत करने वाला है । समग्रतः नाटक की संरचना में संकल्प, संकल्प और विकल्प के मध्य द्वन्द्व एवं अन्ततः आत्म-समर्पण- यही प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है ।

नाटक का कार्य व्यापार पूर्वी और दर्पन- दूसरे शब्दों में, व्यक्ति और समाज, अन्य शब्दों में, व्यक्तिगत इच्छा औरसामाजिक बन्धनों में बन्धने की बाध्य जीवन-प्रक्रिया के मध्य द्वन्द्व के मध्य होकर गुजरता है । यह द्वन्द्व मूलतः 'जीवन का स्वामी' कौन - इस प्रश्न का समाधान चाहता है । द्वन्द्व के द्वारा प्रसरित कार्य-व्यापार को निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा व्यक्त कर यह निर्णय किया जा सकता है कि वस्तुतः जीवन का स्वामी कौन है? निर्णय जो भी हो, उसके लिये नाटक कार उत्तरदायी नहीं रहता क्योंकि यह तो स्वयं चरित्र द्वारा 'नदी में कूद पड़ने और भीगकर , सराबोर होकर नदी की गति को पहिचानने का परिणाम है'। नाटककार ने चरित्र को केवल प्रस्तुत किया है, शेष कार्य स्वयं चरित्र द्वारा सम्पन्न हुआ है ।

१- दर्पन- पृ० ७

स- १- दुल्हन बनी पूर्वी का दर्पन देखना और हाथ से छूटकर गिरना ।
२- जड़ आइना और मैं - पूर्वी का अन्त द्वन्द्व ।
३- दण्डी का पूर्वी से मिलन और पूर्वी का समय पीछे हटना ।
४- मठ से आये व्यक्ति का पूर्वी से साक्षात्कार और पूर्वी का चीख पड़ना।
५- पीले वस्त्रों में पूर्वी का प्रवेश व भिक्षुणी रूप में हरिपद्म से भिक्षा मांगना ।

उपर्युक्त रेखा चित्र में प्रथम अंक का प्रथम दृश्य आदि से अन्त तक सामान्य और चरम धरातल पर गिरता-उठता चलता है । इसका कारण पूर्वी-हरिपद्म व उपमा-सुजान के सम्बंधों के मध्य पिता जी का हस्तक्षेप है । सुजान के सम्बंध में पिता जी विजयी होते हुए भी जैसे अपने पुत्र सुजान को खो बैठते हैं । यही दंश है ; जो बार बार उनके परम्परावादी विचारों से टकराता है और संपूर्ण अंक इसी संघर्ष के ताने-बाने से गुंथा हुआ है । नाटक की यही मूल समस्या ह भी है कि जीवन का स्वामी कौन है और पिता जी बार-बार दूसरों के जीवन के मार्ग को बाधित करने का जो अहंग्रस्त कार्य करते हैं, उसी से Generation-gape वाला द्वन्द्व उभरता है । दूसरे दृश्य में पिता जी की स्वीकृति प्राप्त होने पर भी पूर्वी अनिर्णय की ~~स्थिति~~-स्थिति में स्वयं को पाती है और अब पिता जी के स्थान पर उसी का अतीत उससे टकराता है और यह टकराहट कभी-कभी तो उन्माद की अवस्था में पहुंचकर भीषण रूप धारण कर लेती है । दृश्य का आरम्भ दण्डी के प्रवेश से है और अन्त सुजान को पूर्वी द्वारा कही कहानी से है जो निश्चय ही पूर्वी के पूर्व जीवन के अब तक उस पर हावी होने का परिणाम है । जीवन में प्रवेश करने का पूर्वी का निर्णय स्वविवेक पर आधारित है किन्तु उसे वर्जनाएं किस प्रकार घेर लेती हैं यह उक्त द्वन्द्व से प्रकट होता है । द्वितीय अंक का कार्य-व्यापार ही वस्तुत: आत्म साक्षात्कार से गुजरने की प्रक्रिया है क्योंकि दण्डी के रूप में सामाजिक-व्यवस्था और आइने के रूप में पूर्वी का अतीत- दोनों मिलकर उसे आत्म समर्पण की स्थिति में ला खडा करते हैं । गेरुआ वस्त्रों में पूर्वी का प्रवेश मनुष्य जीवन की यथार्थ किन्तु दु:खद स्थिति से

साक्षात्कार प्रस्तुत करता है । नाटक का अन्त न तो आदर्श की स्थापना है न ही वह सुखान्त है । जीवन संघर्ष में टकराकर चूर चूर हो जाने की कठोर नियति इस नाटक में देखने को मिलती है जो समकालीन और परवर्ती नाटकों में भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य के साथ देखने को मिलती है- अश्क का `कैद और उड़ान` सामाजिक व्यवस्था की कैद में उडने को छटपटाते अन्ततः मनुष्य की हार का चित्रण है । `कैद` की अप्पी, दीलिप, वाणी आदि सामाजिक वर्जनाओं से घिरे होने के कारण एक संघर्ष में फंसे अवश्य हैं किन्तु अन्त में उन्हें असफलता ही प्राप्त होती है । डा० धर्मवीर भारती ने इन सभी को `सामाजिक व्यवस्था के चक्र में उलझे हुए मानव के अन्तर्मन में बसने वाली पीड़ा, घायल संस्कार और प्यासी खूंखार प्रवृत्तियों ` के रूप में देखा है । `दर्पन` की पूर्वी की व्यथा से ये इसी रूप में जुड़े हैं । भारती जी के `अन्धा युग` में `प्रभु` कृष्ण (व्यवस्था और दायित्व का प्रतीक) जब संजय, युयुत्सु और अश्वत्थामा के दिशा बोध और `जीवन के स्वामी` बन जाते हैं तो वे अपना अर्थ और अस्तित्व ही खो बैठते हैं । `दर्पन` में पूर्वी के जीवन को अपनी इच्छानुसार अर्थ देने वाला वह समाज है, वह सद्धर्म है जो अन्ततः पूर्वी को कठपुतली बनाकर छोड़ देता है । थोपी गयी व्यवस्था द्वारा अभिशप्त मनुष्य का हारा हुआ-सा युद्ध डा० लाल के परवर्ती नाटक `मिस्टर अभिमन्यु` और डा० शंकर शेष के ` एक और द्रोणाचार्य` में भी लड़ा गया है, यद्यपि वहां प्रसंग समाज के साथ-साथ राजनीति भी है ।

नाटक का कार्य व्यापार जिन अनेक चरित्रों द्वारा गति पाता है, उनमें प्रमुख है- पूर्वी (दर्पन) पूर्वी लाल के नाटकों की उन नारियों की परम्परा में एक कड़ी है जो किसी न किसी सामाजिक दंश से पीडित है । सूका पर होने वाला अत्याचार नारी-समाज की करुणा को प्रकट करने वाला है किन्तु अत्याचार के कारण छटपटाहट होने पर भी वह भारतीय नारी के गौरव की गठरी सिर पर लादे हुए है । ऐसा करने के लिये वह सामाजिक दृष्टि से बाध्य है । इसके लिये

उसका ग्रामीण और अनपढ़ समाज से सम्बद्ध होना भी एक कारण है । लेकिन वही नारी मीनाक्षी और सुजाता के रूप में समाज द्वारा थोपे गये स्त्रीत्व की झूठी मर्यादा को तोड़ देती है । मीनाक्षी सुजाता के जीवनकी परिणति बन सकती थी- इससे बचने के लिये ही पुरुष समाज के प्रति सुजाता का विद्रोह उठ खड़ा होता है और वह अरविन्द को चुनौती देने के लिये अपने जीवन का मार्ग स्वयं बनाती है। लेकिन अरविन्द के स्तर पर उठकर, उसके समान कला-मर्मज्ञ बनकर । यहां परोक्षत: जीवन का स्वामी वही अरविन्द है जो उसके मन-मानस पर हावी है । ऐसे में सुजाता भी परम्पराओं को तोडकर अपने मार्ग का निर्धारण स्वयं नहीं कर पाती । पूर्वी तक आकर जीवन के मार्ग को बिना सामाजिक भय और पूर्वाग्रह के निर्धारित करने की दिशा में संघर्ष पूर्ण व निर्णय-अनिर्णय के मध्य पड़े नारी मन को प्रस्तुत किया गया है । संघर्ष का क्षेत्र भी यहां एक पुरुष या एक विशेष अहंत्व के विरुद्ध न होकर एक संपूर्ण जीवन-पद्धति (जो निवृत्तिमार्गी है) के विरुद्ध है । पूर्वी इसी जीवन के साथ संघर्ष करती है । निश्चय ही, वह संघर्ष में असफल रहती है किन्तु पूर्वी का यह कदम सूका, मीनाक्षी और सुजाता की तुलना में कहीं प्रगतिशील है । नारी जीवन के प्रति डा० लाल की यह दृष्टि क्रमश: संक्रमित होते जीवन मूल्यों की द्योतक है- ऐसे मूल्य जो 'करफ्यू' तक पहुंचकर मनीषा के चरित्रांकन द्वारा टूटने ही वाले हैं । यहां यह ध्यातव्य है कि पूर्वी में संघर्ष बड़ा ही उत्तेजनात्मक है, उसमें उन्माद सार्थक है- केवल अन्तर्विरोध का चित्रण नहीं, उससे कूटने का हर सम्भव प्रयत्न है ।डा० दयाशंकर शुक्ल ने 'दर्पन' की आधारभूमि अन्तर्विरोध[१] मात्र स्वीकार किया है जो विस्तार की अपेक्षा करता है ।

पूर्वी और दर्पन नाटक के दो नाम धारी किन्तु एक ही चरित्र हैं । वस्तुत: दर्पन पूर्वी का वह अतीत है जो उसके वर्तमान पर हावी होना चाहता है। तीन वर्ष की दर्पन को तब जब उसके बुरे ग्रहों के कारण बौद्ध मठ में बलात दे दिया

१- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच- डा० शुक्ल ।

गया तो जैसे बालिका के मानसिक जगत में इस विचार ने दृढ़ रूप ले लिया कि उसे जबर्दस्ती यह जीवन जीने को बाध्य किया गया है । निश्चय ही बौद्ध-धर्म ने उसमें सेवा, प्रेम और विश्व-मानवता के भाव भरे लेकिन निवृत्ति मार्गी होकर ही वह इन धर्मों की पालना करे । यह उसे समझ में नहीं आया । बौद्ध-मठ का यह निवृत्ति मार्ग उसकी तर्क-बुद्धि में नहीं समाता था । धार्मिक रूढ़ियों से जब दर्पन का तर्क टकराने लगा तो उसका मन विद्रोही हो उठा । फलत: हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ, रामेश्वरम, वृन्दावन, कलकत्ता, बम्बई और काशी होकर अन्तत: वह आज पूर्वी के रूप में हरिपद्म को अर्द्धांगिनी बनने के स्वप्न देख रही है । उसका विश्वास है कि हरिपद्म से विवाह कर वह अपने जीवन को सेवा और प्रेम के लिये अर्पित कर पायेगी ।

पूर्वी का जीवन में रहकर मानवता की सेवा करने की इच्छा ही वह बिन्दु है जहां से इस नाट्य-चरित्र का द्वन्द्व प्रारम्भ होता है । यही वह बिन्दु है जहां से आज व्यवस्था द्वारा नियमन के किये गये जीवन जीने को अभिशप्त मनुष्य की नियति का लेखा-जोखा प्रारम्भ होता है । पूर्वी का जीवन ऐसी ही 'व्यवस्था की सूली पर लटके ईसा' के समान समझ आता है ।

पूर्वी के चरित्रांकन में नाटककार की परम्परा गत नाट्य-चरित्रों के प्रति एक प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है । नाट्य-चरित्रों के आकलन की इस ऐतिहासिक या पारम्परिक शैली को उन्होंने इस प्रकार देखा है ।-

१- संस्कृत और ग्रीक नाट्यकारों की शैली जिसके अनुसार 'जीवन और जीवन से उठकर लिखना, किसी जीवनेतर उद्देश्य से रचना करना' ही नाटकों की परम्परा थी । इसके लिये समान सांचों में ढले पूर्व नियोजित पात्रों की सृष्टि की जाती थी ।

२- परम्परा के दूसरे चरण में शेक्सपियर के उन नाटकों को देखा जा सकता है जिनमें पात्र 'जीवन और जीवनेतर ~~में-शेक्सपियर-के~~ शक्तियों से टकराते थे ।

यहां पात्र मानवीय वृत्तियों द्वारा अति रंजना पूर्ण रूप से प्रभावित थे- निर्बलता, कठोरता, प्रतिशोध, महत्वाकांक्षा आदि जिन्हें 'फेटल-फ्लॉ' कहा गया है, से ही नियंत्रित थे ।

३- नाटककारों द्वारा जीवन से उठाकर स्वाभाविक पात्रों को प्रस्तुत करने वाला वह चरण जो २० वीं शताब्दी के योरोपीय और भारतीय नाटक-कारों का है, नाट्य-चरित्रों के कार्य का है । पूर्वी ऐसा ही एक चरित्र है । पूर्वी के आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरने के तथ्य को डा० लाल ने स्वीकार किया है । प्रश्न यह है कि ऐसा आत्म-साक्षात्कार क्या जीवन में निराशावादी दृष्टि का कारण नहीं बनता ? पूर्वी का प्रवृत्तिमार्गी जीवन-जल में अवगाहन कर 'जीवन के स्वामी किसी और के होने की नियति' को प्राप्त करना और फिर समाज द्वारा थोपी गयी व्यवस्था के समक्ष समर्पण कर देना क्या आज के भ्रान्त दर्शक व पाठक को अचेत दिशा निर्देश देने में सफलता प्राप्त करता है? नाटक के अन्त से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि आज का मनुष्य का थोपी गयी व्यवस्था या जीवन पद्धति से युद्ध केवल नपुंसक विद्रोह बनकर रह जाता है, वह एक ऐसा युद्ध लड़ता है जिसमें अन्ततः उसकी हार होती है । आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरने वाला प्रस्तुत चरित्र यह तो प्रकट करता है कि जीवन कैसा है लेकिन यह नहीं बताता कि जीवन कैसा होना चाहिये ? वह यथास्थितिवाद को जीना तो नहीं चाहता किन्तु सामाजिक अन्ध-शक्तियों के समक्ष असमर्थ बन यथास्थिति जीने को अभि-शप्त रहता है ।

पूर्वी का अन्त उक्त यथास्थितिवाद को ही स्थापित करने वाला है । दूसरे शब्दों में, समाज के दर्पण में मनुष्य की स्वयं को स्वतंत्रचेता और अपने जीवन का निर्धारक स्वयं समझने की हास्यास्पद मुद्रा दिखाने का प्रयत्न किया गया है, मनुष्य की अस्मिता व अस्तित्व-धारणा कितनी बौनी है,- इसे पूर्वी के चरित्र द्वारा प्रकट किया गया है -

पूर्वी का द्वन्द्व अनेक कोणों द्वारा लक्ष्यकिया जा सकता है -

(१) जीवन का स्वामी स्वयं बनने के लिये अपने अतीत(बौद्ध के जीवन से जो उसके माता-पिता द्वारा उस पर थोप दिया गया था) से उसका द्वन्द्व ।

(२) समाज के साथ व्यक्ति के द्वन्द्व के रूप में (वस्तुत: यह द्वन्द्व व्यक्ति के उस अहं को चूर चूर करने के लिये है जिसे व्यक्ति समाज की तुलना में स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये उपयोग में लाता है ।)

(३) नियति द्वारा निर्धारित उन अन्ध शक्तियों के साथ जिनके द्वारा अन्तत: वह छली जाती है ।

(४) पूर्वी के अन्तर में हरिपद्म के प्रति एक साथ प्रेम और कपट किये जाने की द्वन्द्वपूर्ण अनुभूति । हरिपद्म के प्रति उसका प्रेम उस काल्पनिक बिम्ब द्वारा प्रकट होता है जिसमें वह `पंख फैलाती सितारों की नाव` को देखती है । लेकिन उसके व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष दर्पन उस `नाव` को बार-बार ध्वस्त करता प्रतीत होता है । दर्पन की स्मृति उसे बौद्ध मठ के जीवन का स्मरण दिलाती है । तब उसे प्रतीत होता है जैसे वह हरिपद्म के साथ कपट करती रही है ।

यही द्वन्द्व एक अन्य दृष्टि से बोध और अस्वीकार का द्वन्द्व बन जाता है । पुराना जीवन उस पर हावी होने लगता है- मानसिक स्तर पर भी और बाह्य-परिस्थितियों के तदनुरूप होने पर भी- लेकिन पूर्वी उसे अस्वीकार करती रहती है। ऐसे में निस्संदेह वह हरिपद्म, पिता जी, सुजान, ममता आदि को अन्धकार में रखती है । किन्तु इसे इन सभी के प्रति कपट कहना समीचीन नहीं होगा । नाटककार का अभीष्ट यहां केवल यह दर्शाना है कि पूर्वी का इस जीवन में लौट आने का इतना अधिक आग्रह है कि इस हेतु वह हर कीमत चुकाने को तैयार है ।

पूर्वी के इस जीवन के साथ पूर्व जीवन के गतिरोध से ऐसा पूर्वाभास होता है

कि अन्ततः पूर्वी का इसी जीवन में रहने का आग्रह सफल नहीं हो पायेगा । एक भव्य ईहा सामाजिक बद्धमूल नियमों से टकराकर चूर्ण चूर हो जायेगी । उपमा व सुजान के प्रेम प्रसंग में सुजान द्वारा अपने जीवन का स्वामी स्वयं बनने की आकांक्षा का पिता जी द्वारा चूर चूर किया जाना ऐसा ही एक पूर्वाभास है जो पूर्वी के प्रयत्न को सन्दिग्ध बना देता है । पूर्वी द्वारा सुजान को एक चिड़िया की कहानी का सुनाया जाना तो उसके चरित्र की नाटकीय-विडम्बना(Dramatic-irony) बन जाता है । इस कहानी द्वारा पूर्वी जीवन की विसंगतियों का पूर्वाभास करा देती है । चिड़िया (पूर्वी), बिल्ली(दर्पन), राजकुमारी(हरिपद्म) चिड़िया द्वारा राजकुमार को अपने साथ खेलने का आह्वान करना(हरिपद्म के साथ दाम्पत्य सम्बंधों में बंटने की पूर्वी की हार्दिक इच्छा), बिल्ली का रोना(दर्पन वाले व्यक्तित्व द्वारा वर्तमान जीवन के मोहपूर्ण जीवन के समक्ष उपेक्षा), जंगल की हंसी(अपनी विडम्बना पर हंसना), जंगल की आग(अपने पुराने जीवन को स्वयं विनष्ट करना) उसी के जीवन की स्लीगरी है ।

पूर्वी के वास्तविक जीवन का रहस्योद्घाटन नाटक का बड़ा ही टिपिकल बिन्दु है । इसकी विभिन्न चरित्रों पर हुई प्रतिक्रिया और उससे पूर्वी के जीवन के प्रति विश्वास का खण्ड-खण्ड हो जाना नाटक के `मूड` को निराशावादी बना देते हैं । पूर्वी की जीवन के प्रति मोह वाली सितारों के की नाव के टूट जाने पर जो असंख्य यज्ञ शिशु हाहाकार मचाते हैं वह उसी के अन्तरतम का हाहाकार है । वह तो परिस्थिति द्वारा प्रसूत एक शिशुवत प्रेमी है जो पूर्वी के अतीत के साथ युद्ध करता है किन्तु अन्त में बुरी तरह हार जाता है । फिर भी वह पूर्वी द्वारा किये छल को स्वीकार नहीं करता । उसी ने वास्तव में पूर्वी के संघर्षपूर्ण जीवन की गहराई को समझा है । हरिपद्म से सर्वथा विपरीत पिता जी की प्रतिक्रिया है । पिता जी उस सामाजिक यथास्थितिवाद एवं नियामकता के प्रतीक हैं जो दर्पन को पूर्वी नहीं बनने देना चाहता । पिता जी ही नहीं, गेरुआवस्त्रधारी सन्यासी और मठ से

आया आदमी- ये सभी पूर्वी की असफलता और रहस्योद्घाटन द्वारा अपने-अपने सामाजिक अहं की तुष्टि करते हैं, विजयानुभूति करते हैं । ये ही क्षितिज की वह आंधी हैं जिनमें 'सितारों की नाव' टूट फूट जाती है । सुजान पर इस घटना की प्रतिक्रिया एक भिन्न रूप में होती है । वह अपने जीवन का स्वामी स्वयं बनने का प्रयत्न कर हार चुका है । इसीलिये उसे पूर्वी की नियति देखकर विशेष आश्चर्य नहीं होता । उसका जीवन उस नीले आकाश के समान था जिसमें कभी सितारों की नाव चली थी किन्तु क्षितिज की आंधियों ने उसे अन्ततः नष्ट कर दिया था । पूर्वी की वही नियति उसे समदुःखीभोगी होने का बोध तो देती है किन्तु आश्चर्य नहीं ।

पूर्वी की नियति- स्वयं को दर्पण में झांककर अपने आपसे साक्षात्कार करने की उसकी स्थिति आज हर उस व्यक्ति की है जो समाज द्वारा प्रतिबद्ध है । आरोपित जीवन जीने का ऐसा ही अभिशाप 'लहरों के राजहंस' में नन्द भगवान बुद्ध द्वारा प्राप्त करता है । पूर्वी के समान नन्द भी बौद्ध-धर्म में बलात दीक्षित किया जाता है । जैसे नन्द और सुन्दरी राजहंसों की तरह परिस्थितियों की लहरों पर तैरते हैं वैसे ही पूर्वी व हरिपद्म भी परिस्थितियों के नीलाकाश में सितारों की नाव खेना चाहते हैं । लेकिन ये ही परिस्थितियां प्रवृत्तिमार्गी होने की इच्छा करने वाले नन्द को सुन्दरी से दूर कर उसे सन्यासी बना देती हैं । पूर्वी भी बलात् इसी प्रकार भिक्षुणी बनायी जा चुकी है । पूर्वी और नन्द का द्वन्द्व एक सीमा तक समान है किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, पूर्वी ने भोग या प्रवृत्ति को पहिचाना ही नहीं है जबकि नन्द उसे भरपूर भोग चुका है । ऐसे में नन्द में भोग के जीवन के प्रति आसक्ति हो सकती है किन्तु पूर्वी में आसक्ति के स्थान पर जिज्ञासा ही है । वैसे समाज द्वारा दोनों को 'लील लिया गया है और उनकी दिशाएं छिन्न-भ-- छिन चुकी हैं ।

अन्ततः दर्पन के सम्बंध में एक प्रश्न- बौद्ध मठ की मान्यताओं को दर्पन

स्वीकार नहीं कर पायी थी । इसके मूल में क्या कारण था- क्या उसकी बौद्ध-धर्म के प्रति अनास्था थी अथवा उस बलात थोपे जाने के कारण उसके प्रति पूर्वाग्रह था ? वास्तव में बौद्ध मठ की मान्यताओं से दर्पन का मतभेद इस कारण से था क्योंकि वह सत्य की सतत परिवर्तनशीलता के सन्दर्भ में दर्पन के जीवन के प्रतिमानों को स्थायित्व नहीं दे पाया था । साथ ही उसके पास भिक्षुणी दर्पन के मानसिक, तनाव को रोकने केलिये निषेध के सिवाय अन्य कोई मार्ग भी नहीं थाजो दर्पन के मानस के विरोध को उपयुक्त निदान प्रदान कर सके । इन्हीं कारणों से दर्पन का इस मठ की परंपराओं से समायोजन नहीं हो पाया । फलत: वह पूर्वी का जीवन जीने को लालायित बनी रही । अन्तत: उसे पूर्वी का जीवन भी शान्ति नहीं दे पाता और वह `इस जीवन-जल में खूब थहाकर भिगोने के बाद` फिर अपने पूर्व जीवन में लौट आती है । दर्पन का विद्रोह नारी के विद्रोह का प्रतीक बनकर `मादा कैक्टस` की सुजाता की परम्परा को आगे बढाने में एक नया युग का सूत्रपात अवश्य है किन्तु वह एक `असफल क्रान्ति` बनकर रह गया है ।

पूर्वी द्वारा प्रेम-पाश में बांध लिया गया हरिपद्म का स्वतंत्र स्थान नाटक में नहीं है । एक बीमारी के दौरान उसे पूर्वी का प्रेम और सेवा प्राप्त हुई है जिसे वह पूर्वी को अपने साथ बांधकर अक्षुण्ण बनाना चाहता है । इसके लिये वह पिता जी की इच्छाओं का विरोध करता है और अन्तत: उन्हें अपने अनुसार सोचने को बाध्य भी कर देता है । यही हरिपद्म जो केवल पूर्वी को चाहता है, अन्तत: पूर्वी के जीवन की वास्तविकता मालूम होने पर -`तुम कुछ भी हो,-----तुम्हारा कुछ भी नाम हो---यह सब मेरे लिये कुछ महत्व नहीं रखता ।`- कहकर सत्य को भी झुठला देना चाहता है । उसे पूर्वी के अतिरिक्त और किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। हरिपद्म परिस्थितियों द्वारा प्रताडित यक्ष शिशु है जिसका विश्वास टूट अवश्य गया है लेकिन जो यथार्थ की कठोरता का सामना करने में स्वयं को असमर्थ पाता है ।

पिता जी इस नाटक का अन्य महत्वपूर्ण चरित्र हैंजिनके सिद्धान्त और आस्थाएं उनकी अपनी हैं । पूर्वी को वे अपना विश्वास नहीं दे सकते क्योंकि उनके

अनुसार पूर्वी एक अनजान लड़की है । जिसके न कुलशील का पता है और न खानदान का ही । लेकिन हरिपद्म का दृढ़-संकल्प देख उनका पितृ हृदय भी बाध्य हो जाता है और वे हरिपद्म को अपना मार्ग स्वयं चुनने का अधिकार दे देते हैं । इसका कारण यह भी है कि सुजान के जीवन को मिटाने के पीछे अपनी हठधर्मिता को वे मन ही मन आत्म-स्वीकृति दे चुके हैं । इसीलिये वे हरिपद्म के सम्बंध में किसी प्रकार की रिस्क लेना नहीं चाहते । लेकिन उनमें समाया पूर्वी के सम्बंध में सन्देह फिर भी समाप्त नहीं होता और अन्ततः पूर्वी के रहस्योद्घाटन के साथ उनका पुत्र के समक्ष समर्पित अहं फिर जाग जाता है । उन्हें अपना विश्वास लौट गया प्रतीत होता है और जैसे हरिपद्म के विश्वास पर चोट करते हुए वे कह उठते हैं-`अब पहिचान लो अपनी पूर्वी को ।---हां । पिता जी इस पहिचान में बाधक नहीं होंगे ।` वस्तुतः पिता जी उस परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपने महत्व को किसी भी तरह तोडने देना नहीं चाहती । नाटक के अन्त में पिता जी के अहं की तुष्टि एक प्रकार से पारम्परिक समाज की मान्यताओं की तुष्टि है ।

सुजान हरिपद्म का छोटा भाई है । उसके जीवन का भी एक दुःखद प्रसंग है । पिता जी ने इस प्रेम-प्रसंग की कोमलता की उपेक्षा कर उपमा के घर स्वयं जाकर कह दिया-`यह विवाह कभी नहीं हो सकता ।` उपमा इस आघात को सह नहीं सकी और सुजान को छोड़ चल बसी । तभी से सुजान भी फालिजग्रस्त हो स्थायी रोग से जकड लिया गया । जीवन में प्रेम का अभाव ही उसके रोग का कारण है । समाज की अन्ध शक्तियों द्वारा वह छला गया है, जो जिसका अत्यन्त प्राप्य है, सहज है, नैसर्गिक है जो हमारी रचना-शक्ति की बुनियाद है।- को जीवन से काटने वाली वे ही अन्ध शक्तियां हैं, ऐसी सुजान कीमान्यता है । पूर्वी द्वारा वह जीवन के खोये विश्वास को पाता है । सुजान का जीवन पूर्वी को अपने अन्तर्द्वन्द्व से जूझकर निर्णय लेने की प्रेरणा प्रदान करता है, वह सुजान की विचारधारा अपने निर्णयों की कसौटी मानती है । सम्भवतः इसीलिये `दर्पन` को जलाकर राख कर देने का साक्षीरूप वह सुजान को मानती है और सुजान की `पेन-फ्रेण्ड` युक्ति

की तरह वह मीहरिपद्म की पेन-फ्रेण्ड बन जाना चाहती है । सुजान का सम्पूर्ण जीवन पूर्वी को समदु:खभोगिता प्रदान करता है ।

नाटक के अन्य दो पात्र नौकर मत्ती और ममता उभरकर सामने नहीं आये हैं । दण्डी, सन्यासी और आदमी नाटकीय कार्य को आगे बढाने वाले पात्र हैं । ये पूर्वी के चारों ओर खिंचे दर्पन के बिम्ब को गति देने वाले हैं ।

'दर्पन' तक आकर डा० लाल ने जहां कण्टेण्ट को एक यथार्थवादी मोड़ दिया और आत्म-साक्षात्कार से उत्पन्न निर्ममतापूर्ण परिस्थिति का अंकन किया है वहां फार्म में भी 'मादा-कैक्टस' वाली प्रयोगवादी शिल्प की परम्परा को आगे बढाया है । दूसरे शब्दों में नाटक में दृश्यत्व-बोध उत्पन्न करने के लिये प्रयत्न किये हैं । फार्म का यह संक्रमण यों तो 'रातरानी' में भी काव्यात्मक यथार्थ के रूप में प्रकट हुआ है किन्तु वहां कण्टेण्ट के अन्दर छिपी पारम्परिकता, चरित्रों के आदर्श व यथार्थ के ऋजु टकराव और इस टकराव से उत्पन्न नाटक का आदर्श अन्त- अपने विस्तार से फार्म का अभिनवता को धुंधला देता है । दर्पन में कण्टेण्ट और फार्म दोनों ही प्रयोगशील हैं । कथानक की द्वन्द्वात्मकता नाटक के अयथार्थवादी फार्म से मिलकर दृश्यत्व का प्रभाव छोड़ने में सक्षम होती है ।

नाटक के कार्य-व्यापार से दृश्यत्व-बोध का सीधा सम्बंध है क्योंकि कार्य का उतार-चढाव ही नाटक को मंच पर गति प्रदान करता है । स्वातंत्र्य पूर्व नाटकों में इस गति को उत्पन्न करने के लिये लयात्मक सम्वादों या अतिरंजना करने वाले रंग निर्देशों की सहायता ली जाती थी । प्रथम प्रकार की युक्ति पारसी नाटकों की थी जिसके सम्वादों में लहरे तवील छन्दों का प्रयोग अभिनेता की ऊंची और अस्वाभाविक आवाज व पृष्ठभूमि के पर्दों वाले दृश्य-विधान के साथ मिलकर एक अति नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करते थे । दूसरी तरफ प्रसाद जी के नाटकों (विशेषत: ऐतिहासिक) और फिर उसी की प्रक्रिया (वस्तुत: अनुकरण) में मिश्र, प्रेमी व गोविन्ददास के नाटकों में रंगमंच के क्षेत्र या सीमा को ध्यान न रखते हुए

लम्बे-लम्बे रंग-संकेत एवं दृश्यों का विधान भी पारसी नाटकों की परम्परा को विशेष तोड़ नहीं पाया । स्वतंत्रता के बाद नाटक का मूल तत्व भाषा एवं इसमें प्रयुक्त शब्द स्वीकार करते हुए इसे प्राथमिक महत्व दिया गया । 'शब्द की महत्ता को एक नये सन्दर्भ में प्रकृतवाद की संज्ञा दी जा सकती है । वस्तुत: यहां अन्य किसी दृश्यत्व-बोध के माध्यम(ध्वनि, संगीत, दृश्यों की यथार्थ योजना) की अपेक्षा भाषा द्वारा ही प्रभाव उत्पन्न किये जाने का महत्व होता है । अन्य सभी माध्यम शब्द द्वारा संयोजित होकर आते हैं । नाटक इस कारण अन्य आरोपित माध्यमों से मुक्त होकर स्वाभाविक भी बनता है और अनेक प्रभावों को केवल शब्द माध्यम से व्यक्त करने की अन्तर्हित शर्त के कारण निर्देशक व अभिनेता के लिये चुनौतीपूर्ण भी ।

शब्द का अर्थ यहां नाट्य-सन्दर्भ में प्रयुक्त किये जाने से ही है । ऐसे में शब्दों की प्रयुक्ति स्वतंत्र नहीं प्रत्युत ध्वनि, लय, बलाघात, बिम्ब या प्रतीक-बोध एवं कार्य-दृश्य पर आधारित है । यहीं शब्द का अर्थ दूसरी विधाओं से भिन्न हो जाता है । अधिक स्पष्ट शब्दों में 'नाटकीय-शब्द' कहना यहां अधिक उपयुक्त होगा। 'दर्पन' में नाट्य-शब्द द्वारा प्रभाव कहां तक उत्पन्न हो सका है- यह देखना आवश्यक है अथच नाटक की सफलता की कसौटी है । नाटक की भाषा व उसमें प्रयुक्त शब्दों की योजना ही दृश्यत्व-बोध प्रदान करती है । मोहन राकेश के ये शब्द इसी तथ्य को प्रकट करने वाले हैं - 'दृश्य अपने में रंगमंच का अनिवार्य तत्व होते हुए भी अपने में स्वतंत्र नहीं है । वह एक परिणति है- शब्द की ।[१]

'दर्पन' की भाषा में शब्द गत सम्भावनाओं के लिये पूर्वी के अन्तर्द्वन्द्वमूलक चरित्र ने सहयोग दिया है । अन्तर्द्वन्द्व द्वारा उत्पन्न कार्यमूलकता और उस कार्य का शब्दाश्रित होकर व्यंजित होना नाटक की संरचना पद्धति को दोहरा आयाम प्रदान

१- रंगमंच और शब्द- मोहन राकेश, पृ० ३१

करता है । द्वन्द्व की आन्तरिक अन्विति और उसी का शब्दाश्रित होकर प्राकट्य । इस सन्दर्भ में `दर्पण` के निम्नांकित उद्धरणद्रष्टव्य हैं -

(मत्ती का भीतर प्रस्थान । कुछ ही क्षणों बाद पूर्वी तेजी से अन्दर आ जाती है । भीतर से एक कापी लाती है । दरवाजा बाहर से बन्द कर लेती है ।)

पूर्वी- मेरा पीछा करने वाली । तू नहीं जानती, मैं क्या हूं ? मैं तो सोचती थी तू खत्म हो गयी है, पर तू इस कद्र मेरे पीछे पड़ी हुई है अपराधी,--- निर्मम । (कापी को फाने लगती है) हत्यारी! तुझे अब जिन्दा नहीं रहने दूंगी । तेरे दर्पण का एक एक टुकडा मैं पीसकर रख दूंगी । मैं हूं नियन्ता अपने इस जीवन की । तेरा यह जड़ अस्तित्व मैं अब नहीं रहने दूंगी ।---- जा, अपनी इस चिता की आग में भस्म हो जा । तेरा कोई चिन्ह नहीं । कोई स्मृति नहीं, कोई पहिचान नहीं ।

पूर्वी अपने अतीत से लड़ रही है । उसका वर्तमान अतीत की निर्मम स्मृतियों से छूट जाना चाहता है किन्तु वह छूट नहीं पाती । फलत: वह दर्पण को नष्ट करने के लिये उसकी स्मृति का एक एक अंश मिटा देना चाहती है । `पीछा करनेवाली`, `अपराधी`,`निर्मम`,`हत्यारी`,`दर्पण का एक एक टुकडा पीसकर रख दूंगी`,`जड अस्तित्व`,`कोई चिन्ह नहीं`,`कोई स्मृति नहीं`,`कोई पहिचान नहीं`- शब्द या वाक्यांश पूर्वी के अन्तर्द्वन्द्व को प्रकट करने वाले शब्द हैं । ये शब्द नाटकीय कार्य को चरम पर पहुंचाकर स्थित कर देते हैं । ये ही शब्द जब अन्य:परक बनकर सुजान के समक्ष बोले जाते हैं तो उनकी अर्थवत्ता अधिक बढ़ जाती है -

पूर्वी- सुजान !

सुजान- मामी !' यह क्या है? यह क्या जला रही हैं आप ?

पूर्वी- पुराना कागज !

सुजान- कागज ?

पूर्वी- हां, मैं इसे फाड़कर फेंक भी सकती थी । पर फागुन में हवा तेज बहती बहती है न, फटे हुए ये कागज चारों ओर बिखरने लगते हैं ।

पुराना कागज, फाड़कर फेंकने से फागुन की हवा में चारों ओर उड़ना वस्तुत: पूर्वी के अन्दर का वह कालभय है जो कभी भी उसके अतीत को उघाड़कर नग्न कर सकता है । इसीलिये अपने एक जीवन-खण्ड को पूरी तरह जलाकर राख कर देना चाहती है । वस्तुत: यहां उपर्युक्त शब्दों की परिस्थिति और मनोवेग के साथ सापेक्षता महत्वपूर्ण है । अन्यथा ये ही शब्द पूर्वी की साधारण अवस्था में बोले जाने पर शक्तिहीन सिद्ध हो सकते हैं । पूर्वी के सम्वादों के साथ-साथ चलने वाली क्रियाएं इन शब्दों को मंत्रोच्चार की गरिमा देते हैं और तब लगता है कि पूर्वी की हर क्रिया उसके अन्तर की निश्छलता और एक नया जीवन जीने की शिशुवत इच्छा का ही प्रोजेक्शन है -

पूर्वी- हां, प्रसंग अपने आप बन जायेगा ।---देखो, अब सब जल चुका न ! अब इस राख में पानी डालना चाहिये । नहीं तो राख भी तो उडती है ।रुको--- ----- राख में से आवाज निकलती है । कहावत तुमने सुनी है न- रस्सी जल गयी, ऐंठन न गयी ।---लो अब ऐंठन भी न रहेगी । राख मिट्टी हो गयी । अब इसे मिट्टी में मिला दुंगी ।---मिट्टी पलीद कर दी।-

यहां `मिट्टी पलीद कर दी` में इस चरित्र की विजयानुभूति और उससे उत्पन्न सार्थक नाट्यानुभूति देखी जा सकती है ।

उक्त आत्म-कथनों में अभिनय की एकाधिक भाव-भंगिमाएं एक के बाद लयात्मक संयोजन के साथ व्यक्त हुई हैं जो रंगमंच की काव्यात्मकता का एक अन्यान्य उदाहरण है । यहीं यह कहना भी उचित होगा कि भाषा में शब्दों द्वारा यह नाट्य प्रभाव उन्हीं स्थानों पर सार्थक सिद्ध हुआ है जहां नाटकीय-कार्य-व्यापार या तो चरित्र विशेष के आन्तरिक तनाव या द्वन्द्व से गुजर रहा है अथवा एक सर्वग्राही अवसाद से जहां नाटक का वातावरण चरम कार्य व्यापार के सहसा समाप्त हो जाने पर बीच में ही `टूट गये संगीत के सदृश` झनझनाहट का रूप ले लेता है । यथा:-

पूर्वी- मुझे जाना है-----क्योंकि मैं पूर्वी नहीं हूं ।

हरिपद्म- नहीं, तुम कुछ भी हो ।

पूर्वी- वह पूर्वी थी---- वह केवल पूर्वी का ही अधिकार था, केवल पूर्वी का ---।

हरिपद्म- पूर्वी-----!

पूर्वी- प्यार का आधार छल नहीं हो सकता । और वह छल मैंने किया था---- मैंने---पूर्वी ने नहीं ।

यहां `प्यार का आधार छल नहीं हो सकता और वह छल मैंने किया था`- वाक्य में पूर्वी के हारे और हार के बाद अशक्त बन चुके मनोबल के साथ हरिपद्म के साथ दर्पन के किये गये छल की आत्म-स्वीकृति है जो नाटक के अन्त के अवसाद को गहरा कर देती है । दर्पन द्वारा भिक्षा मांगे जाने पर हरिपद्म का मूक स्थिर हो जाना एक प्रकार से भाषा का कार्य में रिप्लेस हो जाना है । तत्पश्चात एक लम्बी निस्तब्धता के बाद सुजान का यह कथन-`बाहर कितना अन्धकार है` स्वयं में निहित `अन्धकार` शब्द से एक नाट्य बिम्ब का निर्माण करता है । बाहर का अन्धकार जैसे दर्पन के जीवन का अन्धकारही है । लेकिन सुजान के लिये अन्धकार का जो अर्थ है, वह सब हरिपद्म के लिये नहीं है । वह तो इस अन्धकार का अर्थ पा गया है- समाज की अन्ध-व्यवस्थाओं के पीछे मनुष्य की कितनी ही महत्वाकांक्षायें दबी पड़ी हैं- आकांक्षाओं की यह सितारों वाली नाव कभी पंख खैलाती है तो कभी टूट जाती है । यहां शब्दों में प्रच्छन्न नाट्य-बिम्ब सार्थक नाट्य-प्रभाव डालते हैं । नाटक के अन्त प्रसंग- हरिपद्म व पिता जी के सम्वाद, हरिपद्म व पूर्वी सम्वाद, ममता -पूर्वी व सुजान के मध्य सम्वादों में इतनी सार्थक नाट्यानुभूति नहीं मिलती क्योंकि वहां शब्द, कार्य व अर्थ-संकेत का ~~मिल~~ त्रिआयाम संगुम्फित नहीं है । उक्त उदाहरणों में शब्दों ने कथानक की जडता को नष्ट कर उसे गतिशील बनाया है । इस गतिशीलता के निर्माण में एक साथ शब्दों द्वारा चरित्रांकन और घटनाक्रम के मध्य सेतु हुए हैं, प्रयुक्त नाट्य-बिम्ब दृश्यत्व -बोध प्रदान करते हैं और इस प्रकार नाटकीय कौशल के साथ-साथ नाट्य-भाषा को डायनेमिक बनाते हैं । रातरानी में `केसर का फूल,`मेहर पठानी` और `रातरानी का कुंज` जिस प्रकार काव्यात्मक यथार्थवाद की

प्रतिष्ठा करता है वैसे ही यहां बिम्बात्मक व प्रतीकात्मक शब्द काव्यात्मक व नाट्य-गत- दोनों प्रभाव उत्पन्न करते हैं ।

निस्संदेह नाटक में शब्द की प्राथमिकता को स्वीकार किया जाना चाहिए किन्तु यह शब्द स्वयं में रंगमंच की अन्य सम्भावनाओं द्वारा जब तक पोषित नहीं होगा तब तक उसमें रंग-सन्दर्भ पूरी तरह से नहीं म उभर पायेंगे । ये सम्भावनायें मुख्य रूप से दो रूपों में । विशेषकर `दर्पन` से नाटक में जहां यथार्थ से अधिक प्रतीकात्मक फार्मों की अपेक्षा की जाती है) प्रयुक्त होनी चाहियें - ध्वनि और प्रकाश । ये माध्यम चरित्र द्वारा अपनी चेतनावस्था में कहे जाने वाले शब्दों में भी अवचेतन के इच्छित अर्थ के समावेश और दर्शक तक उसे सम्प्रेषित कराने की शक्ति रखते हैं । दूसरे शब्दों में, शब्द को उसके उस अर्थ में स्पष्ट करने मेंइनका योग होता है जिसे चरित्र अनजाने ही अन्तर की प्रेरणा से बोल उठा है । `बाहर कितना अन्धकार है`- यहां `अन्धकार` शब्द का सार्थक अर्थ खोजने में चरित्र के अन्तस् को समझने में प्रकाश व ध्वनि के निर्देशक द्वारा किये गये प्रयोग सार्थक हो सकते हैं । `दर्पन` में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां ऐसे प्रयोग भाषा को अधिक सम्प्रेषणीय और चरित्र विशेष के अवचेतन के रहस्योद्घाटन में सहयोगी हो सकते हैं । रंगमंच पर नाटक में चेतन द्वारा अवचेतन के रहस्यों को खोजने की जो व्यवस्था स्तानिसलवस्की ने बतायी है,[१] ऐसे- उसे ध्वनि व प्रकाश के उचित प्रयोग पात्र व वातावरण की परिस्थितियों को अपनी इस विशेष शक्ति द्वारा सहज ही उभार देते हैं जिसके कारण दर्शक की समग्र चेतना का केन्द्रीकरण मंच पर घट रहे कार्य-व्यापार की ओर हो जाना नितान्त आवश्यक हो जाता है । दर्शकों की ज्ञानेन्द्रियों को सजग बनाने में ध्वनि व प्रकाश के प्रयोग नाटक में अतिरिक्त किन्तु अनिवार्य प्रभाव के बायस बन जाते हैं । दर्शकों पर पड़े इन प्रभावों का ही परिणाम होता है कि नाटक देखने के उपरान्त अन्य दृश्य जो केवल शब्दाश्रित रहे हों की अपेक्षा शब्द व उक्त प्रयोगों से एक प्रकार की Emotional - memory में बांध देते हैं । यहां एक तथ्यध्यान देने योग्य

१- the basic principle of stanislavsky's system being, as stated earlier the sub-conscious through the conscious, it is not surprising that he should include among the elements of psycho-technique one whose main function it is to arouse inspiration.
(The theory of modern stage - edi. by Eric Bentley) - P.252

यह है कि नाटक के वे अंश जहां नाटकीय द्वन्द्व की सम्भावना होती है और कार्य-व्यापार में गतिशीलता होती है, वहां ये प्रयोग अधिक प्रभाव डालते हैं । दर्पन में पूर्वी के उन्माद के क्षणों में, उस उन्माद के कारण उसकी भावाभिव्यक्ति के क्रमिक बदलाव के साथ-साथ यदि क्रमश: द्रुत होते संगीत के साथ सतरंगी प्रकाश को उसी गति के साथ मंच पर प्रयुक्त किया जाय तो वह नाटकीय प्रभाव डालने में सहायक हो सकता है । सिनेमा में अभिनेता व नेत्री विशेष के आवेगों को `क्लोज-अप` जिस खूबी के साथ व्यक्त ~~करसक-है~~ सकता है, नाटक में ध्वनि और प्रकाश के प्रयोग उस अभाव को पूरा कर सकते हैं । एक प्रकार से ध्वनि व प्रकाश के प्रयोग नाटक के चरित्र व उसकी आन्तरिक स्थिति को इण्टरप्रेट करने का कार्य करते हैं और नाटक की आत्मा के साथ एक प्रकार का हार्मोनियस-रिलेक्शन बनाकर दर्शक को भी उस सम्बंध का भागीदार बनने को आमंत्रित करते हैं । नाटक के शब्द, उन्हें उच्चरित करने वाला अभिनेता और उसके द्वारा नाटककार के अभीष्ट अर्थ को दर्शक तक पहुंचाने का जो क्रिया है वही नाटक को एक लय में बांधती है । शब्देतर नाट्य प्रयोग इस लय को अधिक गहराई प्रदान करने वाले आयाम है-`दर्पन` के उपर्युक्त --- उल्लेख्य प्रसंग ऐसी ही रंग-सम्भावना को लेकर प्रकट हुए हैं ।

`दर्पन` की रंगमंचीय सम्भावनाओं पर उक्त दृष्टि डालने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि लाल अपने नाटकों में रंग निर्देशों को यथा सम्भव कम करने जा रहे हैं और इस प्रकार वे नाटक में `शब्द` की महत्ता प्रतिपादित करने के प्रयास में हैं । इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वे निर्देशक को Stage-Craft करने में नितान्त अकेला छोडते जा रहे हैं और उसके साथ असहयोग कर रहे हैं । वस्तुत: वे अपने नाटकों में कार्यत्व की अधिकाधिक सृष्टि कर नाटक के मंचन की सम्भावनाओं को सार्थक नाट्य शब्दों के प्रयोग द्वारा मुखर कर रहे हैं । वे निर्देशक पर अपने निर्देशों को थोपना नहीं चाहते प्रत्युत उसकी कल्पनाशीलता को एक विस्तृत क्षेत्र देने का कार्य कर रहे हैं ।

संघर्ष

(इ) सन् १९६६ से १९७० तक के नाटक

संघर्षकालीन परिस्थितियां और रचनात्मक धरातल पर प्रभाव :

सन् १९४७ में प्राप्त स्वतंत्रता का भोग शताब्दी के छठे दशक तक आते-आते 'मूल्यों' की नींव को भी डगमगाने लगा था। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में एक प्रकार के मूल्यगत शून्य के कारण ध्वंसकारी प्रवृत्तियां जन्म ले रही थीं। ऐसे में किसी भी क्षेत्र में मूल्यों का अवमूल्यन सघन से सघनतर होता जा रहा था। देश में एक व्यक्ति और एक दलीय शासन ने ऐसा प्रभाव जमाया कि उसके विकल्प की बात सोचते ही चारों ओर शून्य दिखायी देता था। सन् १९६४ में पं० नेहरू के निधन से राष्ट्र स्वयं को अनाथ समझने लगा क्योंकि नेहरू के रूप में उसने एक ऐसा व्यक्ति खो दिया था जो न केवल राष्ट्रीय अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र को प्रतिष्ठापूर्ण स्थान दिलाने में प्रयत्नशील था। इस राष्ट्र नायक का विकल्प खोजने में असफल राष्ट्र मानस राजनीतिक मंच पर भी इस रोमांटिक प्रवृत्ति का शिकार हो गया कि कोई न कोई उसका उद्धार करने के लिये स्वत: ही उसके मध्य से ही उठेगा। राजनेताओं ने जन-मानस की इस स्थिति का लाभ उठाते हुए मानसिक दृष्टि से जनता को यह सोचने के लिये बाध्य करना प्रारंभ किया कि केवल एक कांग्रेस दल ही ऐसा है जो जनता को एक विश्वसनीय और ठोस शासन दे सकता है, अन्य कोई भी समान्तर विकल्प देश में स्थैर्य ला ही नहीं सकता। इस भ्रामक चिन्तन में ग्रस्त होकर जनता ने स्वयं को शासन के भरोसे छोड़ दिया। फलत: जनता की शक्ति, चिन्तन और सामर्थ्य-सभी शासन द्वारा नियंत्रित होने लगीं।

राजनीति समाज और व्यक्ति मानस में अवमूल्यन की उक्त स्थिति से उत्पन्न वैषम्य को दूर करने के लिये रचनाकार ने व्यक्ति के मानस में प्रच्छन्न संस्कारों को स्पर्श करने और उसके द्वारा उसे चिन्तन के धरातल पर प्रेरित करने

का संकल्प लिया । इसके लिये उसने अतीत की घटनाओं और चरित्रों को आधुनिक सन्दर्भों में प्रकट करने की एक `अभिनव शैली निर्मित की जिसे उसने `मिथक` नाम दिया। यह `मिथक` क्या है और रचनाकार ने इसे किस विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया, इससे समझने हेतु इस शब्द की व्याख्या समीचीन होगी ।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कार्ल गुस्ताफ युंग द्वारा प्रतिपादित सामूहिक अचेतन का सिद्धान्त `मिथक` से सम्बंधित अवधारणाओं का उत्स कहा जा सकता है । यह सामूहिक अचेतन दो स्तरों पर देखा जा सकता है-प्रथम,वैयक्तिक-अचेतन और द्वितीय उसके भी मूल में स्थित प्रजातीय अचेतन (primitive – Unconscious) यह प्रजातीय-अचेतन उन अनेक मूलभूत मानव जीवन के विश्वासों और धारणाओं का भण्डार है जिन्हें युगों से मनुष्य अपने जीवन परिवेश द्वारा प्राप्त करता रहा है और जो संचित थाती के रूप में उसके अचेतन मन में समा गया है । प्रजातीय अचेतन में संचित ये स्मृतियां अनेक प्रकार की हैं- मनुष्य के प्रारंभिक पशु जीवन की के अवशेष अवदोष, पूर्वजों के संस्कार, जाति समूहों के विशिष्ट संस्कार, राष्ट्र, वंश व परिवारों से प्राप्त संस्कार और जीवन मूल्य । तात्पर्य यह कि अपनी आदिम अवस्था से लेकर सामाजिक जीवन तक पहुंचने की जो विकास प्रक्रिया है वही समय-समय पर स्मृतियों के रूप में जो छाप छोड़ गयी-वह इस प्रजातीय अचेतन में संचित हो गयी है । युंग इन्हें आद्य-प्रारूप की संज्ञा देता है। प्रजातीय अचेतन के ये संस्कार ही जब रचना के रूप में प्रकट होते हैं तो उस अभिव्यक्ति को `मिथकीय-अभिव्यक्ति` कहा जाता है । पुराण और इतिहास के रूप में जो सांस्कृतिक विरासत हमें प्राप्त है- में हमारे प्रजातीय संस्कार ही अभिव्यक्त हुए हैं । संस्कारों की यह अभिव्यक्ति किसी पात्र व उसके इर्द-गिर्द बुनी गयी कथा द्वारा हो सकती है या प्रतीकों के प्रयोग द्वारा हो सकती है अथवा उन संस्कारों या प्रवृतियों के सीधे उल्लेख द्वारा हो सकती है जो उस प्रजातीय अचेतन में संचित हैं । समग्र रूप में `मिथक` अनेक पीढ़ियों और युगों से मनुष्य के सामूहिक अचेतन में निहित संस्कारों के रूपायन का नाम है- यह रूपायन चित्रकारों द्वारा चित्र में , मूर्तिकारों द्वारा मूर्ति में और चरित्र व कथा द्वारा वलयित भाषिक अभिव्यक्ति द्वारा होता है । हमारी पौराणिक कथाएं इस भाषिक अभिव्यक्ति का ही एक रूप हैं ।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि क्या इतिहास या हमारा वर्तमान- उसकी घटनाएं या चरित्र `मिथक` बन सकते हैं । वस्तुत: `मिथक` को उसके शाब्दिक अर्थ `पौराणिक` से जोड़कर उसे पौराणिक घटना आदि से ही सम्बद्ध करना` मिथक` की संकीर्ण व्याख्या करना होगा । यदि इतिहास अथवा वर्तमान जीवन में हमें कहीं प्रजातीय संस्कारों व जीवन मूल्यों की स्थिति दृष्टिगोचर हो तो उसकी अभिव्यक्ति भी `मिथकीय अभिव्यक्ति` की सीमा में आयेगी । इसी-लिये गांधी, ईसा अथवा अहिंसा, सत्य, नैतिकता जैसे मूल्य `मिथक` के रूप में अभिव्यक्त हो सकते हैं । मुख्य वस्तु वे संस्कार या प्रतिमान हैं जो एक सुन्दर जीवन का आदर्श बन सकते हैं और जो हमारे संस्कारों में जातिगत प्रदाय के रूप में विद्यमान हैं । इन्हें आधुनिक जीवन में खोजना ही मिथकीय रचना करना है । इस दृष्टि से `मिथक` को इस प्रकार परिभाषा बद्ध किया जा सकता है-`मनुष्य अथवा मनुष्य के पहले उस पार के कुछ ऐसे पहलु जो अन्तरतम में लुके छिपे अवस्थित हैं, उनको अभिव्यक्ति देनेवाली कहानी आदि को. मिथक कहा जा सकता है ।` वर्तमान साहित्य में मिथक की सृष्टि प्राय: पौराणिक सन्दर्भों की योजना द्वारा की जाती है जो अर्थ संकोच का परिणाम है । इतिहास और वर्तमान के जीवन-सन्दर्भों को लेकर भी `मिथक`की सृष्टि उतने ही प्रभावशाली ढंग से की जा सकती है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं में, मिथकीय अभिव्यक्ति` एक शैली के रूप में अभिव्यक्त हुई है । पौराणिक आख्यानों में विशेष रूप से रचनाकार को मानव जीवन के आदिम संस्कारों और जीवन मूल्यों की थाती प्राप्त हुई है जिसे वह आधुनिक मनुष्य और उसके जीवन के लिये उपादेय मानता है। उदाहरण के लिये लाल के नाटक `कल्की` में प्रयुक्त `मिथक` उस आदिम संस्कार संस्कार द्वारा पोषित है जिसके अनुसार मनुष्य हमेशा कष्टों से मुक्ति पाने और शान्तिपूर्वक जीवन जीने को इच्छुक रहता है । कल्की अवतार के पौराणिक आख्यान में मनुष्य के उक्त आदिम संस्कार व मूल्य को व्यक्त किया गया है । `अन्धा युग` में मनुष्य के अन्दर के प्रभु-तत्व की अनिवार्यता की ओर दृष्टि दी गयी है और महाभारतोत्तर काल में क्रमश: समाप्त होते प्रभु तत्व से उत्पन्न अन्ध-पीढ़ी की यातना को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है ।

'मिथक' वास्तव में मनुष्य के अवेतन के संचित संस्कारों को प्रकट करने के उपरान्त व्यक्ति को यह स्वतंत्रता देता है कि वह उसकी नयी परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्याख्या कर सके । मनुष्य के आदिम संस्कार, परिवेश और प्रतिमान आज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में ग्रहण किये जाने पर ही सार्थक हो सकते हैं । सीमित साधनों के मध्य आदिम मनुष्य का अपनी इच्छाओं को सीमित करना उस युग का प्रतिमान हो सकता है- आज का नहीं । ऐसे में मिथकीय ~~इच्छाओं को सीमित करना उस युग का प्रतिमान हो सकता है-- आज~~ आदर्श भी यत्किंचित परिवर्द्धन व परिशोधन की स्वतंत्रता देता है । पौराणिक सन्दर्भों की नवीन व्याख्याओं के पीछे यही दृष्टि है । नवीन व्याख्या और उससे वर्तमान को पकड़ना-यही आज के मिथकीय साहित्य का अभीष्ट है ।पौराणिक घटनाएं स्वंपात्र दृष्टि के इतने व्यापक कैनवास पर रचे गये हैं कि उनमें अनेक प्रकार के अर्थों की व्यंजना की जा सकती है । यही नहीं, वह कालमुक्त और युगातीत भी होता है- फलत: हमारे समाज और उसमें निवासकर रहे व्यक्ति के जीवन का शायद ही कोई पहलू हो जिसे पौराणिक पात्र या कथाएं न छूती हों ।

वर्तमान साहित्य में पौराणिक सन्दर्भों के प्रयोग का एक कारण यह भी है कि उसमें वर्णित समाज और उसे कार्यकलाप आज के समाज के लिये एक आदर्श माडल का कार्य करते हैं । यह आदर्श, जीवन जीने की चेतना उत्पन्न करने वाला होता है, ऐसी चेतना जो युगों से मनुष्य के अन्दर संचित है । इस चेतना के ही कारण पुराण हमारे लिये एक जीवित सत्ता बनकर सामने आता है और उसके पात्रों व घटनाओं को हम अपने ही अन्दर अनुभव करते हैं । चूंकि ये सन्दर्भ हमारे अन्दर रुढ़ि बनकर पैठे हुए हैं और हमारे संस्कारों को भी पोषित किये हैं अत: ये हमारे मानस पर अधिक गहरा प्रभाव डालते हैं । व्यवस्थाओं और राजनीतिक परिस्थितियों के चक्र में पड़ा व्यक्ति जो स्वतंत्र निर्णय लेने में असमर्थ है- अभिमन्यु और उसके चक्रव्यूह में फंस जाने की नियति द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है । इसका कारण यही है कि अभिमन्यु हमारे मानस का एक ठोस और स्थायी प्रतिमान है

जिससे ~~इस~~ हम इसकारणभी जुडे हैं कि वह हमारे धार्मिक ग्रन्थों से लिया गया एक पत्र है । ऊंच-नीच, अच्छाई-बुराई जीवन-मृत्यु आदि सम्बंधी जो प्रश्न, सुनो जनमेजय` में उठाये गये हैं उसकी सार्थक जनमेजय के नागयज्ञ के पौराणिक सन्दर्भ के साथ कितनी सटीक बैठती है जहां ध्वंस और विप्लव के प्रतीक तक्षक की समाप्ति और मानवता के प्रतीक परीक्षित की रक्षा के लिये जनमेजय यज्ञ करता है । यहां जनमेजय आज का ऊंच-नीच, अच्छे-बुरे, जीवन-मृत्यु के मध्य अपनी सार्थकता खोजते आदमी का प्रतीक है । समकालीन बोध की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत युगीन बोध की दृष्टि से भी उक्त पौराणिक सन्दर्भ व्यापक व्याख्या का बायस बन सकता है ।

आज की परिस्थिति में जबकि साहित्यकार भी शासन का माउथपीस बनने को बाध्य किया जाता है, चारों ओर एक प्रकार की अभिव्यक्ति का संकट अनुभव करता है । इस संकट को रचनात्मक धरातल पर अपनी बात को कहने के प्रसंग में रचयिता अनुभव करता है और इसके लिये वह फार्म की दिशा में दौडता है । इस संकट के स्वरूप की ओर डा० दयाशंकर शुक्ल का कथन संकेत करता चलता है-`नाटककार ने स्थापित को बद्धमूल होकर स्वीकार नहीं किया, चुनौती और सामना करने का मार्ग अपनाया लेकिन इस अस्वीकृति और स्थापित के नकार का अगला मार्ग क्या हो- यह विचारणीय प्रश्न था । तथाकथित शास्त्रीय, लोक और पश्चिम की परंपरा को अस्वीकार कर दिया जाय, यहां तक तो ठीक था, किन्तु उस अस्वीकार के विकल्प स्वरूप नाटककार कौन सा क मार्ग अपनाय, यह दुविधा थी । यही नाटककार के लिये अभिव्यक्ति का संकट था ।[१] यह संकट स्वतंत्रता के उपरान्त रचनाकार के लिये अधिक विषम था । आजादी के पूर्व तो लडाई विदेशी सत्ता के साथ थी जिसके विरोध में खडा हुआ साहित्यकार अनेक कष्ट झेलने के उपरान्त राष्ट्र भक्त का सम्मान पाता था लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात उसकी लडाई अपने ही देश की शासन व्यवस्था, समाज और उसकी समस्याओं से होनी थी । ~~लडनी~~ उसके लिये

१- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच- डा० शुक्ल, पृ० १६

आजादी के पूर्व की भांति सीधे प्रहार से एक व्यापक खतरा था- विद्रोही करार किये जाने का, फासिस्ट समझ लिये जाने का और राष्ट्रीय भावात्मक एकता के छिन्न-भिन्न हो जाने का । ऐसे में रचनाकार व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से अपने कर्तव्यच्युत हो जाने के संकट से ग्रस्त था । उसे एक ऐसी 'शुगर-काटेड क्वीनेन' की आवश्यकता थी जो सामाजिक बुराइयों इत्यादि के असाध्य रोग को ठीक भी कर सके और उसका अनुभव भी उन बुराइयों से ग्रस्त मनुष्य को न हो । पौराणिक सन्दर्भों का माध्यम या शिल्प ऐसा ही एक आत्मीयतापरक रवैया था जो ऊपर से दिखने में उदार भी था किन्तु जिसका प्रभाव पथच्युत मनुष्य और समाज के अन्तरतम तक पहुंच उसके प्रजातीय अचेतन के सुप्त संस्कारों को आलोड़ित कर देने वाला था । आर्श पुरुषों, देवताओं और उनके कर्मों के प्रति समाज का एक धार्मिक-प्रभु भाव था जिसके द्वारा वर्तमान मनुष्यों को दिशा संकेत करने का यह एक प्रयत्न था । रचनाकार ने पौराणिक सन्दर्भों को यथावत ग्रहण किया क्योंकि ऐसा करने पर वे सन्दर्भ पुनरावृत्ति मात्र होते प्रत्युत उन्हें आज के जीवन के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया जिससे उन सन्दर्भों की युगातीतता और सर्वकालिकता स्पष्ट हो उठी । 'मिथक' को इस प्रकार पौराणिक सन्दर्भों द्वारा प्रकट कर रचनाकार ने मनुष्य को उसके आदिम संस्कारों व मूल्यों से जोड़ने का प्रयत्न किया ।

पौराणिक सन्दर्भों को आज के साथ जोड़ने के उक्त कारणों के साथ यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि आज का मनुष्य पौराणिक आख्यानों और उनमें वर्णित चरित्रों के साथ समदु:खभोगिता की स्थिति भी प्राप्त करता है । जब वह पौराणिक पुरुषों को अपने ही समान सुख-दु:ख भोगते देखता है तो उसे अपने सुख-दु:ख कम प्रतीत होते लगते हैं । जो अतीत व प्रागतीत में घटा है वही जब अपने जीवन में घटते देखता है तो उसे यत्किंचित सान्त्वना मिलती है । फिर वह अपने कष्टों के समाधान के लिये उन्हीं पौराणिक चरित्रों की ओर देखता है । रचनागत प्रभाव की यह मनि- पारेशियलिटी रचनाकार की सफलता की कसौटी बन जाती है ।

हिन्दी साहित्य में मिथकीय अभिव्यक्ति स्वातंत्र्योपरान्त कविता, कहानी, उपन्यास एवं नाटकों में कमोवेश होती रही है । मिथकीय अभिव्यक्ति के आरम्भ को हिन्दी साहित्य की यात्रा के उस पडाव से लक्ष्य किया जा सकता है जहां साहित्य में प्रच्छन्न संवेदना आधुनिक जीवन की विसंगतियों, सामाजिक और वैयक्तिक स्तर पर अपने अधूरेपन के संत्रास में घुलते जा रहे मनुष्य के चिन्तन प्रश्नों द्वारा साहित्य के समसामयिक-बोध प्रदान करनेमें लग रही थी । अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि रचनाकार का मानस इस समय एक सं संक्रमण से गुजर रहा था और उसके समक्ष समग्र रूप में एक ब द्वन्द्व की स्थिति जन्म ले चुकी थी- नष्ट हो रहे जीवन मूल्यों और उनको किसी प्रकार से बचाये रखने के प्रयत्न में नि:शेष शक्ति हो रहे मनुष्य की नियति । आज का संपूर्ण विश्व-साहित्य (जिसमें स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य भी सम्मिलित है) इसी द्वन्द्व का साहित्य है । डा० इन्द्रनाथ मदान ने इस द्वन्द्व को यूनानी देवता डायोनिसस और अपोलो के आदिम द्वन्द्व के रूप में देखा है । वे लिखते हैं - ---` यह एक ही देव है जो आधुनिकवाद के स्वरूप को उजागर ही नहीं करता, इसे साकार रूप भी देता है । इसे एक रूपक के तौर पर लिया गया है जो हाल की स्थिति पर हावी है । इसे विसंगति , क्रूरता, सामाजिक भागीकरण, नग्नता आदि में आंका जा सकता है । एक दूसरा देव है अपोलो जो इसके विपरीत है । अपोलो में क्लासिकल स विवेक है, विधान है, संयम है ।`[१] हिन्दी उपन्यासों में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत `चारु-चन्द्रलेख` मिथकीय अभिव्यक्ति का प्रारम्भ कहा जा सकता है और `मानस का हंस` (अमृतलाल नागर),`सूरज का सातवां घोड़ा`(डा० धर्मवीर भारती),`अनामदास का पोथा अथ रैक्वाख्यान` (डा०हजारीप्रसाद द्विवेदी) व जयवर्द्धन (जैनेन्द्रकुमार) समकालीन बोध के स्तर पर ऐतिहासिक व पौराणिक कथ्यों व संकेतों द्वारा प्रयुक्त मिथक के माध्यम से विगत, वर्तमान एवं आगत को जोडने का एक प्रयास करने वाली कृतियां हैं । स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी यों तो डायोनिसस और अपोलों के द्वन्द्व को ही विघटित जीवन मूल्यों के परि- प्रेक्ष्य में प्रकट करती है किन्तु प्रत्यक्ष पौराणिक सन्दर्भ या संकेत को लेकर लिखी

१- आधुनिकता और हिन्दी साहित्य- पृ० ४८

कहानियों में राजेन्द्र यादव कृत `अभिमन्यु की आत्महत्या` और गजानन माधव मुक्तिबोध कृत `ब्रह्मराक्षस का शिष्य` कहानियां परिवेश की दृष्टि से पौराणिक अर्थ का वहन करने के साथ ही निहित संवेदना की दृष्टि से आधुनिकता व समसामयिकता का चित्रण करती हैं । उपन्यास और कहानी की भांति स्वातंत्र्योत्तर कविता में भी मिथकीय प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । यों तो नये युग के उदय की सूचना देने वाला महाकाव्य `कामायनी` मनु के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा डायोनिसस और अपोलो के संघर्ष की कहानी कहती ही है किन्तु उसे मिथीकल इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि संघर्ष की पृष्ठभूमि में रोमानीपन अधिक होने व दार्शनिकता की बोझिलता होने से उसका समसामयिक सन्दर्भ पीछे छूट जाता है । वस्तुत: यह प्रारम्भ होता है अज्ञेय के काव्य `आगन के पार द्वार` के अंश असाध्य वीणा से जहां एक पौराणिक आख्यान के माध्यम से आज के मनुष्य के जीवन की नीरसता और संगीतात्मकता के अभाव को दृष्टि दी है ।`अन्धा युग` दूसरा महत्वपूर्ण काव्य है जो युग के अन्धेपन और पशु के उदय का ।

हिन्दी नाटकों में `मिथकीय` अभिव्यक्ति का प्रारम्भ श्री जगदीश चन्द्र माथुर के `कोणार्क` से माना जा सकता है । इससे पूर्व केनाटकों में पौराणिक या ऐतिहासिक सन्दर्भों को आधुनिकता-बोध के मध्य उभारने के विशेष प्रयास नहीं था । वे उस युग की सांस्कृतिक ~~क्षय~~ अवस्था का चित्रण कर एक आदर्श पाठ पढाते अवश्य थे किन्तु किसी समकालीन बोध को उस सन्दर्भ के अन्दर से सीधे प्रक्षेपित नहीं करते थे । दूसरी ओर, वर्तमान नाटक में अपने यथार्थ से च्युत हुए मनुष्य को फिर से जोडने का प्रयत्न कर उसे समकालीन बोध से जोडने का प्रयत्न मिलता है । इस सन्दर्भ में लाल का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है-`आधुनिक जीवन के चतुर्दिक दवाब का एक जो अत्यन्त गंभीर आघात व्यक्ति के ऊपर हुआ है वह है उसके यथार्थ से उसके सम्बंध का टूट जाना । वह धीरे-धीरे टूटकर एक ऐसी अपहुंच जगह जा बैठा कि कि कृतिकार द्वारा उस तक पहुंचना कठिन हो गया है ।

कठिन इसलिये और भी कि कृतिकार स्वयं उस टूटने का बहुत बडा भागीदार है । उस तक पहुंचने के लिये उसकी सीढी स्वयं टूटी हुई है । उस तक पहुंचने के लिये कुछ चीज चाहिये, कोई ठोस चीज-विषय और दृष्टि, दोनों स्तरों पर ।[१] कहने की आवश्यकता नहीं कि `मिथक` के प्रयोग ही आज के रचनाकार के हाथ वह ठोस चीज है जिसकी सहायता से वह यथार्थ तक पहुंच सकता है । `कोणार्क` में सौन्दर्य और पौरुष जैसे मूल्यों द्वारा उसी यथार्थ तक पहुंचने का प्रयत्न है । `कलाकार के मानस में कुण्डली मारकर सोये पौरुष की अनाहत फूत्कार व सौन्दर्य सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाने वाले कलाकार के युग-युग से मौन पौरुष को वाणी देना `कोणार्क- का प्रतिपाद्य है । `कोणार्क` का ऐतिहासिक सन्दर्भ कलाकार की चेतना के `एकांतिक से सामाजिक होने की प्रक्रिया `का चित्रण करता है । पौराणिक सन्दर्भों को लेकर रचे जा रहे समकालीन बोध वाले नाटकों में डा० धर्मवीर भारती कृत `अन्धा युग` की चर्चा काव्य-प्रसंग में हुई ही है । युद्धोत्तर मनुष्य की मूल्यहीनता, अमानवीयता, कुण्ठा और विघटन को दर्शाने के लिये महाभारत के चरित्रों को आधार बनाया गया है ।कहानी है आज के मूल्यविहीन अन्धे मानव की है । किन्तु इसके माध्यम से नाटककार ज्योति(मूल्य,विवेक) की राह दिखाना चाहता है । आज के मनुष्य में वे ही आदिम संस्कार जाग उठे हैं जो उसके आरंभिक काल में थे । ये संस्कार उसके जीवन में निराशा को जन्म देते हैं । प्रतिहिंसक पशुत्व और न्यूरोटिक युद्ध लिप्सा ही आज के मनुष्य का चरित्र है । इन सभी प्रश्नों को पौराणिक आधार प्रदान किया गया है । यहां आवश्यक है कि `अन्धा युग` के पौराणिक -चरित्रों को केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक नहीं समझा जाय प्रत्युत `समसामयिकता के दायित्व का निर्वाह करने वाली रचनाकार की दृष्टि का मानवीय सन्दर्भगत ` परिणाम समझा जाय ।

मिथिकल नाटकोंकी परंपरा में मोहन राकेश के दो नाटक-`आषाढ़ का एक दिने और `लहरों के राजहंस` उल्लेखनीय हैं । आषाढ़ का एक दिन` का कालिदास और `लहरों के राजहंस` के नन्द व सुन्दरी ऐतिहासिकपात्र अवश्य हैं किन्तु

१- कल्कि- पृ० १३

मूल्य किसी भी पौराणिक चरित्र के समान ही त्रिआयामीय होने से उनमें आज का अर्थ देने की अमित सम्भावनाएं हैं । कालिदास केवल व्यक्ति नहीं प्रत्युत हमारे अन्तर की सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है । इसी प्रकार नन्द व सुन्दरी के मनुष्य के अवेतन में दबी भोग प्रवृत्ति का विस्फोट हैं जिन्हें अन्तर का ही योग संस्कार सन्तुलन प्रदान करता है । इन चरित्रों की संवेदना में समकालीन बोध अथवा आधुनिकता बोध है । आज के मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों को खोजना यहां महत्वपूर्ण है- ऐतिहासिकता तो मात्र पृष्ठभूमि है ।

'कोणार्क' की परंपरा में ही जगदीशचन्द्र माथुर द्वारा लिखा गया नाटक 'पहला राजा' पौराणिक सन्दर्भों द्वारा आज की परिस्थितियों का चित्रण करता है । नाटक ब्रह्मावर्त के राजा अंग और उनकी पत्नी सुनीथा के अत्याचारी पुत्रवेन की कथा पर आधारित है जिसे अन्ततः ऋषियों द्वारा मार डाला जाता है । वेन की हत्या का अभिशाप पृथ्वी को ही न नष्ट कर दे, इस भय से ऋषि वेन की दाहिनी जंघा व भुजा का मंथन करते हैं । फलतः निषाद और पृथु की उत्पत्ति होती है । निषाद वेन के पापों को अपने सिर पे ले लेता है और पृथु सृष्टि का पहला राजा बनता है । पृथु का यह पौराणिक चरित्र जो अपने साथ अनेक छोटे-बडे चरित्रों को लिये चलता है, के माध्यम से नाटककार सामयिक प्रश्नों की तलाश की जाती है, मनुष्य और प्रकृति के साधनों का आपसी रिश्ता, समाज के विकास में वर्णसंकरता की देन, समुदाय और राज्यसत्ता के बीच सम्बंधों की बुनियाद, महत्वाकांक्षी पुरुष में कर्म की स्फूर्ति और काम की लालसा का सहज सहअस्तित्व- कुछ पौराणिक पात्रों और प्रसंगों में मिले प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है ।

'एकलव्य' 'विषपायी' और 'उत्तर-प्रियदर्शी' की चर्चा काव्य के प्रसंग में हो ही चुकी है । इनके अतिरिक्त भी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में मिथीकल

१- समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि- जयदेव तनेजा- पृ० १८१

नाटकों की एक अव्यहत परंपरा रही है जिसे `सूर्य की अंतिम किरण से लेकर (सुन्द्र- सुरेन्द्र वर्मा),`द्रौपदी`(सुरेन्द्र वर्मा),`उस गन्धर्व(मणि मधुकर),`उर्वशी` (लखनलाल सिंह बच्चन),`शंबूक की हत्या`(नरेन्द्र कोहली) एक और द्रोणाचार्य` इतर शेष आदि में देखा जा सकता है । इनके अतिरिक्त यदि वर्तमान जीवन से नये मिथकों के निर्माण की बात कही जाय तो उस दृष्टि से `दरिन्दे`(हमीदुल्ला), `शुतुर्मुर्ग`(ज्ञानदेव अग्निहोत्री) एवं `हत्या एक आकार की`(ललित सहगल) उल्लेखनीय हैं । दरिन्दे और शुतुर्मुर्ग मनुष्येतर मिथक हैं और ये इन्सान के पशु बन जाने की स्थिति का चित्र खींचते हैं । `हत्या एक आकार की` महात्मा गांधी जैसे मिथक की हत्या करने की त्रासदी को ~~डांगीकर~~ इंगीतकर वर्तमान राजनीति पर व्यंग्य करने वाला नाटक है ।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में `मिथक` के वस्तु व शिल्प-दोनों ही स्तरों पर किये गये प्रयोगों से एक तथ्य स्पष्ट होता है कि हमारा लेखक आज के आधुनिक परिवेश में भी परंपराओं से टूटा नहीं है प्रत्युत परंपरा से टूटे मनुष्य को फिर से परंपरा से जोडने के लिये परम्परा से प्राप्त कथाओं व चरित्रों का आदर्शों को ही माध्यम के रूप में अपना रहा है । हमारे जीवन की किसी भी समस्या का हल हमारी अपनी परिस्थितियों में है, उन परिस्थितियों में सृजित पुराण या इतिहास में है । आज के प्रश्नों को यथार्थ परिवेश में प्रकट किये जाने पर रचनात्मक जटिलता और उससे जो सम्प्रेषण का संकट उठ खड़ा होता है, उसे हल करने में पौराणिक सन्दर्भ सहायता करते हैं । वे जन मानस में रचे पगे होने के कारण उसे बोध गम्य बनाने में सहायता करते हैं । हिन्दी नाटकों में पौराणिक सन्दर्भों के प्रयोग की महत्ता डा० लाल के अनुसार यही थी । लेकिन डा०लाल के अनुसार समस्या का समाधान केवल पौराणिक-सन्दर्भों के प्रयोगमात्र से ही हल नहीं हो सकता था । केवल पौराणिक सन्दर्भों को अपने नाटकों में रख देना तो एक शास्त्रीय परम्परा का या लोक-प्रचलित परंपरा का निर्वाह मात्र होता जो `यथास्थिति` को बनाने वाला होता अथवा मनुष्य के हर अच्छे बुरे कर्म पर एक आदर्शपरक निर्णय देने वाला होता । विपरीत इसके डा० लाल ने पौराणिक

सन्दर्भों को केवल शास्त्रीय व लोक परम्परा के वाहक रूप में नहीं ग्रहण किया प्रत्युत उन्हें उस चेतना का स्त्रोत भी माना जो मनुष्य को आदिम काल से वर्तमान काल तक एक अखण्ड यात्रा के रूप में हमारे समक्ष है । इस चेतना में मनुष्य की पवित्रता व अपवित्रता, मूल्य व मूल्यहीनता व विश्वास व अन्ध विश्वास दोनों समाया है । पुराणों में ये सभी समाहित हैं किन्तु वे समान रूप से आज भी हमारे अन्दर विद्यमान हैं । हमारी चेतना के स्त्रोत के रूप में , शास्त्रीय या लोक परंपरा के रूप में और कालातीत रूप में इन सन्दर्भों का आज की रचना के लिये प्रयोग किया जाना उनकी त्रिआयामीयता को प्रकट करना था । लाल के लिये पुराण का प्रयोग इसी हेतु था । इस त्रिआयामीयता को वे स्पष्ट करते हुए लिखते भी हैं- `विशेषकर नाटक में जब कोई मिथक आ जाता है तो मिथक की शक्ति इतनी बढती है कि उससे सहज ही इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य जैसे प्रकाशित हो उठता है । मिथक पुराबिम्ब बनकर त्रिआयामीय हो उठता है , क्योंकि यह प्रत्यक्ष,दृश्यगत जीवन में से अपना रूप पाता है । और जो अभिव्यक्ति जितनी सकुल तथा गहन होती है, उसके रचनाकार को उसके सार्थक रूपायन का प्रश्न समानान्तर चलने के कारण अन्योन्याश्रित रूप में ही उपस्थित होता है ।[१] रेखांकित पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि मिथक एक अति भौतिक या दैवी या काल्पनिक प्रत्यय है जो प्रत्यक्ष जीवन में कहीं न कहीं झलकता है । अन्तत: यह गोचर सृष्टि भी तो स्वयं के अंदर उसी काल्पनिक प्रत्यय के समेटे हुए है । लाल अपने नाटकों में इसी काल्पनिक प्रत्यय को प्रत्यक्ष जीवन में खोजे जाने के प्रयास में है । `सूर्यमुख`, `कलंकी`, `मिस्टर अभिमन्यु`, `नरसिंह कथा`, `एक सत्य हरिश्चन्द्र`, `यक्ष प्रश्न` आदि इसी प्रयास के परिणाम हैं । ये सभी कृतियां अपने सृजन के काल की चतुर्दिक परिस्थितियों का परिणाम थीं । ये कृतियां पौराणिक सन्दर्भों को आधुनिक चोले में प्रस्तुत करने के उपरान्त पारम्परिक कथा का आधार लिये होने से पारंपरिक

१- कलंकी-रंगमंच। एक प्रसंग। कलंकी। पृ० ८

मिथकों की श्रेणी में आती हैं । दूसरी ओर, लाल ने वर्तमान जीवन और उसकी परिस्थितियों के बीच से ही कतिपय नवीन मिथकों का सृजन भी किया है । `रक्त कमल` का कमल और `अब्दुल्ला दीवाना` का अब्दुल्ला ` ऐसे ही मिथक हैं । यद्यपि `रक्त-कमल` की मिथक-योजना मिथक की सभी अपेक्षाओं को पूर्ण नहीं करती । उसमें कमल द्वारा यथार्थ की पकड़ कम है, विघटित मूल्यों को चुनौती देने हेतु सीधा उपदेश और इस प्रकार अपनी मान्यताओं को जस्टीफाइ करने हेतु दर्शकों के साथ बौद्धिक बलात्कार अधिक है । इतिहास, वर्तमान व भविष्य में वह इतिहास और वर्तमान द्वारा भविष्य की ओर दृष्टि रखता है किन्तु वर्तमान में ही अतीत की परंपराओं को पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करता । तथापि अगस्त्य के निर्माण उसका प्रयत्न अपने `मिथक` को `यथार्थ` रूप में बदलने का संकेत अवश्य देता है । मौलिक या नवीन रूप से सर्जित मिथकों की दृष्टि `रक्त कमल` एक प्रारंभ कहा जा सकता है । परंपरागत मिथकों की दृष्टि डॉ० से `सूर्यमुख` का नाम प्रथम है । वस्तुत: प्रभाव की दृष्टि से ये परम्परागत मिथिकल नाटक ही अधिक उपयुक्त माने जा सकते हैं क्योंकि यहां विषय-वस्तु, उसमें प्रच्छन्न संवेदना और परिवेश -सभी एकाकार प्र हो प्रकट होते हैं ।

(१) सूर्यमुख :

जुलाई सन् १९६८ में प्रकाशित नाटक `सूर्यमुख` डा० लाल के उन नाटकों में प्रथम जो अपनी संवेदना और परिवेश में पूर्णत: पौराणिक हैं किन्तु सामयिक परिस्थितियों के नाटककार पर पड़े प्रभावों और उनसे सम्बंधी प्रश्नों और उनके समाधानों का प्रक्षेपण परोक्ष रूप में करते हैं ।

जैसा कि शीर्षकसे स्पष्ट है, यह नाटक सूर्य (प्रकाश) की ओर अभिमुख कराने वाला नाटक है । आज के मनुष्य के व्यक्तित्व पर चढ़े सामाजिक मुखौटों को उतार कर वह उसे उसके वास्तविक रूप में ला खड़ा करने की प्रक्रिया को ही आगे बढ़ाया गया है । अन्तर यह है कि जहां `दर्पन` में आत्म-साक्षात्कार एक

की स्थिति को जिस प्रकार 'स्व' और 'परिवेश' के द्वन्द्व के मध्य प्राप्त करता है वैसे ही 'सूर्यमुख' भी इसी द्वन्द्व के मध्य गुजरता है । 'दर्पण' में 'स्व' (पूर्वी) के साक्षात्कार की तुलना में 'परिवेश' (समाज) का साक्षात्कार अपेक्षाकृत सीमित है जबकि 'सूर्यमुख' में 'स्व' (प्रद्युम्न व वेनुरती) के साथ साथ 'परिवेश' (कृष्णा) के साक्षात्कार की भी समान स्थिति है । यही नाटक का आब्जेक्टिव भी है ।

'मिथिकल' नाटक' की एक वृहत् अपेक्षा भी होती है जो नाटक के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर आब्जेक्टिव के पीछे छिपे उद्देश्य को प्रकट करने से सम्बंधित होती है । 'सूर्यमुख' भी इसी अन्यपरक उद्देश्य को लेकर रचा गया नाटक है । इस नाटक की सार्थकता को आज के युग के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जा सकता है । हमारे देश में स्वतंत्रता के पश्चात एक सर्वतोमुखी विघटन की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी थी जो एक प्रकार से द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर विश्व की विघटित सामाजिक और वैयक्तिक जीवन का ही हमारे देश की परिस्थितियों में घटित परिणाम था। यह विघटन कुछ तो स्वतंत्रता जैसी महत उपलब्धि के उपरान्त अपने ही देश की सरकार से अपेक्षित व्यक्ति व समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की अप्राप्ति के कारण था और कुछ युद्धोत्तर मानसिकता के कारण था जिसके कारण जीवन में जैसे नैतिक मूल्यवत्ता के अभाव में स्वार्थलिप्सा और आत्म-केन्द्रिता की प्रवृत्ति ने जन्म ले लिया था । ऐसे में एक ओर हमारा राष्ट्र बड़े-बड़े शान्तिप्रिय और गांधीवादी नारों के खोखलेपन में अपनी शक्तिहीनता को छिपाने का प्रयत्न कर रहा था और दूसरी ओर आन्तरिक स्तर पर दलगत राजनीति के शिकंजों में जकड़ा जा रहा था- ऐसी राजनीति जो शासन प्राप्त करने को उत्सुक थी, जनहित उसके लिये गौण था । देश की वास्तविक बुद्धिजीवी युवा-शक्ति इस राजनीतिक प्रपंच से दूर हमारी व्यवस्था को यथार्थवादी रूप देने की अपरिमित शक्ति रखती थी किन्तु राष्ट्रीय नीति के परम्परागत रूप को ही ज्यों का त्यों ग्रहण करने वाले यथास्थितिवादी नेताओं के सामने उनकी एक नहीं चल रही थी । आवश्यकता थी प्रेरणा की जो आत्म निर्वासित हुई युवा शक्ति का

आह्वान कर परम्परा व यथार्थ के समन्वय का प्रयत्न कर सकती और उसे नवीन मूल्यों की स्थापना में सहयोग देती । देश की इस भयावह परिस्थिति को अधिक भयावह बनाने का कार्य किया चीन ~~(यथार्थ चेतना-लालबहादुर-विदेशनीति)~~ के आक्रमण ने । यह आक्रमणहमारे लिये घातक भले ही सिद्ध हुआ हो किन्तु ~~इस~~ इससे यथास्थितिवादी नेताओं को उस यथार्थता की ओर मुड़ने को प्रेरणा अवश्य मिली जिसके लिये तत्कालीन युवा मानस प्रयत्नशील था और जिसके अभाव में वह आत्म-निर्वासित होकर बैठ गया था । अब इस सम आत्म-निर्वासित चेतना को उचित अवसर प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षों में पाकिस्तान के आक्रमण के समय अपने प्राणों को भी उत्सर्ग कर देने के हौंसले के साथ राष्ट्र को चीन के आक्रमण में अपनी खोयी-प्रतिष्ठा को प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ ।

'सूर्यमुख' की संपूर्ण कथा का विस्तार तीन अंकों में किया गया है-क्रमश: तीन, व चार दृश्यों के साथ और तीसरा अंक स्वयं में पूर्ण है।कथानक दो स्तरों पर गतिशील होता है- प्रथम, महाभारत की समाप्ति और कृष्ण की मृत्यु के पश्चात महाभारत-काल में रची गयी नारायणी सेना का विभक्त होकर सत्ता-संघर्ष और द्वितीय, इस संघर्ष के मध्य कृष्णाकी अन्तिम पत्नी वैनुरती से कृष्ण के ही पटरानी रुक्मिणी से उत्पन्न पुत्र प्रद्युम्न का प्रेम । दोनों स्तरों पर चलने वाला संघर्ष परस्पर टकराता है और अन्तत: एक नये युग की सूचना के साथ समाप्त होता है ।

महाभारत के पश्चात कृष्णाऔर अन्य वरीयजन की मृत्यु के बाद जैसे द्वारिका में कोई भी एक नियंत्रक शक्ति नहीं रह गयी है । कृष्ण-पुत्रों के मध्य सत्ता को लेकर संघर्ष प्रारंभ हो गया है । ऐसी विकट परिस्थिति में जबकि द्वारिका के राज्य की अंतिम निशानी राजा उग्रसेन भी मृत्यु शैया पर हैं । भोज-यदुवंशियों का एक-दल, शिनिवंशियों का दूसरा दल और विष्ठी-यदुवंशियों कातीसरा दल । तीनों दलों का नेतृत्व करने वाले हैं क्रमश: वभु, साम्ब और प्रद्युम्न । तीनों ही कृष्ण

की परंपरा से हटकर राज्य की स्थापना चाहते हैं और तीनों का अपने-अपने स्तर पर कृष्ण से विद्रोह है । प्रद्युम्न का वेनुरती के साथ प्रेम-सम्बंध है, वह वेनुरती जो कृष्ण कीअन्तिम पत्नी है । समाज विमाता-पुत्र के इस प्रेम-सम्बंध को स्वीकार नहीं करता, फलत: प्रद्युम्न समाज का विद्रोह करते हुए नागकुण्ड की पहाड़ियों में आत्म निर्वासित हो गया है । बढ़ते हुए विद्रोह और काल-प्रकोप से त्रस्त जनता का हाहाकार बढ़ता चला जाता है । ऐसे में वेनुरती की प्रेरणा पाकर प्रद्युम्न आत्म-निर्वासन के मुखौटे को तोड़ता है, द्वारिका आकर काल-समुद्र के प्रकोप पर विजय प्राप्त करता है और शत्रुओं की विनाश-लीला को रोकने का प्रयत्न करता है । द्वारिकावासी उस पर धर्म से मानी गयी माता से प्रेम करने का आरोप लगाते हैं । प्रद्युम्न व वेनुरती अपने सहज प्रेम सम्बंधों के औचित्यानौचित्य, संशयासंशय और प्रेम व घृणा के मध्य होकर अन्तत: उस समय आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में पहुंचते हैं जब हस्तिनापुर से आये अर्जुन के साथद्वारिका की स्त्रियों के साथ वेनुरती को भी बलात ले जाया जा रहा होता है और दूसरी ओर द्वारिका विजय प्राप्त होने के उपरान्त वेनुरती को न पाकर प्रद्युम्न विक्षिप्त सा हो घूमता हुआ वेनुरती के पास पहुंचता है । यहां वभ्रु द्वारा प्रद्युम्न पर आक्रमण किये जाने पर दोनों प्रेमी वीरतापूर्वक लड़ते हुए अन्तत: मरते हुए अपने 'जीवन-धर्मी' प्रेम का 'मन्वन्तर' स्थापित करते हैं और आनेवाले युग को प्रेम की शक्ति का परिचय दे जाते हैं ।

महाभारतोत्तर युद्ध की उक्त कथा परिवेश की दृष्टि से पौराणिक है और संवेदना की दृष्टि से आधुनिक । यहां महाभारत के चरित्र के एक सर्वथा नये अर्थ में प्रकट हुए हैं । ऐसे में यह संभावना है कि दर्शक इनमें प्रच्छन्न 'पवित्र-यथार्थता (sacred-reality) और आस्था के कारण उनकी नयी व्याख्याओं को सहज ग्रहण नहीं कर सके । ऐसी स्थिति में पौराणिक सन्दर्भों की नयी व्याख्या के सन्दर्भ में कतिपय पूर्वाग्रहों से परे हटकर विचार करने की अपेक्षा की जाती है- प्रथम तो

इन पौराणिक चरित्रों के प्रति प्रभु-भाव के आग्रह को छोड़ उन्हें मानवीय सन्दर्भों के साथ विचार करने की आवश्यकता है । इन चरित्रों को साधारण मनुष्य की मानसिक ~~तथ्यमें~~ ~~तत्प्रयत्न~~ तत्प्रोद्भूत क्रियात्मक शक्तियों के उत्थान-पतन के रूप में देखा जाना आवश्यक है । इस स्थिति में पौराणिक चरित्रों को आधुनिक मनुष्य के चारित्रिक स्वरूप को समझने के लिये एक माध्यम के रूप में ग्रहण किया जा सकेगा । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी कि इन चरित्रों को आनुभूतिक स्तर से उतार कर बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करना अत्यावश्यक है । इस तार्किक दृष्टि के कारण स्थापित आस्थाओं को नवीनीकृत किये जाने की दिशा में किसी सामाजिक मूल्य को तोडने के आरोप से बचा जा सकेगा । भारतेन्दु और प्रसाद इत्यादि के नाटकों में इस आनुभूतिक प्राधान्य होने के कारण उन्हें वर्तमान पौराणिक सन्दर्भ वाले नाटकों की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

कृष्ण, प्रद्युम्न, वभ्रु, साम्ब, अर्जुन व रुक्मिणी पौराणिक चरित्र हैं जो अपेक्षित मानवीय परिवर्तन के नाटक में प्रस्तुत किये गये हैं । उनकी पुराण सम्मतता को डा० दयाशंकर शुक्ल ने यथासम्भव सिद्ध किया है ।[१] यहां नाटक के एक अत्यन्त विवादास्पद चरित्र वेनुरती की पौराणिकता पर विचार करना आवश्यक है । वेनुरती के जिस प्रेम-सम्बंध की चर्चा नाटक में की गयी है, वह भी विचारणीय है । वेनुरती शब्द वैभिन्न्य से रति नाम से एक ख्यात पौराणिक चरित्र है जो कामदेव की पत्नी थी और शंकर द्वारा कामदेव को भस्म किये जाने पर अनंग रूप में कामदेव को प्राप्त करने का वरदान प्राप्त कर चुकी थी । महाभारत के आदि पर्व के अनुसार कामदेव (मदन) की मृत्यु के पश्चात शम्बरासुर राक्षस द्वारा उसकी पत्नी मायावती का अपहरण कर लिया गया था । इसी का बदला लेने के लिये कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न के रूप में कामदेव को जन्म लेना पडा । ऐसा उल्लेख है कि शम्बरासुर यह ज्ञात होने पर कि मदन ने उसके वध हेतु रुक्मिणी-पुत्र के रूप में पुनर्जन्म ले लिया है, इस नवजात

१- देखिये- लक्ष्मीनारायणलाल के नाटक और रंगमंच ।

शिशु को समुद्र में फेंकर निश्चिन्त हो गया था । संयोग से यह शिशु एक मछली द्वारा निगल लिया गया । इस मछली को शम्बरासुर को एक मछुआरे द्वारा भेंट किया गया और शम्बरासुर ने इसे अपनी पत्नी मायावती को भेंट किया । इस प्रकार शिशु रूप में अपने पति को मायावती ने पुन: प्राप्त किया । हरिवंशपुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण में यह कथा यत्किंचित परिवर्तन के साथ प्रस्तुत की गयी है किन्तु अन्तत: सभी कथाओं में प्रद्युम्न को पुत्र रूप में रति से पुनर्मिलन की बात कही गयी है । `सूर्यमुख` में प्रद्युम्न के वेनुरती के साथ विपरीत सम्बंधों की जो कथा है, उसके मूल में पुराण की उक्त कथाओं से विपरीत सम्बंधों का एक सूत्र भर ग्रहण किया गया है । प्रश्न यह है कि क्या वेनुरती कृष्ण की अंतिम पत्नी थी ? इस सम्बंध में पुराण मौन है । तब इस काल्पनिक-सम्बंध की स्थापना कर उसे प्रद्युम्न के प्रसंग से जोड़कर त्रिकोण-संघर्ष को जन्म देने का क्या आधार है ?

वेनुरती का सृजन और कृष्ण ~~क~~ व कृष्ण-पुत्र के मध्य उसकी उपस्थिति पौराणिक न होने पर भी `मिथक` और उसकी आधुनिक सन्दर्भों के साथ प्रयुक्ति के सन्दर्भ में औचित्यपूर्ण है । वास्तव में मिथक की प्रकृति ही ऐसी है जो ऐसे चरित्रों व घटनाओं का सर्जन कराती है । `मिथक` पुराणके पात्रों व घटनाओं को धारणा और प्रतीक(concept and symbol) के रूप में परिवर्तित कर देता है । ऐसे में उनकी पौराणिकता विशुद्ध न रह रचयिता की अपनी चिन्तना शक्ति के अनुरूप परिवर्तित हो जाती है। तब पौराणिक चरित्र उस मूर्ति की तरह हो जाते हैं जिसके निर्माण में तो आदिम मृदा का हाथ है किन्तु जिसे समय समय पर परिवेश और समसामयिकता के अनुरूप नया रंगरूप दे दिया जाता है । ऐसे में मूल पौराणिकता के प्रति आग्रह रखना अथवा किसी पौराणिक चरित्र को मानवीय ~~परिस्थिति~~ परिस्थितियों के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने के लिये कल्पना और पुराण के पुट में नवीन चरित्र के गठन को स्वीकार न करना दुराग्रह मात्र है । वर्तमान के पौराणिक साहित्य को आत्मसात करने के लिये इस सीमा रेखा को स्वीकार करना प्राथमिक शर्त है

कि उसमें वर्णित चरित्र या प्रसंग यथातथ्य पौराणिक चरित्र नहीं है । बल्कि धारणा व प्रतीक के रूप में परिवर्तित हुए चरित्र या प्रसंग हैं । साहित्यकार का अभीष्ट यहां पौराणिक तथ्यों को यथावत रखना नहीं है क्योंकि तब वह केवल पिष्ट प्रेषण कार बनकर रह जायेगा । वह तो पुराण के साथ कलागत भावन का समन्वय करता है और एक नवीन सृष्टि करता है । 'मिथक' के ऐसे ही प्रयोग वेनुरती, कृष्णा, प्रद्युम्न इत्यादि की रचना में हुए हैं जिनमें मूल सत्य को चारुता प्रदान करने का प्रयास होता है । वे मूल पौराणिक चरित्र तो कदापि नहीं हैं । उनकी विशव-पूजनीयता की

उनकी वैयक्तिकता और वैयक्तिकता की मनोभूमियों के विश्लेषण में हो गया है । उनके द्वारा जो विचार तत्व नाटककार को वर्तमान युग के वैषम्य के चित्रण के लिये प्राप्त होता है वही इन पौराणिक सन्दर्भों के प्रयोग का अभीष्ट है । अधिक स्पष्ट शब्दों में ये नवीन सन्दर्भों को लेकर सर्जित चरित्र पवित्र यथार्थ नहीं प्रत्युत 'प्रतीकात्मक- यथार्थ की प्रतिष्ठा करते हैं। इसीलिये ये किसी परंपरित आस्था को तोड़ते नहीं प्रत्युत उसे रचनात्मक धरातल पर एक और आधुनिक आयाम प्रदान करते हैं ।

ऊपर धारणा(concept) और तदनुसार प्रतीकीकरण(symbol) की बात कही गयी है । 'सूर्यमुख' की अवधारणा स्वातंत्र्योत्तर भारत की विषमतापूर्ण आन्तरिक व बाह्य स्थिति का चित्रण करना है और इसके लिये माध्यम बनाया गया है महाभारतोत्तर द्वारिका और उसमें होनेवाले परिवर्तनों को । चूंकि नाटककार इनके द्वारा आज की परिस्थितियों को ग्लोरीफाई करना चाहता है, परिणामत: इस नाटक के पौराणिक चरित्र व उनके चारों ओर घटनेवाली घटनाएं प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान करती हैं । इन्हें इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है :-

चरित्र या घटनाएं	अवधारणा
कृष्ण	महात्मा गांधी की वह परंपरा जिसको कालान्तर में युगबोध के लिये असंगत असन्दर्भित कर दिया गया। फलत: कृष्ण का आदर्श अतीत का गौरव बनकर रह गया । वर्तमान के लिये उसकी क्या उपयोगिता होनी चाहिये-इसे जनता समझ नहीं सकी ।

प्रद्युम्न- यथार्थवादी जन चेतना जिसकी यथास्थितिवादी शक्तियों द्वारा उपेक्षा के कारण वह आत्म निर्वासित(प्रद्युम्न का मुखौटा चढा नागकुण्ड की पहाडियों में चले जाना) । यह यथार्थ चेतना गांधी की परंपरा को एक नवीन आयाम देकर समान्तर व्यवस्था की स्थापना चाहती थी और एक नये युग(मन्वन्तर) का प्रारंभ चाहती थी । प्रद्युम्न में डा० लोहिया की ऋण नीति को लक्ष्य किया जा सकता है । (गैर कांग्रेसवाद की स्थापना किन्तु गांधीवाद को मिटाकर नहीं)

रुक्मिणी - कृष्ण की ही परंपरा को यथावत आगे बढ़ाने को इच्छुक और यथार्थ जन-चेतना को भी इस परम्परा को विरासत में दिये जाने की इच्छुक । (कांग्रेसवाद को बिना किसी आधारभूत परिवर्तन के स्थापित करने को इच्छुक)।

वभ्रु,साम्ब इत्यादि- स्वार्थ पर दलीय राजनीति जो जनता के हित की अपेक्षा अपने वर्चस्व को बनाये रखने को प्रयत्नशील थी । साधन के रूप में हिंसा,साम,दाम,दण्ड,भेद का प्रयोग ।

वेनुरती- यथार्थोन्मुख गांधी दर्शन(प्रद्युम्न) की प्रेरणा,नवीन जीवन मूल्य(युग सापेक्ष और युवा-मानसिकता के अनुरूप- इस प्रेरणा शक्ति में गांधी के प्रेम और अहिंसा के नवीन मन्वन्तर की शक्ति, स्वातंत्र्योत्तर-भारत में यह यथार्थ-वादी प्रेरणा हमने लालबहादुर शास्त्री के कार्य काल में प्राप्त की थी । प्रद्युम्न की सोयी संकल्प शक्ति को जगाने की प्रेरणा का कार्य, आत्म निर्वासन से लौटाने का कार्य वेनुरती ही करती है । गांधी दर्शन को एक नया सन्दर्भ और एक यथार्थ विकल्प देनेवाली प्रेरणा या परिकल्पना- इसीलिए एक प्रकार का 'यूटोपियन-चरित्र'।

अर्जुन-	द्वितीय विश्व युद्धोत्तर मनुष्य- कुण्ठाओं से ग्रस्त, स्वर्णिम परंपरा व इतिहास किन्तु वर्तमान नष्ट-भ्रष्ट ।
दुर्गपाल-	नाटक का सूत्रधार, स्वयं नाटककार अपनी बात कहने के लिये इस चरित्र के रूप में समक्ष आया है ।तटस्थ-दृष्टि और युग-समालोचक ।
व्यासपुत्र-	चारणी पत्रकारिता, अवसरवादी बुद्धिजीविता,संचार-माध्यम जो शासन के हाथ के खिलौने और जनता को भ्रान्त रखनेवाले होते हैं ।
वृद्ध-	त्रिकाल द्रष्टा,नष्टप्राय,जीवन , धर्म जो जनता के मध्य अब उन्माद या प्रेतावस्था के रूप में आविष्ट ।
जरा-	पथ-भ्रान्त जनता जिसका उपयोग शासन द्वारा अपने हित में किया जाता रहा है ।
काल -समुद्र में डूबती द्वारिका-	देश पर छाया बाह्य संकट, विदेशी शक्तियों की भारत पर युद्ध-दृष्टि । काल का अभिशाप भारत की एकता पर विप्लव के रूप में ।

अवधारणा के उक्त आयामों की प्रामाणिकता स्वयं इन चरित्रों द्वारा कहे गये कथन हैं । नाटक के कृष्ण भागवत-प्रेम के वाहक हैं किन्तु प्रेम की वह परंपरा जीवन सन्दर्भों के बदल जाने के कारण अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी है । कृष्ण द्वारा संस्थापित `प्रेम का मन्वन्तर` कालान्तर में स्वार्थपरक युद्धों के साथ ही समाप्त हो गया । कृष्ण को इसकी पीड़ा निश्चय ही रही थी और विशृंखलित वंश को देखकर उनके हृदय में वेदना भी रही होगी- वही वेदना जो स्वतंत्रता के बाद खण्ड-खण्ड भारत को देखकर गांधी जी के मन में उत्पन्न हुई थी । कृष्ण की यह वेदना स्वयं द्वारा

स्थापित परंपरा के अतीत के गौरव के रूप में ` रह जाने के कारण थी और इसकी अभिव्यक्ति नाटक में यथा स्थान हुई है-` माध्यम वही इतिहास था जिसे कृष्ण ने स्वीकार कर उसके भीतर से अपने व्यक्तित्व को ढूंढा । तुम सब इसके विपरीत इतिहास से भाग निकले । तभी तुम्हें न अपना व्यक्तित्व मिला न कोई इतिहास-दर्शन । मिला तुम्हें केवल अपना मूल्यहीन अहंकार ।---छोटे-छोटे क्रोध---स्वार्थ और उद्देश्यहीन विरोध ।[१] महात्मा गांधी ने राष्ट्र के इतिहास और उसमें अनुस्यूत व्यापक प्रेम व अहिंसा की परंपरा का पालन किया । फलस्वरूप वे राष्ट्र और विश्व में वन्दनीय हुए । स्वातंत्र्योत्तर भारत में इस परंपरा को भंग कर हिंसा और व्यक्तिगत स्वार्थ की आधार भूमि पर नव निर्माण की दुराशा की गयी । जिसका परिणाम विभाजन के रूप में हमारे समक्ष आया । महात्मा गांधी के आदर्शों का यह एक करुण अन्त था- फलत:उनका परमार्थ की आधारशिला पर खडा कर्म-दर्शन एक हारे मनुष्य की निराशा में बदल गया । महात्मा गांधी के सिद्धान्त कालान्तर में उस संकल्प-शक्ति से रहित हो गये जो नव विकासशील राष्ट्र के लिये आवश्यक थी । वेनुरती से कृष्ण के टूट जाने के पीछे यही अन्योक्तिपरक अर्थ है - मेरे कृष्ण फिर अपनी इस द्वारिका में नहीं आये । इसका कारण वही वेनुरती है जिसने कृष्ण के मन-प्राण को तोड़ा, जिसने उनके मर्म को घायल कर उन्हें इतना अकेला और विवश बनाया । महाभारत के युद्ध में मेरे प्रभु इस वेनुरती से टूटकर गये थे, तभी वहां उनकी गीता में फल के प्रति इतनी उदासी, वैराग्य और उनका निष्काम के प्रति इतना आग्रह है ।[२]

प्रद्युम्न का आत्म निर्वासन और मुखौटे बांधकर नागकुण्ड की पहाडियों में खो जाना स्वातंत्र्योत्तर युवा-चेतना के आत्म-निर्वासन के रूप में नाटक में लक्ष्य किया जा सकता है । युवा-शक्ति की उपेक्षा और उससे उत्पन्न उसकी उदासीनता को

१- सूर्यमुख- पृ० १२

२- वही- पृ० ६७

वेनुरती के ये शब्द प्रेरणा देते हैं अथवा यह कि प्रद्युम्न के अन्दर राष्ट्र-निर्माण और युग-परिवर्तन के संकल्प को जन्म देते हैं -`तोड़ डालो इस मुखौटे को ।ताकि मैं तुम्हारा वह सुर्यमुख देख सकूं । तुम्हारे इस मुख को देखने के लिये द्वारिका के अन्धकार में छिपे हुए देवता तुम्हारा रास्ता देख रहे हैं । महाभारत और प्रभास क्षेत्र के युद्ध में अकारण मरे हुएयदुवंशियों की वे असंख्य आत्मायें तुम्हें निहार रही हैं । इस मुखौटे को चीरकर देखो । बाहर का अंक अन्धकार कितना गहन है ?[१] गांधी के दर्शन को यथार्थ रूप देने का कार्य और उसे सामयिक अर्थ देकर यथास्थितिवादी शासकों के समक्ष एक ठोस विकल्प प्रस्तुत करने में प्रद्युम्न के अन्तस की संकल्पशक्ति, जीवन मूल्य और प्रेरणा जैसे वेनुरती का रूप धारण कर उठ खड़ी हुई है-` मेरे सूर्य को इस मुखौटे के अंधकार से बाहर आना ही होगा । सारी द्वारिका हमारे विरुद्ध षडयंत्र रच रही है । उठो, उन्हें चुनौती दो ताकि हमारे अस्तित्व को अर्थ मिल सके ।[२] प्रद्युम्न का यह क्रांतिकारी रूप वस्तुत: गांधी जी के सिद्धान्तों का युगानुरूप परिवर्तन कहा जा सकता है ।इसी रूप में कृष्ण अतीत हैं और प्रद्युम्न वर्तमान और इन्हें एक प्रगतिशील परम्परा के रूप में जोड़नेवाली है वह संकल्प-प्रेरणा जो वेनुरती के रूप देखी जा सकती है । अपनी-अपनी युग सापेक्षता में यह प्रेरणा शक्ति अतीत व वर्तमान में दोनों का वरण कर चुकी है ।

अर्जुन के वर्तमान मनुष्य के रूप का उद्‌घाटन स्वयं अर्जुन के शब्दों में देखा जा सकता है-` मैं नया अर्जुन हूं ।[३] वस्तुत: अर्जुन ऐसी `मृत परम्परा के अवशेषों को ढ संजोये हुए मोहग्रस्त आदमी` के रूप में समक्ष आता है जो अपने परंपरा और इतिहास के मोह में कर्म की शक्ति खो चुका है और जिसे प्रेरणा देनेवाला, कर्मयोग की शिक्षा देनेवाला कोई `कृष्ण` भी अब शेष नहीं- `यहां आकर आपमें जो

१- सूर्यमुख- पृ० २३-२४

२- वही- पृ० २४

३- वही- पृ० ८५

नया मोह और प्रश्न जागा है, इसके समाहार के लिये अब कृष्ण नहीं हैं । यह आपका सौभाग्य है । आज पहली बार आपको अपने संशय से अकेले जूझने को मिला है । स्वयं से युद्ध, इससे बड़ा सौभाग्य मनुष्य का और क्या हो सकता है ?[१] अर्जुन के रूप में आज के मनुष्य के परम्परा, अतीत और इतिहास में बंधे रहने की नियति का जो खोखलापन प्रस्तुत किया गया है वह वभ्रु और उसके साथियों द्वारा अर्जुन को घेरकर किये गये कृत्य और वभ्रु के इस सम्वाद द्वाराप्रकट होता है-(गले के पीछे लटकते हुए तरह-तरह के मुखौटों को यदुवंशी भट अपने मुख पर चढ़ा लेते हैं और अर्जुन को घेरकर अजब ढंग से नृत्य करने लगते हैं । अर्जुन इतप्रभ हैं ।दौड़ी हुई रुक्मिणी आती है।)

रुक्मिणी- (देखते ही घबराकर) रोको----रोको----! यहसब क्या है ? वभ्रु !

वभ्रु- संस्कृति,---इतिहास---परंपरा---स्वर्णिम अतीत----- प्रवचन---भाष्य-सन्देश ।[२]

वभ्रु और साम्ब- दोनों ही कृष्ण पुत्र हैं किन्तु उनके विरोधी है । उनके माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत की दलीय राजनीति बोल उठी है, वह दलीय राजनीति जो गांधी जी के सिद्धान्तों को अस्वीकार कर चुकी है और उसे नवीन भारत के लिये विषवत मानती है । इस दलीय स्वार्थपरता को रुक्मिणी के शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है- `कृष्ण रक्त के कलंक! महाभारत के बाद कृष्ण ने अपनी नारायणी सेना को भंग करने का आदेश दिया था पर तुम सब उस सेना को टुकड़ों में बांटकर उसी के सहारे राज्य-लिप्सा के युद्ध में डूब गये ।[३] ये विभिन्न दल कृष्ण की परंपरा को या तो हिंसक बनकर नष्टकर कर डालना चाहते हैं या कृष्ण के विरुद्ध एक उपेक्षा मिश्रित घृणा उत्पन्न कर उनके विरुद्ध वातावरणखड़ा करने का

१- सूर्यमुख- पृ० ८५

२- वही- पृ० ७६

३- वही- पृ० १०

का प्रयत्न करते हैं । वभ्रु और साम्ब अपने-अपने स्तर पर समान्तर व्यवस्था की स्थापना करनेवाली शक्तियां हैं । शब्दों-में

व्यासपुत्र की अवसरवादिता शब्दों के मोहजाल बनने वाली पत्रकारिता नीति और चारिणी प्रकृति को इन शब्दों में लक्ष्य किया जा सकता है-`-----यही है तेरी इतिहास-दृष्टि । (राजमुकुट को हाथ में लेकर) तभी तेरे शब्दों में सदा दो अर्थ होते हैं । अपने इसी छल को तू सदा बड़े बड़े शब्दों की तह में छिपाये रखता है- प्रतिबद्धता, युग-बोध, यथार्थ और-----[१] व्यासपुत्र का शक्ति-सन्तुलन का रुझान देख कभी प्रद्युम्न, कभी साम्ब और कभी वभ्रु की ओर झुकना उसकी अवसरवादिता है और एक प्रकार से यह स्वातंत्र्योत्तर भारत की शासन के प्रति प्रतिबद्ध पत्रकारिता की ओर इंगित है । यह अवसरवाद ही जीवन का सरलीकरण है और इस ओर प्रद्युम्न का यह कथन संकेत करता प्रतीत होता है-`जीवन का सरलीकरण करके समस्याओं का समाधान तुम जैसे झूठे इतिहास कार करते हैं ।[२] वृद्ध और जरा- दोनों जनता के ही प्रतिरूप हैं, उसमें बोध के स्तर पर अर्द्धमूर्च्छित जीवन-धर्म और पथभ्रष्ट स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के रूप में ।`दोउ चकोर दोउ चन्दा` गीत के माध्यम से बार-बार भूले हुए` प्रेम के मन्वन्तर ` की ओर वृद्ध का सन्देश मनुष्य के जीवन में व्याप्त धर्म का ही स्वर है । जरा गांधी की हत्या की आत्म-स्वीकृति करनेवाली वह जन-भ्रांति है जिसे इस जघन्य कार्य के प्रति आत्म-रोष व पश्चाताप है लेकिन उसके इस पश्चाताप व रोष की ओर ध्यान न दे अपनी शासन सम्बंधी साख बनाये रखने के लिये सत्ता की इच्छुक शक्तियां उसको मोहरे के रूप में प्रयुक्त करना चाहती हैं । जरा की यह आत्म-स्वीकृति और सत्ता लोलुप शक्तियों द्वारा उसे हिंसक रूप की अनुभूति देना और उसकी हिंसक वृत्ति को ही बार-बार उभाडना जनता की नियति है जिसे स्वयं जरा इन शब्दों में प्रकट करता है-` छोड दो मुझे । मुझे जाने दो इन भेड़ियों के जंगल में । मैंने अनजान में ही कृष्ण के पैर में बाण मारा था । मैं तब हिंसक नहीं था पर

१- सूर्यमुख- पृ० ६७

२- वही- पृ० १६

द्वारिका में ले खाकर इन पशुओं ने मुझे अनुभूति दी है कि मैं मनुष्य नहीं, जरा हूं, केवल जरा । मैं अपने इस व्यक्तित्व को अब इस जंगल में चरितार्थ करूंगा और मृत्यु की उस प्रक्रिया को यहां बनाये रखूंगा ।[१]

दुर्गपाल इस नाटक का सूत्रधार है और आत्म साक्षात्कार वाले इस नाटक के उद्देश्य को स्थान-स्थान पर उद्घाटित भी करता चलता है । विरोध के मध्य मार्ग खोजते वेनुरती और प्रद्युम्न और द्वारिका का विप्लव सभी दुर्गपाल को एक तटस्थ और पूर्ण विचारक के रूप में सोचने का अवसर देते हैं । अर्जुन के शब्दों में- इस नगर में जहां सब कुछ खंडित है, तुम्हारा अर्थ खण्डित नहीं होता ?-----तुम धन्य हो । तुमने मुझे मेरी इस यात्रा का अर्थ दिया ।[२] स्वातंत्र्योत्तर खंडित मानव चेतना को अखंडता का बोध कराता हुआ दुर्गपाल आज के रचनाकार के दायित्व बोध को भी जाग्रत करने की प्रेरणा देता है ।

नाटक में कथन या सम्वादों द्वारा कान्सेप्ट के ऊपर वर्णित कोणों को समझा जा सकता है । नाटक के थीम, आब्जेक्टिव और कान्सेप्ट को नाटक भाषाभिव्यक्ति के माध्यम द्वारा ही प्रकट करता है । अवधारणा के धरातल के साथ-साथ यहां नाटक में मानवीय भावनाओं के इर्द-गिर्द लिपटा एक कथानक प्रस्तुत किया गया है जो नाटककार को चिन्तक के साथ-साथ एक भावुक कलाकार भी सिद्ध करता है। रचनात्मक धरातल पर अवधारणा के बाद यह भावमय कथानक और उसमें अनुस्यूत चरित्र विधान दूसरा आयाम कहा जा सकता है । यही कथा जब प्रस्तुति के शिल्प में प्रयुक्त होती है । जिसकी चर्चा आगे होगी) तो नाटक प्रस्तुति शिल्प के रूप में एक तीसरा आयाम पा जाता है । तीनों आयाम क्रमशः तीन परतों के रूप में इस प्रकार जमाये गये हैं -

---

१- सूर्यमुख- पृ० २९-३०

२- वही- पृ० ८६

तृतीय आयाम	प्रस्तुति का स्तर
द्वितीय आयाम	भावनामयी प्रेम-कथा का स्तर
प्रथम आयाम	अवधारणा का स्तर

नाटक के स्नू दूसरे स्तर पर है 'विरोध के मार्ग से गुजरते हुए' दो निसर्ग-प्रेमियों द्वारा स्वयं से साक्षात्कार की कहानी । प्रद्युम्न और वेनुरती वे दो प्रेमी हैं जो सम्बंधों की विपरीतता में बंधे हैं किन्तु सहज और जीवन वर्मा प्रेम का दावा करते हैं ।

प्रद्युम्न और वेनुरती के प्रेम-सम्बंधों को आधार बनाकर रचा गया यह नाटक चरित्रांकन के स्तर पर तीन दृष्टिकोणों से परखा जा सकता है । प्रथम, अवधारणा की दृष्टि जिसे ऊपर लक्ष्य किया गया है । शेष दो दृष्टियां हैं- क्रमश: सौन्दर्य-बोधक मूल्य एवं सांस्कृतिक या सामाजिक मूल्य ।

दोनों युगल प्रेमियों का जीवन वर्मा प्रेम अपनी प्रकृति में एक रोमांटिक बोध को जन्म देता है । इस रोमानी प्रेम में गहनता है और इसी गहनता के कारण एकोन्मुखता वा अनन्याश्रय की भावना है । इस अनन्याश्रय के धरातल पर यह प्रेम अपनी प्रतिक्रिया में चिन्तनात्मक एवं निस्संग हो जाता है । प्रद्युम्न व वेनुरती के मध्य की निस्संगता और अनन्यता अन्य की स्थिति बीच में कभी स्वीकार नहीं कर पाती । इसीलिये कृष्णा मुख का उनके मध्य बार-बार खिंच जाना उन्हें भयभीत करता है, संशय में डालता है । इनसे बचने के लिये वे एक दूसरे में खो जाना चाहते हैं, यही वह जन्म जन्मान्तर का प्रयत्न है जो उनके संशय और भय पर विजय प्राप्त कर लेना चाहता है ।--- मैं युगों से उन्हें अपने माथे पर लिये हूं और मेरे माथे पर उन्हीं का केतु है जिस पर मछली तैर रही है, मैं उसे इस जन्म में अपने प्राणों के सागर में उतार लूंगी और मैं वेनु से मत्स्यगन्धा हो जाऊंगी ।[१] यह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध

१- सूर्यमुख- पृ० ५६

इस जन्म के विपरीत सामाजिक सम्बंधों के अतार्किक-सत्य को विस्मृत कर देना चाहता है । यहां वेनुरती व प्रद्युम्न सहज जीवन प्रसंग को ही जस्टीफाई करना चाहते हैं और इसके लिये रूमानी धरातल को अपने प्रेम-प्रसंग की कसौटी बनाते हैं ।

प्रेम की उक्त रोमाण्टिकता सौन्दर्य बोधक मूल्यों की प्राथमिक शर्त है । इसके कारण प्रेमी जन की प्रकृति में एक प्रकार की स्वप्निल ,अतीन्द्रिय व रहस्यात्मक मानस-स्थिति का निर्माण होता है । यह मानस-स्थिति उसकी अभिव्यक्ति में सांगीतिक प्रभाव की सृष्टि करती है । प्रद्युम्न और वेनुरती में यह स्थिति अनेक स्थानों पर द्रष्टव्य है -

प्रद्युम्न- जो पहाड़ियां तुम्हारे लिये अन्धी हैं-----देखो, इनमें बिना बादल के हर क्षण बिजली चमकती है- बादल गरजते हैं और मेरी शत-शत द्वारिका यहां हर क्षण डूबती है ।

\+ + +

प्रद्युम्न- तुम मंत्र की तरह मुझ पर छायी रहती हो ।

वेनु- वही तुम हो ।

\+ + +

वेनु- मेरे अन्त:पुर के द्वार उनके लिये सदा खुले रहते हैं पर वे द्वार पर दस्तक देकर लौट जाते हैं । मैं नित्य उनके लिये अपने द्वार पर दीपावली सजाये बैठी रहती हूं पर अन्त:पुर में उनके लिये अपने द्वार पर दीपावली सजाये बैठी रहती हूं पर अन्त:पुर में उनके पैर रखते ही जैसे उसी कमल-कोश से बादल और बिजली लड़प उठती है और मेरे अन्त:पुर के सारे दीप बुझ जाते हैं ।

\+ + +

भावाभिव्यक्ति की यह कोमलता वेनुरती में प्रद्युम्न की अपेक्षा अधिक देखने में आती है क्योंकि वह नारी है और उसके हृदय में प्रेम सामाजिक वर्जनाओं के कारण समाप्त नहीं होता । प्रत्युत सामाजिक भयों के मध्य तो वह उत्तरोत्तर गहन होता जाता है । विपरीत इसके प्रद्युम्न के अन्दर की आत्म-कुण्ठा एक बार तो उसे आत्म-निर्वासित या पलायन वादी बना देती है । वेनुरती का ही प्रेम उसे पुन: कर्तव्य-निष्ठ बनाता है ।

सौन्दर्य मूल्यों के अभिघटन का प्राथमिक रूप है, प्रेम की सकुलता और वेनुरती व प्रद्युम्न में इस प्रेम की उत्पत्ति अकारण होती है- सहजात या प्रातिभ (Intutional) होती है । जन्म-जन्मान्तर का संस्कार व प्रणय सम्बंध इस जन्म में विपरीत में से होकर गुजरता है किन्तु सहज प्रकाश्य अनुभूति के रूप में वह वेनुरती व प्रद्युम्न को आकर्षण के सूत्र में बांध देता है -

वेनु- विश्वास करो, तुम्हीं- केवल तुम्हीं मेरे प्रथम और अन्तिम हो!------ मेरी ओर देखो, इस महल में पांव रखते ही, घूंघट उठाते ही सबसे पहले मैंने तुम्हीं को देखा था । उस क्षण कृष्णा के हाथ का वह कमल सहसा नीचे गिर गया था, तुमने तब किस विश्वास और शक्ति के साथ उस कमल को उठाकर मेरी वेणी में गूंथ दिया था । प्रद्युम्न के लिये तो वेनुरती का आकर्षण और प्रेम ही उसे अन्य यदुवंशियों से अलग करता है- 'विश्वास करो तुम वेनु, इस जीवन में यदि तुम्हें न देखा होता तो मैं भी वही यदुवंशी था जो द्वारिका में आये हुए कृषियों का अपमान करता घूमता था ।[१] वस्तुत: प्रद्युम्न को उद्बोधन देने का कार्य वेनुरती क ही करती है ।

१- सूर्यमुख-पृ० ६०

वेनुरती की सौन्दर्य एवं प्रेम सम्बंधी चेतना के उपर्युक्त विवेचनोपरान्त उनके सर्जन में निहित सांस्कृतिक व सामाजिक मूल्य बोध को भी लक्ष्य किया जा सकता है । प्रद्युम्न और वेनुरती दोनों मिलकर `प्रेम के नये मन्वन्तर की स्थापना` की संकल्पात्मक अनुभूति लिये हुए हैं । यह नया मन्वन्तर सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया है । इसके लिये उन्हें स्वयं से और समाज से युद्ध करना पडता है । यह संघर्ष कठिन इसलिये भी है कि उनका सम्बंध माता-पुत्र का है जिसे उनका प्रेम-सम्बंध चुनौती देना जो जैविक धरातल पर असहज है,सम्बंधों की कठमुल्ली व्यवस्था का परिणाम मात्र है । मुखौटे,तोडने, सूर्याभिमुख होने और अन्ततः आनेवाले युग को दिशा-निर्देश दे जाने के पीछे यही एक लम्बी सांस्कृतिक प्रक्रिया है । अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य- सांस्कृतिक विकास की यह वह आधारशिला है जो विरासत के रूप में सतत परिवर्तन शील है- `नहीं, कृष्णा अब अतीत हैं, वर्तमान अब तुम हो और वह प्रद्युम्न भविष्य है । सूर्यमुख है वह । उसने इस अन्धकार में प्रेम का एक नया मन्वन्तर स्थापित किया है ।[१] इस विकासशील सांस्कृतिक परम्परा को आगे बढाने में वेनुरती की भूमिका उस श्रद्धा की है जो संकल्प-शक्ति बन इस सांस्कृतिक यात्रा में सहायक बनती है- `श्रद्धावान लभते ज्ञानं । `कामायनी` की सांस्कृतिक यात्रा इसी दया, माया, ममता रूपा श्रद्धा की सहायता से अतीत, वर्तमान और भविष्य को नियंत्रित होती है और अपूर्णता से पूर्णता अथवा `स्व` व `परिवेश` से साक्षात्कार की ओर पहुंचती है ।

प्रद्युम्न व वेनुरती का आत्म साक्षात्कार विरोधी मार्ग से गुजरने की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है । फलतः वह अनेक तिक्त-मिष्ट अनुभवों के मन पर पडे प्रभावों का एक संकलन है । इसकी अनुभूति प्रद्युम्न व वेनुरती को अन्तिम क्षणों में होती है-`हमारे संशय निर्मूल थे । हमारे भय अर्थहीन थे । वह काला-पर्वत अब गल रहा है । हम इसकी चोटियों से गिर रहे हैं । अब यह क्षण बिखरने को है । यह क्षण टूटकर हमारे गले में स्मृति के पत्थर की तरह लटक जायेगा जिसका भार हमें पागल बनायेगा ।[२] ये भावाभिव्यक्तियां दोनों प्रेमियों के लिये जीवन का प्रतिमान

१- सूर्यमुख- पृ० ११६

२- वही- पृ० ~~११२~~ ११७

बन जाती हैं और यह प्रतिमान उनके प्रेम को आने वाले युग तक प्रसरित कर देता है । रुक्मिणी का यह कथन एक प्रकार से प्रेमियों द्वारा स्थापित प्रेम के प्रतिमान को आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित करता प्रकट होता है-'मेरे अमृत-पुत्र ! मैं तुझे इसी शिशु से जीवित रखूंगी । तेरी जययात्रा पर्वत के जिस शिखर पर टूटी है, वहीं से यह यात्रा अब प्रारम्भ होगी । जिस द्वारिका में मैंने तुझे जन्म दिया था, इस शिशु को लिये हुए मैं उसी नगर में वापस जाऊंगी ।[१] प्रतिमान के निर्माण की उक्त लम्बी प्रक्रिया और इसका आने वालीपीढ़ी तक हस्तान्तरण दोनों प्रेमियों में एक सांस्कृतिक मूल्य की प्रतिष्ठा करती है । प्रतिमानों की स्थापना एक प्रकार से पथभ्रष्टऔर पशुबल से पोषित मानव-सभ्यता को उसके मानवीय तत्व से जोडने का प्रयत्न है । प्रद्युम्न द्वारा जरा को उसके मनुष्य होने का बोध प्रदान करने के पीछे यही प्रगतिशील सांस्कृतिक बोध है । प्रेम के मन्वन्तर की स्थापना में परम्परा व वर्तमान की यथार्थता के संयोग द्वारा भविष्य की ओर संकेत किया गया है । कृष्ण के भागवत प्रेम को प्रद्युम्न व वैनुरती एक नया अर्थ देते हैं और विपरीत किन्तु सहज सम्बंधों के मध्य से गुजरते हुए नयी पीढ़ी को दिशा प्रदान करते हैं, उसे सूर्यामिमुख करते हैं । परम्परा, वर्तमान और उस द्वारा नियंत्रित भविष्य के मध्य इन प्रेमियों की सामंजस्य और अनुकूलन की प्रवृत्ति देखने मिलती है । इसीलिये प्रद्युम्न कृष्ण से मतभेद रखते हुए भी अन्य को उनके विरुद्ध होते नहीं सह सकता-

जरा- तुम कौन हो ?

प्रद्युम्न- (चुप)

जरा- प्रद्युम्न किसका नाम है?---कौन है यह प्रद्युम्न ?

प्रद्युम्न- पता नहीं ।

जरा- ओह, कृष्ण कैसे थे ?

प्रद्युम्न- (सहसा जैसे जागकर)

१- सूर्यमुख- पृ० १२२

सावधान । कृष्ण के बारे में कोई निर्णय देने का अधिकार तुमको नहीं है -----किसी को भी नहीं ।[१] सांस्कृतिकविकास की प्रक्रिया कभी रुकती नहीं ।फलत: प्रद्युम्न और वेनुरती का प्रेम भी सतत विकास का प्रेरणा-दायक बन जाता है ।

प्रद्युम्न और वेनुरती के प्रेम का धरातल सहज व आनुभूतिक है किन्तु समाज द्वारा उस सम्बंध को मान्यता न मिलने से प्रश्न उस सामाजिक मूल्य की प्रतिष्ठा का उठता है जिस पर इस तथाकथित असहज सम्बंध की वजह से आघात पहुंचने की सम्भावना है । प्रद्युम्न व वेनुरती के मन का संशय, भय, कृष्ण-मुख का खिंचा रहना उनके मन के उस आदिम संस्कार के कारण है, उस प्रतिष्ठित सामाजिक प्रत्यय के कारण है जिसके अनुसार इस प्रतिष्ठित सामाजिक मूल्य से टकराता है और अन्तत: जीतता भी है - लेकिन इस जीत का मूल्य इन प्रेमियों को अपने प्राणों की बलि देकर चुकाना पडता है- फलत: मां और पुत्र का यह नया सन्दर्भ भी अपना प्रभाव खो बैठता है । नाटककार इस प्रश्न को उठाकर उसकी तार्किक प्रतिष्ठा नहीं करता बल्कि दोनों प्रेमियों के उत्सर्ग से पाठक दर्शक में उनके प्रति सहानुभूति जगाकर दर्शकों को भावना के स्तर पर इस ज्वलन्त प्रश्न के साथ जोडना चाहता है । ऐसे में वेनुरती व प्रद्युम्न का प्रेम सम्बंध विचारार्थ एक नयी भूमि तो तैयार करता है किन्तु अन्तत: लगता ऐसा है जैसे प्रद्युम्न व वेनुरती प्रारम्भ से अन्त तक एक मनोग्रंथि -इडिपस-ग्रंथि में उलझे से चरित्र बनकर रह जाते हैं, सामाजिक मूल्यों को नये आयाम देने की दिशा में ठोस कारण की स्थापना नहीं कर पाते । इससे एक ओर इस चरित्र दृय की नैतिक मूल्यवत्ता अस्पष्ट रह जाती है और दूसरी ओर नाटक में संवेदनात्मक कसाव नहीं आ पाता ।

सामाजिक धरातल पर प्रद्युम्न व वेनुरती के प्रेम में विस्तार देखने को मिलता है । वेनुरती प्रद्युम्न को आत्म-निर्वासन से लौटाती है । फलत: समाज में लौटकर

१- सूर्यमुख- पृ० ३०

प्रद्युम्न में एक सामूहिक चेतना जागती है । फलत: वह समाज के प्रति अनुराग,सहानुभूति रखते हुए उनके उत्थान का प्रयत्न करता है । द्वारिका वासियों के प्रति उसके ये उद्‌गार उसकी उपर्युक्त सामूहिक चेतना को ही प्रकट करने वाले हैं ।-`सुनो----सुनो---- मैं स्वयं आया इस नगर में । मैंने जो कुछ किया और आज तथा भविष्य में जो कुछ करूंगा- उस सबका दायित्व मेरे ही ऊपर है ।--- पर मैं तुम सबका मुख देखना चाहता हूं । अन्धकार में डूबता हुआ तुम्हारा निर्दोष मुख कहता है, हमें प्रकाश दो, हमारा प्रात:काल लौटाओ ।[१] वेनुरती के सहयोग से वह द्वारिका में एक नये जीवन-धर्म कीस्थापना करना चाहता है- `मुझे शक्ति दो वेने । मुझे शक्ति दो--- विश्वास दो----! तुम्हें लेकर मैं उस नये धर्म को ढूंढना चाहता हूं जो इस द्वारिका की रक्षा करेगा और इस अंधकार को वेधकर चमकेगा । उस एक नये के लिये मैंने सब कुछ त्यागा है ।[२] वस्तुत: वेनुरती और प्रद्युम्न की व्यक्तिगत चेतनाएं (conscience-multiples) संयुक्त हो उनमें एक सामूहिक-चेतना को जन्म देती हैं ।

`सूर्यमुख` के उक्त दो प्रमुख चरित्रों के अभिघटन द्वारा नाटककार ने आत्म-साक्षात्कार व सामाजिक स्थितियों के साक्षात्कार की योजना की है । नाटक का अन्त चरित्र-नायक (व नायिका) के अन्त के कारण दुखान्त होने का संकेत देता है किन्तु नाटक का अभीष्ट(सूर्यमुख होना) प्राप्त हो जाने से यह कथा अन्धकार से प्रकाश की ओर आने की कथा बन जाती है । महाभारतोत्तर परिस्थितियों का यथार्थ और एक सर्वग्राही निराशा को जन्म देने वाला चित्रण यहां हुआ है किन्तु उनके द्वारा आशा व आस्था के मार्ग की खोज भी की गयी है । यहां `सूर्यमुख` की तुलना डा० धर्मवीर भारत के `अन्धा युग` से किया जाना प्रासंगिक और समीचीन होगा।`अन्धा युग` व`सूर्यमुख` की सामयिकता अनेक अर्थों में एक दूसरे से मेल खाती है । फिर भी, एक ओर `यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से ` कहने पर भी आदि से अन्त तक कथा

१- सूर्यमुख- पृ०२०

२- वही- पृ० ३ ४३

महाभारतोत्तर युद्ध के विध्वंस , और उससे उत्पन्न कुण्ठा , संत्रास और निराशा के ही इर्द-गिर्द घूमकर रह जाती है जबकि 'सूर्यमुख' नये युग की स्थापना का स्पष्ट उद्घोष करता है । कृष्ण की बांसुरी टूटी नहीं है, वह आने वाली हर पीढी में एक नये स्वर के साथ बजती रहेगी । कृष्ण के बाद प्रद्युम्न और उसके बाद 'यादवी शिशु' द्वारा नये युग की स्थापना का यह कथन 'सूर्यमुख' को एक आस्थावादी नाटक बनाता है-'इस अन्धकार में एक स्वप्न है। आओ हम उसे देखें। और उसे शब्द दें ।[१]

\+ + +

प्रद्युम्न- लाओ इसके माथे पर द्वारिका का यह राजमुकुट रख दूं। यही उस द्वारिका को ढूंढेगा । हम सब यहीं अपने स्वप्न में सोते रहेंगे । तुम आना । हम फिर जागेंगे ।[२]

रुक्मिणी- मेरे अमृत -पुत्र ! मैं तुझे इसी शिशु से जीवित रखूंगी । तेरी जययात्रा पर्वत के जिस शिखर पर टूटी है, वहीं से यह यात्रा अब प्रारम्भ होगी। जिस द्वारिका में मैंने तुझे जन्म दिया था, इस शिशु को लिये हुए मैं उसी नगर में वापस जाऊंगी ।[३]

\+ + +

'अन्धा युग' और 'सूर्यमुख' का परिवेश और संवेदना एक ही है लेकिन उनके प्रकटीकरण की दोनों की अपनी अलग-अलग दृष्टि है । युद्धोत्तर वैषम्य और विभीषिका दोनों में समान रूप से व्यक्त हुई है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि विभीषिका और वैषम्य के चित्रण में डा०लाल का मन डा० भारती की तुलना में

१- सूर्यमुख- पृ० १२०

२- वही- पृ० १२०-१२१

३- वही- पृ० १२२

कम रमा है । 'सूर्यमुख' तो प्रद्युम्न और वेनुरती के माध्यम से 'प्रेम के नये मन्वन्तर' की स्थापना में ही दत्तचित्त है । दूसरी ओर, जहां डा० भारती अश्वत्थामा इत्यादि के अन्तर के शोध द्वारा उनके पशु तत्व को प्रकट कर पाते हैं वहां डा० लाल प्रद्युम्न आदि के अन्तर का मंथन कर उनमें निहित शुभ मानवीय तत्व को उभारकर सामने रख देते हैं । इसी कारण प्रद्युम्न व वेनुरती वास्तव में 'प्रेम के नये मन्वन्तर' की स्थापना कर डा० भारती के इस कथन को चरितार्थ करता है-'जब कोई भी मनुष्य अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को। उस दिन नक्षत्रों की दिशाएं बदल जाती हैं । नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित। मानव-निर्णय उसे हरदम बनाता मिटाता है ।[१]

नाटक में निहित कण्टेण्ट तत्व इस सृजनधर्मी कला का एक पहलू है । इसकी पूर्णता नाटक की प्रस्तुती कला का सहयोग पाकर ही होती है । इस कण्टेण्ट को अभिव्यक्ति और प्रेक्षक -सम्प्रेषण प्रदान करने के मध्य नाटककार को एक लम्बी यात्रा पूर्ण करनी पडती है । इस यात्रा में नाटककार के विचार-तत्व को दर्शक तक सम्प्रेषित करने में अनेक माध्यम प्रयुक्त किये जा सकते हैं । अधिकाधिक माध्यमों का प्रयोग सृजनात्मक कौशल की कसौटी सिद्ध हो सकता है । इस दृष्टि से 'सूर्यमुख' के प्रस्तुती पक्ष को निम्नांकित कसौटियों पर कसा जासकता है- नाटकीय कार्य-व्यापार जिससे नाटक के अन्तर्हित द्वैध मूलक द्वन्द्व और उससे अभिनय की सम्भावनाओं को समझा जा सकता है, ~~इस-उस-के~~ और रंगमंचीय काव्य अथवा नाटकीय लय (Spontaneity) को पकड़ा जा सकता है, इस लय के अनुरूप नाटकीय शब्द की योजना, शब्द को रंग-सन्दर्भ देने हेतु निर्देश, प्रकाश, ध्वनि एवं दृश्य-बन्ध की सम्भावनाओं से परिचय ।

१- 'अन्धा युग' से-

'सूर्यमुख' में निहित कार्य-व्यापार को अंक और उनमें सन्नियोजित दृश्यों के सन्दर्भ में इस प्रकार देखा जा सकता है :-

१- पहला अंक

(i) पहला दृश्य(द्वारिका का राजदुर्ग)-

१- दान बांटते दुर्गपाल पर भिखारियों का झपटना ।

२- भिखारी द्वारा रुक्मिणी के हाथों का दान लिये जाने का अस्वीकार ।

३- भिखारी का लौटना और झपटना ।

४- रुक्मिणी का दु:खी होना और यदुवंशियों का परस्पर युद्ध-जरा का पीछा करते वभ्रु का प्रवेश ।

५- दुर्गपाल व साम्ब का परस्पर वार्तालाप ।

६- पृष्ठभूमि में शोर और साम्ब का भागना ।

(ii) दूसरा दृश्य(नागकुण्ड की पहाड़ी)

७- प्रद्युम्न-का आत्म निवेदन-द्वारिका का प्रतिक्षण डूबना- पहाडियों पर चमकती बिजली, बादलों की गर्जना ।

८- वेनुरती के आगमन की सूचना ।

९- प्रद्युम्न-वेनुरती सम्वाद ।

(iii) तीसरा दृश्य(द्वारिका का राजदुर्ग)-

१०- वभ्रु द्वारा जरा को घोषणा करने की आज्ञा देना

११- प्रद्युम्न का प्रवेश, मुखौटा खींचना और जरा को मुक्त कराना ।

१२- यदुवंशियों व जनता द्वारा 'अधर्मी' प्रद्युम्न का विद्रोह ।

१३- जरा-प्रद्युम्न सम्वाद व जरा का मिथ्याभाषण, रुक्मिणी-प्रद्युम्न संवाद ।

१४- वेनुरती-प्रद्युम्न सम्वाद व विरोध के मध्य संशयात्मक स्थिति ।

१५- प्रद्युम्न द्वारा वेनुरती से शक्ति और प्रेरणा मांगना ।

१६- सीढ़ियों पर सोया हुआ जरा, पृष्ठभूमि में समुद्र-गर्जन, जरा के पैरों के पास चिन्तित होकर प्रद्युम्न का बैठना ।

२- दूसरा अंक :

(i) पहला दृश्य (वेनुरती का कक्ष)-

१७- वेनुरती का आत्म-भय-लज्जा व प्रेम के मध्य द्वन्द्व की स्थिति(परिचारिका के साथ वार्तालाप)

१८- वेनुरती का स्वयं को दर्पण में देखकर चीख पड़ना ।

१९- प्रद्युम्न व वेनुरती का मिलन ।

२०७

(ii) दूसरा दृश्य (दुर्ग)-

२०- अर्जुन के समक्ष रुक्मिणी व वेनुरती का साक्षात्कार ।

२१- दुर्गपाल, वेनुरती व प्रद्युम्न का प्रसंग ।

२२- अर्जुन-वभ्रु सम्वाद, यदुवंशियों का मुखौटा नृत्य ।

२३- उग्रसेन का देहान्त और सत्ता-युद्ध, प्रद्युम्न का युद्ध के लिये तत्पर होना ।

२४- वेनु- दुर्गपाल सम्वाद ।

(iii) तीसरा दृश्य(दुर्ग का प्रांगण)

२५- अर्जुन का मोह और दुर्गपाल का प्रबोधन ।

२६- वभ्रु का निरस्त्र, शस्त्र संग्रहार्थ आना, गीता का इतिहास-दर्शन ।

२७- यदुवंसियों द्वारा साहूकार की हत्या ।

२८- अर्जुन, रुक्मिणी व वेनुरती का यदु-स्त्रियों के साथ हस्तिनापुर-यात्रा को प्रस्थान ।

(iv) चौथा दृश्य(दुर्ग का प्रांगण)

२९- महल में वेनुरती को न पाकर प्रद्युम्न का अर्द्ध-विक्षिप्त सा हो जाना ।

३०- व्यासपुत्र द्वारा राजमुकुट उठाया जाना व साम्ब का प्रतिरोध ।

३- तीसरा अंक-(पथ)

३१- वृक्ष देखकर स्त्रियों का भय

३२- वेनुरती का अर्जुन के समक्ष विद्रोह और रोष

३३- व्यासपुत्र द्वारा अर्जुन आदि को द्वारिका के विनाश की सूचनादेना ।

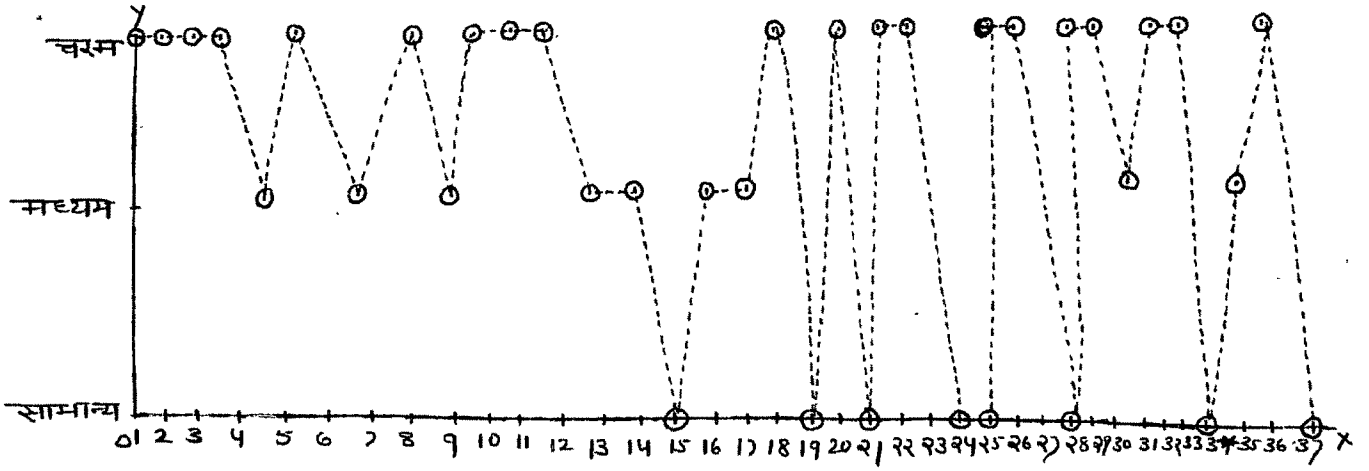
३४- अर्जुन का दायित्व से पलायन कर जाना ।

३५- प्रद्युम्न का प्रवेश और पुन: संशय व घृणा के सम्बंध में वेनुरती के साथ सम्वाद ।

३६- वभ्रु और प्रद्युम्न का युद्ध और इसी मध्य वेनुरती को पाना ।

३७- प्रद्युम्न व वेनुरती की मृत्यु और नयी पीढी का प्रवर्तन ।

दर्शक की रुचि को नियंत्रित करने में और उसके मानसिक रंगमंच पर रुचि रेखा को स्पन्दित करते रहने में कार्य व्यापार सहायक होता है । इसकी योजना प्रस्तुत नाटक में दो अंकों व अनेक दृश्यों द्वारा की गयी है । दर्शक के मानस पर रुचि-रेखा की तीन स्थितियों- सामान्य, मध्यम(आन्तरिक तनाव) व चरम(वहिर्द्वन्द्व) के सन्दर्भ में इस कार्य व्यापार को इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकताहै -



(अंक संकेत- संलग्न।)-

पहला अंक(पहला दृश्य)- १-६

(दूसरा दृश्य) ७-९

(तीसरा दृश्य)१०-१६

दूसरा अंक(पहला दृश्य) १७-१९

(दूसरा दृश्य) २०-२४

(तीसरा दृश्य)२५-२८

(चौथा दृश्य) २९-३०

तीसरा अंक ३१-३७

उपर्युक्त रेखा चित्र द्वारा 'सूर्यमुख' के कार्य व्यापार और उससे उत्पन्न अभिनय की लय को लक्ष्य किया जा सकता । इस नाटक के चरमावस्था पर पहुंचे नाटकीय व्यापार के बीस ऐसे बिन्दुओं को देखा जा सकता है जो नाटक को सर्वाधिक गतिवान बनाते हैं । आन्तरिक तनाव अथवा अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था के कार्य बिन्दु संख्यात्मक दृष्टि से नौ ही हैं किन्तु घनत्व की दृष्टि से ये ही सर्वाधिक ~~अवस्था-के-कारण~~ महत्वपूर्ण हैं । वेनुरती और प्रद्युम्न के विरोध के मध्य से गुजरने की प्रक्रिया के ये ही अंश हैं । सामान्य धरातल पर चलने वाला कार्य-व्यापार इस नाटक में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है और यह ऐसे आठ बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट होता है । समग्रत: यह स्पष्ट होता है कि नाटक उतार-चढ़ाव के मध्य, विरोधी ईहाओं द्वारा संचालित पात्रों और परिस्थितियों की संगति द्वारा आगे बढ़ता है । वह चरम बिन्दु से प्रारम्भ होकर सामान्य धरातल पर समाप्त होता है और मध्य में आन्तरिक तनाव व बहिर्द्वन्द्व के घात-प्रतिघातों के रूप में राह बनाता है । नाटक के रूप-बन्ध में अन्तर्हित गतिशीलता नाटकीय दृष्टि का परिचायक है और प्रेक्षक में रोमांच व भावोद्रेक करने में सहायक होते हैं । इस दृष्टि से ४,७,९,१४, १७,१८,२२,२७,२९,३१,३३,३५,३६,३७ बिन्दु सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं ।

नाटकीय कार्य व्यापार के उक्त घात-प्रतिघात से उत्पन्न लय की सार्थकता की अनिवार्य शर्त है उसकी प्रतीति शब्द के माध्यम से हो । यदि नाटक के कार्य-व्यापार की लय को 'शब्द' द्वारा प्रकटकिया जा सका है तो वह नाटक की रंग-मंचीयता का द्योतक होगा । 'सूर्यमुख' में ऐसे अंशों को उन स्थानों पर लक्ष्य किया जा सकता है जहां नाटकीय चरित्र आन्तरिक तनाव-प्रेम, भय, संशय या विद्रोह के मध्य से गुजर रहे होते हैं । यहां नाटकीय कार्य अभिनेता और प्रेक्षक के मध्य एक तनावपूर्ण अन्तश्चेतना के प्रवाह को जन्म देते हैं जिससे नाटक रुचि के स्तर पर प्रेक्षकों से जुड़ता है । शब्द द्वाराइस अन्तर्हित प्रवाह का संकेत प्राप्त होता है । दूसरे शब्दों में शब्द इस इस अन्तर्लय को अभिव्यक्ति प्रदान करता है । यहां शब्द की दोहरी उपयोगिता प्रकट होती है- वह केवल विचारों के वहन का साधन बनकर ही प्रकट

नहीं होता प्रत्युत वह रंगमंच पर एक सहज जीवन की शैली का भी नियामक होता है । रंगमंच के इस जीवन से प्रेक्षक को भी उत्साह, जीवन और थ्रिल मिलती है और इस प्रकार वह मात्र प्रेक्षक न रहकर अभिनेता की प्रत्येक क्रिया का सहभागी बन जाता है । इस तथ्य को पिरेण्डेलो ने भी स्पष्ट किया है -"But he (the playwright) doesn't begin to think that he should do just the opposite, that art is life, not a series of ideas. Art dies when it is based on an abstract idea or fact, when an authour rationally and laboriously selects the images that will serve as symbols of some more or less philosophical conclusion. A play doesn't create people, people create a play. So first of all, one must have people - free, living, active people."[1]

निश्चय ही यह जीवन जो नाटक प्रेक्षक को सम्प्रेषित करना चाहता है, शब्द द्वारा प्रदान किया जा सकता है ।

जैसा कि ऊपर उल्लेख है, 'सूर्यमुख' में आन्तरिक तनाव की अभिव्यक्ति में शब्द की अहम भूमिका रही है, ऐसे अंशों को विवेचित किया जा सकता है -

प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में दुर्गपाल और साम्ब के सम्वाद नाटकीय चरित्र के आन्तरिक तनाव को प्रदर्शित करते हैं । यहां शब्द इस तनाव को प्रेक्षक तक पहुंचाने में सेतु का कार्य करता है । दुर्गपाल के ये शब्द द्रष्टव्य हैं- 'रात के सन्नाटे में काल समुद्र का जल जब चीत्कार करता है तब ऐसा लगता है कि काले जल का एक कबन्ध दुर्ग की इन सीढ़ियों और मीनारों पर टहलने लगता है । तब यह दुर्ग कांपता है और ये सीढ़ियां तब इस तरह डूबने उतराने लगती हैं जैसे वह समुद्र यहां तक बढ़ आया हो।---मुझे लगता है, समुद्र का वह काला जल, सहस्त्र जिन्हाओं वाले सर्प की तरह की तरह इस दुर्ग में किसी को ढूंढ़ता है ।[2] यहां सन्नाटे' शब्द में दुर्गपाल की

१- The theory of modern stage / 'Spoken-action' by Luigi Pirandello P. 155.

२- सूर्यमुख- पृ० १०-११

स्थिति को लक्ष्य कर एक सर्वग्राही निराशा का बोध तो है ही, उस काल-रात्रि की भयावहता की भी व्यंजना है जिसमें प्रलय अपनी सम्पूर्ण बला बल के साथ अनिश्चय और भय का संचरण करता है । इस शब्द की नाटकीय सार्थकता का अधिक स्पष्ट हो जाती है जब उसका सर्वथा विपरीत 'चीत्कार' शब्द प्रयुक्त होता है । शब्दों कीयह विपर्यय नाट्य- प्रभाव को दो विपरीत स्वरों के संयोजन का सा प्रभाव देता है ।'काले जल का कबन्ध' द्वारिका के विनाश को बिम्बात्मक बोध प्रदान करता है जो 'काले ' और 'कबन्ध' शब्दों से एक अशुभ अघट की सूचना देनेवाला है । इस कबन्ध का रात के 'सन्नाटे ' में काल समुद्र की ल चीत्कार के मध्य कबन्ध का टहलना ' प्रेक्षकों को एक रोमांचक अनुभव देता है । यह एक बिम्बात्मक स्थिति है जिन्हें 'मोटिफ्स' के द्वारा उभारा जाकर अपेक्षित रंग-प्रभाव उत्पन्न किया जासकता है । सहस्त्र जिन्ह्वाओं वाले 'सर्प ' में एक मिथकीय-बोध है जो नाटक के 'मूड' में प्रच्छन्न अभिशाप की व्यंजना करता है । 'किसी को ढूंढता' एक रहस्यात्मक स्थिति है और प्रेक्षकों को वैचारिक उत्तेजना प्रदान करती है ।

प्रथमअंक के दूसरे दृश्य में नागकुण्ड की पहाड़ी में आत्म-निर्वासित प्रद्युम्न की मन:स्थिति की व्यंजक यह अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है-'सभी सोचते हैं, सारा कारण अकेली वही वेनुरती है पर सच यह है कि मूल मैं हूं । और मेरे इस प्रत्यक्ष मूल में भी पता नहीं और कितना क्या क्या है? एक मैं इस मुखौटे के भीतर, एक इसके बाहर ! एक द्वारिका समुद्र तट पर, दूसरी द्वारिका मेरे भीतर-मन के भयानक समुद्र में डूबती हुई । तुम सब इसे क्या जानोगे व्यासपुत्र ? तुम सब इन दुनियां को केवल दो ही रूप में देखते हो- मंगल, अमंगल, पाप-पुण्य, विजय और पराजय !----आओ, मैं तुम्हें दिखाता हूं, व्यासपुत्र ! जो पहाडियां तुम्हारे लिये अन्धी हैं---देखो, इनमें विना बादल के हर क्षण बिजली चमकती है- बादल गरजते हैं और मेरी शत-शत द्वारिका यहां हर क्षण डूबती है ।[१] प्रद्युम्न का यह कथन नाटक के उन अंशों में से एक है जो

१- सूर्यमुख- पृ० २०

है जो भाषायी काव्य द्वारा नाटकीय काव्य को जन्म देते हैं । निस्संदेह ये अंश नाटक को रोमानी बनाते हैं, छायावादी गद्य शैली की ओर संकेत करते हैं किन्तु इनकी नाट्यवन्त भंगिमा इसे रंगमंचीय सन्दर्भ प्रदान करती है । ये नाट्यवस्तु भंगिमाएं और कुछ नहीं, चरित्र और घटनाओं के सापेक्ष वह कार्य व्यापार है जो भाषा के माध्यम से प्रकट होता है । उपर्युक्त उद्धरण में प्रद्युम्न की मन:स्थिति का चित्रण है । द्वारिका के विनाश को वह स्वयं के अन्दर भी अनुभव करता है- शत-शत द्वारिका का डूबना उसकी आन्तरिक करुणा को व्यक्त करता है । यह आन्तरिक वेदना जिस कौशल से बाह्य-परिस्थितियों के साथ मेल खाती है, उसका चित्रण ही वह मुख्य वस्तु है जो सम्वाद की आन्तरिक लय का निर्माण करती है । 'एक मैं इस मुखौटे के भीतर, एक इसके बाहर', 'एक द्वारिका समुद्र-तट पर, दूसरी द्वारिका मेरे भीतर-मन के भयानक समुद्र में डूबती हुई' में निहित ,'अन्धी पहाड़ियों में बिना बादल के हर क्षण बिजली चमकना' में प्रच्छन्न पैरेडाक्स और 'मंगल-अमंगल, पाप-पुण्य, विजय-पराजय से भिन्न चिन्तन की त्रिआयामीयता- वे तत्व हैं जो नाटक के कार्य को द्वन्द्वात्मक बनाते हैं- फलत: भाषा की प्रकृति भी द्वन्द्वात्मक बन जाती है । इसी कारण नाटक की उक्त भाषा रोमानी होने पर भी नाट्य-धर्मी सिद्ध होती है । व्लैंक-वर्स के प्रयोग इसे अतिरिक्त लोच प्रदान करते हैं ।

प्रद्युम्न को वेनुरती द्वारा प्रदान प्रेरणा की अभिव्यक्ति में भी ऐसी ही दोहरी काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं।-'तुम्हें केवल द्वारिका में प्रकट होना है, फिर सारे अप्रकट तुम्हारे साथ होंगे । तुम गरुड़ की तरह यहां से उड़ो, मैं गरुड़ी की तरह तुम्हारे पंख में समाकर इस अन्धेरे आकाश को उषा-रंजित करूंगी । इन पहाड़ियों पर कौंधती हुई बिजली के तिनकों से मैं उस नगर में घोंसला बनाऊंगी जहां हमारे असंख्य गरुड़ शिशु पंख खोलेंगे ।' प्रकट।अप्रकट, गरुड़।गरुड़ी,अन्धेरे आकाश।उषारंजित में विरोध के मध्य संघर्ष की स्थिति कार्य की द्वन्द्वात्मकता के जन्म का कारण बनती है । यही शब्दों की नाट्यगत सार्थकता है ।'कौंधती पहाड़ियों पर बिजली के

तिनकों से घोंसले बनाने का संकल्प` एब्स्ट्रेक्ट बिम्बों में छिपी एक वृहत् नाटकीय ईहा की ओर संकेत है । वेनुरती के इस आशावाद के विपर्यय में द्वारिका की विषम परिस्थितियों की एक लम्बी यात्रा है । इस अर्थ में वेनुरती का उक्त कथन रोमानीपन की पृष्ठभूमि में भी यथार्थ की तीक्ष्ण अनुभूति देता है और `अन्धेरे -आकाश`, `पहाड़ियों पर काँपती हुई बिजली के तिनके `, इस कठिन-यथार्थ को प्रकट करने वाले शब्द व वाक्यांश हैं ।

वेनुरती और प्रद्युम्न के प्रेम के मध्य संशय की स्थिति को व्यक्त करने में भाषा की शक्ति के प्रयोग का एक और उद्धरण द्रष्टव्य है -`

प्रद्युम्न- कृष्ण की जगह यदि मैं होता----

वेनु- कृ-- (हंस पड़ती है)

प्रद्युम्न- बन्द करो यह निर्लज्ज हंसी ! जरा हमारे सामने बैठा है ।

वेनु- तो------!

प्रद्युम्न- हट जाओ यहां से !

वेनु- कृष्ण की जगह यदि तुम होते तो-----!

प्रद्युम्न- (दौड़कर क्रोध से पकड़ लेता है) निर्लज्ज ! विश्वासघातिनी ।(नीचे गिरा देता है।) वे मेरे पिता थे । उनका भागवत-प्रेम---

वेनुरती- किसका ?

प्रद्युम्न- अन्त:पुर में छिपकर जिसकी मृत्यु पर सबसे अधिक विलाप तुमने किया था। क्योंकि तुम मूर्त्तिवत् मौन चुप थीं उस रात। तुम्हारी आंखों से एक भी आंसू नहीं गिरने पाया था।आह ! कृष्ण का अंतिम प्रेम ![१]

वेनुरती के प्रति संशय को प्रकट करने में प्रद्युम्न के वाक्यांश`बन्द करो यह निर्लज्ज हंसी`,`हट जाओ यहां से` उसके अन्तर की घृणा(जो एक आदिम संस्कार का

१- सूर्यमुख- पृ० ४१

परिणाम है) को व्यंजित करते हैं । तत्पश्चात् 'उनका भागवत प्रेम----' कहकर चुप हो जाना प्रद्युम्न के भावावेश में शब्दों को चबा जाने की स्थिति का द्योतक है । 'एक भी आंसू ' वेनुरती के प्रति प्रद्युम्न के अविश्वास की ही अभिव्यक्ति करता है । आह ! कृष्णा का अंतिम प्रेम खण्डित भाषा (Fragmented - language) का एक उपयुक्त उदाहरण है और वेनुरती के प्रतिव्रता होने की 'सच्चाई' पर एक मारात्मक व्यंग्य है ।

प्रद्युम्न का संशय वेनुरती में अपने विश्वास को दृढ़ बनाने के लिये अक्सर प्रदान करता है । इसी कारण प्रद्युम्न के संशय के साथ वेनुरती का विश्वास टकराता है । सम्वादों की यह द्वन्द्वात्मकता नाटक को लयात्मक संयोजन में बांधती है । वेनुरती का यह कथन द्रष्टव्य है- 'विश्वास करो, तुम्हीं- केवल तुम्हीं मेरे प्रथम और अंतिम हो। ------ मेरी ओर देखो, इस महल में पांव रखते ही, घूंघट उठाते ही सबसे पहले मैंने तुम्हीं को देखा था । उस क्षण कृष्णा के हाथ का वह कमल सहसा नीचे गिर गया था, तुमने तब किस शक्ति और विश्वास से उस कमल को उठाकर मेरी वेणी में गूंथ दिया था । यहां शब्दों की स्वतंत्र इकाई महत्वपूर्ण नहीं है प्रत्युत वे अन्य ~~शब्दों की स्वतंत्र इकाई महत्वपूर्ण नहीं है~~ वे अन्य शब्दों के संयोजन के साथ अथवा सापेक्षता के साथ सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं । 'प्रथम' और 'अन्तिम' के मध्य की मानस -यात्रा 'विश्वास' की यात्रा है जिसे वेनुरती स्थापित करना चाहती है । प्रथम, अन्तिम और विश्वास- ये तीनों शब्द संयोजित होकर लय अथवा नाद की उत्पत्ति करते हैं । घूंघट' में एक बिम्बात्मक बोध है और 'कमल के हाथों से सहसा गिर जाने' के कथन से यह बोध अधिक गहराई के साथ प्रकट होता है । वेनुरती और प्रद्युम्न के भावों की अनुगूंज इन शब्दों के माध्यम से होती प्रतीत होती है । यही अनुगूंज शब्द-चित्रों को जन्म भी देती है । नाटक की दृश्य परिकल्पना इन्हीं शब्दों द्वारा मूर्त होती है । दूसरी ओर 'शक्ति' और 'विश्वास' जैसे शब्द प्रद्युम्न के चरित्र को उभारने वाले शिल्पगत आयाम के रूप में समक्ष आते हैं । कमल के पुष्प

को वेणी में गूंथने को एक कायिका कार्य-चेष्टा के रूप में देखा जा सकता है । निश्चय ही, यह एक काव्यगत स्थिति है जिसे नाटकीय अर्थ देने का प्रयास किया गया है ।

भाषा द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का एक अन्य स्थान वह है जहां प्रद्युम्न सीढ़ियों पर सोये हुए जरा को देखता है और पृष्ठभूमि के समुद्र गर्जन के बीच जरा के पैरों पर बैठ आन्तरिक तनाव की वेदना में चिन्तन करता है ।----[१] यहां प्रद्युम्न की वेदना और उसका आन्तरिक तनाव 'शब्द की अपूर्णता में ही सार्थक नाट्यवत्ता प्राप्त करके कार्य और दृश्य में रिप्लेस हो जाता है- (प्रद्युम्न बैठकर जरा के उस तलवे से अपनी आंखें बांध लेता है । पृष्ठभूमि में गरजते हुए समुद्र का कोलाहल छा गया है 'सावधान'-'सावधान के मद्धिम स्वर उसमें कौंध रहे हैं।) - कार्यत्व के इस सहयोग के कारणही नाटक में भाषागत जटिलता नहीं आने पाती ।

नाटक के दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में वेनुरती का आत्म-भय-लज्जा और प्रेम के सागर में डूबते उतराते हुए बार-बार आत्म ग्लानि में आकण्ठ डूब जाने की अनुभूति वेनुरती के आन्तरिक तनाव को अभिव्यक्ति देती है । यह द्वन्द्व वेनुरती के इस कथन से प्रकट होता है-'मेरा यह रूप-सौन्दर्य, इसे निहारकर मैं लज्जित हो जाती हूं । इसे जितना ही तोडना चाहती हूं, मेरी लज्जा उतनी ही बढ जाती है। 'तोड़ना' और 'बढ़ना' दो विभिन्न मानस-स्थितियां हैं और इनकी परस्पर योजना कार्यमूलक द्वन्द्व का कारण बनती है । भाषा इसी द्वन्द्व को अभिव्यक्ति देने हेतु यहां सेतु बनी है । 'तोड़ना' और 'बढ़ना' जैसी विरोधी स्थितियां ही वेनुरती के आगामी कथनों में विस्तारपूर्वक प्रकट होकर सामने आती हैं ।- 'मेरे अन्तःपुर के द्वार उनके लिये सदा खुले रहते हैं पर वे द्वार पर दस्तक देकर लौट जाते हैं । मैं नित्य उनके लिये अपने द्वार पर दीपावली सजाये बैठी रहती हूं पर

१- चन्दमुख-पृ०७२

अन्त:पुर में उनके पैर रखते ही जैसे उसी कमल-कोश से बादल और बिजली तड़प उठती है और मेरे अन्त:पुर के सारे दीप बुझ जाते हैं । धर्म से पुत्र होने के उपरान्त वेनुरती

(बढ़ना)

प्रद्युम्न को प्रेम करना चाहती है लेकिन लज्जा का दंश उसे बार-बार काटता है । `विपरीत` होने की स्थिति ही उसके अन्तर्द्वन्द्व का कारण है और इसकी अभिव्यक्ति में भाषा सेजेस्टिव एवं स विरोध-धर्मी बनकर प्रयुक्त होती है । इसके लिये भाषा में प्रयुक्त निम्नांकित शब्द एवं वाक्यांश उल्लेखनीय हैं-`अन्त:पुर के द्वार`, `द्वार पर दस्तक`,`कमल-कोश, बादल और बिजली`,`अन्त:पुर के सारे दीप बुझ जाते हैं`,`इस जन्म में वह हेमन्त और पावस एक साथ हैं`,`लज्जा का सर्प कुण्डली मारकर विष दंश करता है`,`परिरम्भ से कांप उठती हूं`,`हमारा विश्वास ही हमें सन्देह में डालता है, हमारी शक्ति ही हमें निर्बल बनाती है`,`तीन भाग अन्धकार, एक भाग प्रकाश`,`मेरे माथे पर उन्हीं का केतु है जिस पर मछली तैर रही है`,`अन्तस के दर्पण से लड़ना ही होगा`,`दर्पन में मैंने देखा, घायल कृष्ण के उसी पीले मुख को मेरे प्रद्युम्न निहार रहे हैं`,`बुझा दो इन दीपकों को ताकि यहां कोई छाया न पैदा हो ।`

अंतिम रूप से भाषा नाटकीय तनाव को तब अभिव्यक्ति देती है जब अर्जुन द्वारा वेनुरती को बाध्यकर हस्तिनापुर ले जाया जाता है । यहां नाटकीय परिस्थितियों में प्रद्युम्न और वेनुरती के मध्य संशय और विरोध उभरता है । इससे नाटक में चरम गति आ जाती है । प्रद्युम्न की वेनुरती के प्रति अविश्वास इन शब्दों में फूट पड़ता है- `पहले मैं संशय था , आज घृणा हूं । तूने मेरे संग विश्वासघात किया । मुझे युद्ध में झोंककर स्वयं भाग निकली । मैं जब विजयी हो रंगमहल में आया, उसे सूने राजमहल में तूने मुझे पराजित किया ।छल, झूठ !!` प्रद्युम्न के घृणा व अविश्वास से भरे वचनों को वेनुरती अपनी आस्था द्वारा काटती है । फलत: सम्वादों में आरोहावरोह उत्पन्न होता है ।

नाटकीय शब्द की एक महत्वपूर्ण उपयोगिता उसके अन्दर `इल्यूजन` उत्पन्न करने की शक्ति है । यह इल्यूजन अनेक शब्देतर माध्यमों से प्रकट किया जा सकता है लेकिन अन्ततः इनकी सम्भावना का स्त्रोत भाषा और उसमें प्रयुक्त शब्द ही होते हैं । इन शब्देतर माध्यमों में नाटक में निहित प्रकाश, ध्वनि व दृश्यात्मकता (जिसका विवेचन ऊपर भाषा के सन्दर्भ में हो चुका है) का महत्व है ।

नाटक के संपूर्ण अध्ययन के पश्चात मानस पर एक सामान्य प्रभाव उत्पन्न होता है, तत्सम्बंध में एक रंग-बिम्ब(colour-image) बनता है । `सूर्यमुख` में व्याप्त विप्लव, विभीषिका और अन्धकार में डूबी द्वारिका नगरी मंच पर जिस प्रकाश की सम्भावना उत्पन्न करती है, वह है काले और नीले रंग का गहरा प्रकाश जो पृष्ठभूमि में फैलकर नाटक के विचार-तत्व को उभारने में सहायक होता है और चरित्रों के मनःस्थिति से को प्रकाशीय माध्यम से स्पष्ट करता है । भाषा इस रंग-कल्पना को स्थान-स्थान पर विस्तार प्रदान करती है- `रात के सन्नाटे में काल-समुद्र का जल-जब चीत्कार करता है, तब ऐसा लगता है कि काले जल का एक कबन्ध दुर्ग की इन सीढ़ियों और मीनारों पर टहलने लगता है ।

\+ \+ \+

`आओ, मैं तुम्हें दिखाता हूं, व्यासपुत्र । जो पहाड़ियां तुम्हारे लिये अन्धी हैं--- देखो, इनमें बिना बादल के हर क्षण बिजली चमकती है- बादल गरजते हैं और मेरी शत-शत द्वारिका यहां हर क्षण डूबती है ।

\+ \+ \+

`यह किसका रथ इस अन्धकार को चीरता हुआ इधर बढ़ा चला आ रहा है? एकाएक इन पहाड़ियों में इतनी बिजली कहां से कौंधने लगी ?`

\+ \+ \+

`तुम्हारे इस मुख को देखने के लिये द्वारिका के अन्धकार में छिपे हुए देवता तुम्हारा रास्ता देख रहे हैं ।`

\+ \+ \+

`मेरेसूर्य को इस मुखौटे के अन्धकार से बाहर आना ही होगा`

+ + +

`पर मैं तुम सबका मुख देखता चाहता हूं । अन्धकार में डूबता हुआ तुम्हारा निर्दोष मुख कहता है, हमें प्रकाश दो, हमारा प्रात:काल लौटाओ ।

प्रात:काल लौटाने की प्रार्थना अन्तत: प्रेम के नवीन मन्वन्तर की स्थापना द्वारा सफल होती सिद्ध होती है । फलत: प्रकाश नीले गहरे रंग से क्रमश: विरल होते जाकर उज्ज्वल रंग में परिवर्तित होने की अपेक्षा रखता है । नाटक की इस रंग-कल्पना के अनुरूप ही दृश्य और उसमें प्रयुक्त वस्तुओं अथवा ध्वनिगत प्रभावों का उपयोग किया जाता है- पहाडों पर चमकती बिजली, बादलों का गरजना और मुखौटे में छिपा प्रद्युम्न का चेहरा, अर्जुन की हस्तिनापुर की यात्रा में अजीब सी आकृति का वृक्ष ऐसे ही प्रयोग हैं । रंग, ध्वनि और प्रकाश से निर्मित नाटक के वस्तुगत मूड के अनुसार वातावरण को स्थान-स्थान पर प्रयुक्त संगीत-`परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा` द्वारा गहराया गया है । रंग, ध्वनि, प्रकाश एवं संगीत के बहु-आयामों से नाटक हारमनी प्राप्त करता है । फलत: रंगमंचीय लय का नियोजन होता है । यह सभी एक ध्वनि में आबद्ध है और रंग नाटक की अनिवार्यता है।

— — —

`सूर्यमुख` में शास्त्रीय और लोकधर्मी प्रवृत्तियों का निर्वाह हुआ है । मुखौटे और मुखौटे नृत्य का प्रयोग ठेठ लोकधर्मी परम्परा से लिया गया प्रयोग है । लेकिन उसे

केवल प्रयोग के लिये नाटक में प्रयुक्त नहीं किया गया है प्रत्युत उससे चरित्र की मन: स्थिति और वस्तुगत संवेदना को भी प्रकट किया गया है । मुखौटा आत्म-निवासिन का कारण और संकेत बनकर सामने आया है । दूसरी ओर शास्त्रीय नाट्य-रूढियों का निवाह भी देखने में आता है । मंच-योजना में दृश्यों में तारतम्य है- फलत: सम्पूर्ण मंच संस्कृत मंच की तरह दो भागों में विभाजित हो जाता है।-रंग-शीर्ष और रंग-पीठ । ये क्रमश: आगे और पीछे के भागों में होते हैं और दृश्य-परिवर्तन में सुविधाजनक होते हैं । 'सूर्यमुख' में इसी क्रम में दृश्य-योजना का प्रावधान है ।

पहला अंक-१) पहला दृश्य- (द्वारिका का राजदुर्ग)- रंगपीठ पर (पीछे)
२) दूसरा दृश्य(नागकुण्ड की पहाडी)- रंगशीर्ष पर(आगे)
३) तीसरा दृश्य- (द्वारिका का राजदुर्ग)- रंगपीठ पर (पीछे)

दूसरा अंक-१) पहला दृश्य- (वेनुरती का कक्ष)- रंगशीर्ष पर(आगे)
२) दूसरा दृश्य-(दुर्ग)- रंगपीठ पर (पीछे)
३) तीसरा दृश्य-(दुर्ग का प्रांगण)-रंगपीठ पर(पीछे)
४) चौथा दृश्य-(दुर्ग का प्रांगण)-रंगपीठ पर(पीछे)

तीसरा अंक- पथ(रंगशीर्ष(आगे)

तीसरे अंक में यात्रा का दृश्य संस्कृत नाटकों के कक्षा-~~मि मिस~~ निरूपि के शिल्प की सम्भावना प्रस्तुत करता है । यह यात्रा प्रसंग असत्याभासी प्रतिनिधान रंग-रूप का उदाहरण है । मुखौटे का प्रयोग भी इसी काम को संकेतित करता है ।

संस्कृत नाटकों की शैली में ही कतिपय अर्थोपक्षेपकों के प्रयोग इस नाटक में प्राप्त होते हैं- (१) विष्कम्भक-प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में भिखारियों द्वारा प्रद्युम्न व वेनुरती के तथाकथित अनैतिक प्रणय-सम्बंधों की सूचना इन निम्न पात्रों द्वारा विष्कम्भक नामक सूच्य दृश्य की योजना कही जा सकती है । नाटक के प्रारंभ में ही

इसका प्रयोग शास्त्र सम्मत है ।

(२) अंक-मुख-अंक अथवा दृश्यान्त में आनेवाले अंक अथवा दृश्य की सूचना अंक मुख में दी जाती है । 'सूर्यमुख' में ऐसे दो प्रसंग अंक मुख को संकेतित करते हैं -

वेनुरती- मेरे सूर्य को इस मुखौटे के अन्धकार से बाहर आना ही होगा ।सारी द्वारिका हमारे विरुद्ध षडयंत्र रच रही है । उठो, उन्हें चुनौती दो ताकि हमारे अस्तित्व को अर्थ मिल सके । तुम्हें केवल द्वारिका में प्रकट होना है फिर सारे अप्रकट तुम्हारे साथ होंगे । तुम गरुड़ की तरह यहां से उड़ो , मैं गरुड़ी की तरह तुम्हारे पंख में समाकर इस अन्धेरे आकाश को उषा-रंजित करूंगी ।-----

वेनुरती की उक्त भव्य 'ईहा' आगामी अंक में सफलता की ओर अग्रसर होती है । विरोध के मध्य आत्म-साक्षात्कार और 'असंख्य गरुड़ शिशुओं के पंख खोलने ' की उद्भावना अन्तत: यादवी-शिशु के जन्म के रूप में फलीभूत होती है ।

व्यासपुत्र- तू इस राजमुकुट के सर्वथा अयोग्य है ।

साम्ब- एक ही क्षण में तेरी भाषा बदल गयी न ! (हंसता है) यह राजमुकुट उसी का है जिसने इसे ठीकरे की तरह त्याग दिया । इसे ले जाकर मैं उसी को दूंगा !

साम्ब इसी राजमुकुट को आगामी अंक में वेनुरती को सौंप देता है और अन्तत: वह प्रद्युम्न को प्राप्त होता है ।

'सूर्यमुख' संवेदना, वस्तु और रचना शैली की दृष्टिसे लाल के अब तक के नाटकों की तुलना में प्रयोगशील कम है, पारम्परिक अधिक- लेकिन पारम्परिक रचना शिल्प स्वयं निरपेक्ष नहीं है- उसे मिथक द्वारा आधुनिकता-बोध प्रदान किया गया है । भाषा इस नाटक की एक अन्य प्रमुख शक्ति है जो कल्पनाशीलता और स्पोकन वर्ड की लयात्मकता का निर्वाह करने में सफल सिद्ध हुई है ।

(२) कल्की :

मिथकल नाटकोंकी परंपरा में 'कल्की' लाल की 'सूर्यमुख' के बाद अन्य देन है । इस नाटक का प्रथम संस्करण नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली द्वारा सन् १९६९ में प्रकाशित हो चुका था । इससे पूर्व ही पहला प्रस्तुतीकरण 'सम्वाद' द्वारा आइफैक्स थियेटर, नयी दिल्ली ११ मई १९६८ को हो चुका था ।

प्रकृत्यर्थ यह नाटक 'सूर्यमुख' के समान आत्म-साक्षात्कार की परम्परा का नाटक है । लेकिन अपनी सम्पूर्णता पर यह नाटक प्रेम के किसी नये मन्वन्तर की सूचना नहीं देता प्रत्युत अकर्मण्यताजन्य निराशावाद के अन्धकार में डूब जाता है। यथास्थितिवाद पर अंगुली रखने के उपरान्त यह नाटक उसे तोड़ नहीं पाता । यही इस नाटक में छिपे जीवन-यथार्थ की नियति है । 'स्व' और 'परिवेश' का साक्षात्कार यहां आत्म-हनन का कारण बनता है जिसे नाटक में प्रश्न करने वाले हेरूप की मृत्यु के रूप में दर्शाया गया है ।

नाटक छठे दशक की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर रचा गया है जब शासन में राजनीतिक यथास्थितिवाद अपने संपूर्ण ओज पर था । कांग्रेस-सरकार में वरिष्ठ नेताओं की स्थिति 'प्रभु' की हो चुकी थीऔर जनता का विश्वास इन नेताओं के प्रति अन्धविश्वास तक व्याप्त हो गया था । यह राजनीतिक अनान्याश्रय का भाव प्रजातंत्र के एक प्रमुख अस्त्र प्रचार-साधनों द्वारा था और प्रथम बार यह तब टूटा जब कांग्रेस के वरिष्ठतम नेता पं० नेहरू का निधन हुआ । यह निधन भारतीय जनता के लिये जैसे प्रभु की मृत्यु सिद्ध हुआ और उसे अपने भावी नेतृत्व के प्रति एक सर्वग्राही निराशा होने लगी । कांग्रेस के लिये जनता की इस मनःस्थिति का लाभ उठाने का यह एक सुन्दर अवसर था । फलतः उसने नेहरू को एक अति-पुरुष बनाकर प्रकट करना प्रारंभ किया और उसी के द्वारा एक काल्पनिक स्वराज्य की अन्तहीन-प्रतीक्षा की भूल-भुलैया में जनता को बांध दिया । 'कल्की' में नाटककार तंत्र की

इस कूटनीतिक में आबद्ध भ्रमित जनता की दारुण स्थिति का चित्रण करता है । नाटक कैथीम का भीयही रूप है कि हर युग में कल्की की अपने अपने ढंग से प्रतीक्षा की जाती है और इस अन्तहीन प्रतीक्षा का लाभ शासन तंत्र अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखने में करता है । जनता जब जब शासन तंत्र द्वारा मानमर्दित होती है, संकटों से गुजरती है तो वह यह बसोचकर स्वयं को सान्त्वना देती है कि आने वाला समय सुखदायी होगा । शासक वर्ग जनता को भ्रमजाल में फंसाये रखने के लिये आनेवाले समय की खुशहाली की बात करता है । पंचवर्षीय योजनाएं, मास्टर-प्लान और बहुसूत्रीय कार्यक्रम शासन के हाथ के ऐसे ही अस्त्र हैं जो जनता के विद्रोह को दबाने और उन्हें प्रश्नहीन बनाने में सहायक होते हैं । ये ऐसी आकाशीय स्थितियां हैं जो पूर्ण नहीं होती, बस एक अयथार्थ वा काल्पनिक जगत की ओर हमें उठाकर फेंक देती हैं । हमें ऐसा प्रतीत होता है मानों हम उस सुन्दर युग की ओर बढ़ रहे हैं किन्तु यह केवल मृगतृष्णा ही होती है । यही मृगतृष्णा इस नाटक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक फैली हुई है जो अन्ततः निराशा के अन्धकार में क्रमशः डूब जाती है । नाटक में अक्कुलक्कोम नामक शासक ने स्वयं को एक शहीद प्रचारित किया है लेकिन अप्रकट में वही अवधूत के रूप में प्रजा को 'कल्की', अवतार की प्रतीक्षा में भ्रमित किये रखता है । प्रजा एक ओर अक्कुलक्कोम को एक महान दिवंगत शासक के रूप में देखती है और दूसरी ओर उसी द्वारा स्थापित परम्परा के शासक को उत्तराधिकारी के रूप में गद्दी पर बैठाना चाहती है । वह यह इसलिये भी कि उसकी दृष्टि में अक्कुलक्कोम एक बहुत बडा परमार्थी शासक जिसने हूणोंकी सेना से राज्य को बचाया था । अक्कुलक्कोम का पुत्र हेरूप अपने पिता के तंत्र को चुनौती देता है तो उसे विक्रमविहार भेज दिया जाता है जिससे वह तंत्र-साधना के रहस्य से परिचित हो सके । हेरूप इस थोपे हुए रहस्य ज्ञान को छोड़ फिर से भाग आता है और जनता को उसके 'स्थापित' के प्रति अन्धविश्वास से लड़ने की प्रेरणा देता है, उन्हें प्रश्नहीनता के ~~अन्धकार~~ अन्ध गटर से मुक्ति दिलाना चाहता है । शासक अक्कुलक्कोम (जो वस्तुतः मरकर भी जनता के मध्य प्रेत-रूप में स्थित है) इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर पाता है और हेरूप को शासन का विद्रोही सिद्ध कर मरवा डालता है । एक बार फिर प्रजा होने वाले कल्की

अवतारकी प्रतीक्षा में रत हो जाती है । उसके यथास्थितिपूर्ण जीवन में चेतना की जो हलचल हेरूप ने मचायी थी, वह फिर से शान्त हो जाती है । इस स्थिरता के साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है-(---सब लोग इधर उधर बढ़कर मानों उस स्वर का पीछा कर रहे हैं । और अन्त में वे सब आकाशपटी की ओर निहारते हुए मूर्तिवत् खड़े रह जाते हैं ।)[१]

'कल्की' में तंत्रकाल के परिवेश के माध्यम से आधुनिक जीवन-सन्दर्भों को प्रकट करने का प्रयास किया गया है । इसे डा० लाल ने 'नये की रचना' नाम दिया है । यह नया वास्तव में क्या है- वह तंत्रयुगीन परिवेश जिसे स्कुलफोम, हेरूप और तारा नामक चरित्रों के आस-पास बुना गया है अथवा वह तथ्य जिसे इस परि परिवेश के चित्रण द्वारा नाटककार प्रकट करना चाहता है । निस्संदेह दोनों ही महत्वपूर्ण है क्योंकि उनका सम्बंध अन्योन्याश्रित है । लेकिन नाटक में परिवेश का चित्रण कण्टेण्ट और वातावरण निर्माण- दोनों ही स्तरों पर इतना व्यापक और सघन है कि उसमें निहित अर्थ धुंधला जाता है । तंत्र साधना या शव-साधना के प्रसंग निहित अर्थ को स्पष्टत: प्रकट नहीं कर पाते । तांत्रिक प्रणालियां प्रथम व्याख्या की अपेक्षा करती हैं और तब आधुनिक जीवन सन्दर्भों की व्याख्या की । यह दोहरी दृष्टि की वह 'रहस्योदघाटन' है जो देखने, समझने और सोचने की पुनर्शक्ति देता है । इस रहस्योदघाटन के परिप्रेक्ष्य में नाटककार का उद्देश्य जीवनानुभवों को संस्कृति से जोड़ना और अबाध से मिलाना रहा है । निश्चय ही इस उद्देश्य की महानता में किसी सन्देह की गुंजायश नहीं है । लेकिन क्या जीवनानुभवों को अबाध से मिलाने वाला माध्यम तंत्रह तंत्र का लीन परिवेश स्वयं में अबाध और व्यापक जीवन-दृष्टि का बायस कहा जा सकता है ? तंत्र-साधना का जो रूप नाटक में प्रकट किया गया है वह हमारी सांस्कृतिक-थाती के रूप में किसी गौरवशाली परम्परा का निर्माण नहीं करता प्रत्युत सांस्कृतिक अवमूल्यन का प्रतिपादन करता है । जीवनानुभव को संस्कृति के इस विघटित चश्मे से देखने की प्रक्रिया नाटक को अबाध से जोड़ने की शर्त पूरी नहीं

१- कल्की- पृ० ५७

करती। हां, हैरूप का इस विघटित तंत्र-साधना के प्रति विद्रोह एक नवीन सांस्कृतिक परम्परा की स्थापना का प्रयत्न अवश्य कहा जा सकता है किन्तु हैरूप की असफलता नाटक को अबाध और संस्कृति से जोड़ने की बात को बेमानी सिद्ध कर देती है ।

कण्टेण्ट के स्तर पर कला-मूल्यों की निजी तलाश का जो रूप इस नाटक में देखने में आता है, वह इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है-

१-स्थापित का अस्वीकार- इसके लिये हैरूप जैसे चरित्र का सृजन किया गया है ।

२- प्रतिष्ठित की छाया से लोगों को बाहर लाने का साहस और उस साहस की सूली पर चढने की कीमत चुकाने का साहस-हैरूप ने प्रजा को अकुलद्दोम की छाया से बचाने का साहस तो किया है किन्तु स्वयं की जान देकर उसकी कीमत ही चुका पाया है । हैरूप का संघर्ष एक हारी हुई लडाई है जिसकी नाटक में प्रस्तुती नाटककार की यथार्थवादी दृष्टि की परिचायक है ।

३- स्थापित के अस्वीकार स्वरूप अन्तत: प्राप्त असफलता- तब भी हैरूप प्रजा के मध्य कतिपय प्रश्नों को छोड़ जाता है- रचनात्मक धरातल पर प्रश्नों का यह बीज-वपन नाटक के उद्देश्य को भावी सम्भावनाओं के द्वार तक खींच ले जाता है -

पहली स्त्री- तूने हमारी सन्तानों को महामारी, अकाल,युद्ध से मार-मार कर शव-साधना की !

दूसरी स्त्री- तूने सारे वृद्धों की हत्या करायी !

पहला कृषक- तूने झूठे प्रचार किये !

दूसरा कृषक- तूने विश्वासघात किये !

तीसरा कृषक- तूने भ्रम फैलाये ![१]

१- कल्कि-पृ० ५७

'कल्की' द्वारा उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये नाटककार ने 'मिथक' का प्रयोग किया है । कल्की अवतार का मिथक अपने साथ अनेक अवधारणाओं को समेट कर चलता है जो नाटक में स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हुई हैं । 'मिथक' के प्रयोग की अनिवार्यता के लिये नाटककार ने सबसे बड़ा कारण दिया है, रचना-प्रक्रिया की जटिलता । यह जटिलता नाटक के विषय पक्ष को त्रिआयामीय बनाने के कारण है । नाटककार का यह कथन उक्त तथ्य की पुष्टि करता है-'विशेषकर नाटक में जब कोई मिथक आ जाता है तो मिथक की शक्ति इतनी बढ़ती है कि उससे सहज ही इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य जैसे प्रकाशित हो उठता है । मिथक पुरा बिम्ब होकर त्रिआयामीय हो उठता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष, दृश्यगत जीवन में से अपना रूप पाता है ।'[१] इन त्रिआयामों में को निम्नांकित रूप में लक्ष्य किया जा सकता है-

(१) अकुलक्षोम, हैरूप और प्रजा के इर्द-गिर्द घूमती तंत्र-साधना और उनसे कथागत परिस्थितियां अतीतकालीन हैं । इस अतीत को नाटककार केवल एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त करता है जिससे उसका आधुनिक सन्दर्भ प्रकट हो सके ।

(२) यह आधुनिक सन्दर्भ क्या है- इसे स्वयं नाटककार ने संकेतित किया है- 'एक ओर मेरे समक्ष संक्रान्तिकालीन नवीं-दसवीं शताब्दी की लोक चेतना अपने चेतनात्मयपरक बिम्बों में उभर रही थी और उसके बीच से अब तक प्रवहमान कालखण्ड तथा अनेक ऐसे व्यक्तित्व अपनी विशिष्टताओं तथा सामान्य स्थितियों को समेटे कुकुरमुत्तों की तरह सिर उठा रहे थे कि मुझे उन्हें नकारना अन्याय सा लगने लगा । वे मानों मुझसे कहते थे कि क्या हम तुम्हें केवल मध्यकालीन लगते हैं ? क्या हम आज भी तुम्हारे चारों ओर नहीं बिखरे हुए हैं ?'[२]

\+ \+ \+

१- कल्की-रंगमंच-एक प्रसंग-पृ० ७-८

२- वही- पृ० ६-७

'अब तक का भारतीय इतिहास बताता है, हर युग में लोग अपने अपने ढंग से किसी न किसी कल्की की प्रतीक्षा करते रहे हैं । हर शासक, नियन्ता और अधिपति को अपने अधिपति को अपने अस्तित्व के लिये किसी ऐसे ही मिथक का सहारा लेना पड़ा है । बल्कि इतना ही नहीं, उसकी स्थिति अक्षुण्ण रहे, इसके लिये आवश्यक होगा कि वह लोगों को उसी बहाने प्रश्नहीन कर दे । सोचना, विचारना, शंका करना, यहां तक कि अनुभव करना- वह व्यक्तिगत विषय न रहने दे । वह यथार्थ से लोगों को अयथार्थ की ओर मोड़ दे । वह प्रत्यक्ष से लोगों को अप्रत्यक्ष की ओर हांक दे तथा उनकी गणना करता रहे । मध्य-युग में जो तंत्र-साधना के नाम पर शव-साधना थी, वही आज प्रजातंत्र के नाम पर मतगणना नहीं है क्या ? शव-साधना कब पूरी मानी जाती है? जब औंधे पड़े हुए शव का मुख, उसकी पीठ पर लदे हुए साधक की ओर घूम जायेगा और जब वह जीवित मनुष्य की भांति उससे बात करेगा । क्या यह आज के राजनीतिक परिवेश में पड़े हुए मनुष्य के लिये सच नहीं है ? '[१]

\+ \+ \+

'अकुलशील एक सामन्त है, शासक है । हूणों की सेना किसी भी विजेता, आक्रमणकारी की सैन्य शक्ति हो सकती है । विक्रमविहार प्रतीक है उस शिक्षण पद्धति का जहां जागरूक विद्यार्थी को केवल प्रश्नहीन बनाया जाता है ।----'[२]

(३) अतीत द्वारा आधुनिक सन्दर्भों की ओर जो संकेत नाटककार ने किये हैं उनकी भावी में क्या सार्थकता है, क्या नाटक भविष्य को प्रकाशित करता है? इस सम्बंध में कहा जा सकता है कि नाटक में जो कल्की अवतार की कल्पना की गयी है, वह एक

१- कल्की- पृ० ६

२- वही- पृ० १४

एक ऐसे सुन्दर भविष्य की ओर संकेत है जो अनिश्चित है और प्रजा के लिये वर्तमान के दु:खों को भुलाने का एक काल्पनिक प्रत्यय है । इस अनिश्चय के कारण ही सम्भवत: नाटक के भविष्य के प्रति आश्वस्त नहीं है-`सुनो---सुनो । नगर की सूनी पीठ पर बैठ जाय ।--- यदि तुममें से कोई उसे नहीं पकडेगा तो कोई और आकर उसे पकड़ लेगा और उस सूनी पीठ पर बैठ जायेगा----सुनो----सुनो---- सुनो ।`[१] भविष्य के प्रति यह अविश्वास नाटक को निराशावादी बनाता है । उपर्युक्त कथन की तुलना यदि `सूर्यमुख` के इस कथन से की जाय तो दोनों नाटकों में भविष्य के प्रति नाटकीय चरित्रों का विश्वास या अविश्वास स्पष्ट प्रकट हो जाता है- `मेरे अमृत-पुत्र ! मैं तुझे इसी शिशु से जीवित रखूंगी । तेरी जययात्रा पर्वत के जिस शिखर पर टूटी है, वहीं से यह यात्रा अब प्रारम्भ होगी । जिस द्वारिका में मैंने तुझे जन्मदिया था, इस शिशु को लिये हुए मैं उसी नगर में वापस जाऊंगी ।`[२]

नाटक में उपर्युक्त त्रिआयाम प्रकट करने के लिये नाटककार ने भारतीय जीवनास्थाओं को उस भूमि को ग्रहण किया है जो अभी तक प्रतीक्ष्य है । कलियुग की समाप्ति पर कलि के कलंकों को मिटाने वाला भगवान विष्णु का अवतार कलंकी (अथवा कल्कि) एक अयथार्थ सच्चाई है । सच्चाई इसलिये क्योंकि वह हमारी धार्मिक आस्थाओं या विश्वासों की केन्द्रभूमि है । इसी कारण उसकी अयथार्थता भी एक वस्तुगत सत्य को प्रकट करने वाली है । `कान्क्रिट ` की तुलना में `एब्स्ट्रेक्ट` को व्याख्या की आधारभूमि बनाने में एक बड़ी सुविधा यह होती है कि उसके द्वारा चिन्तन को विस्तृत क्षेत्र और दिशा प्राप्त होती है । कलंकी अवतार भी ऐसे ही व्यापक चिन्तन को गति देता है । इस एब्स्ट्रेक्ट मिथ के साथ साथ शव-साधना जैसे पुराबिम्ब भी चिन्तन को विशद क्षेत्र प्रदान करते हैं । लेकिन जहां इनसे विशाल क्षेत्र मिलता है वहां चिन्तन का जो केन्द्रीय धरातल है, उससे च्युत हो जाने अथवा उपेक्षित हो

१- कलंकी- पृ० ५७

२- वही- पृ० १२२

जाने का भी भय रहता है । प्रस्तुत नाटक में 'कल्की' अवतार की रचनात्मक धरातल पर व्याख्या, उसके कारण प्रजा में मनोबल के अभाव का जन्म आदि विवेचन को जो महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिये था, वह स्थान-स्थान पर तंत्र साधना या शव-साधना या बीजाक्षर मंत्रों के गान के कारण नहीं मिल पाया है । इसी कारण नाटककार के इस कथन की अपेक्षा कि- 'सीधे सीधे इन सच्चाइयों को सामने लाने से मूल प्रश्न अपना केन्द्रीय सन्दर्भ और सामान्य सन्दर्भ न छोड़ दें- यह तथ्य अधिक प्रामाणिक लगता है कि अयथार्थ या 'एब्स्ट्रेक्ट' द्वारा जीवन सत्य को सामने लाने में मूल प्रश्न के केन्द्रीय और सामान्य सन्दर्भों के छूट जाने की अधिक सम्भावना होती है । इसी बात के साथ इस नाटक के मूल प्रश्न- प्रजातंत्र में प्रजा की शव के समान स्थिति, मताधिकार की निष्प्रयोजनीयता, शासक या नियन्ता द्वारा जनता को प्रश्नहीनता की स्थिति में ढकेल देना और आने वाले खुशहाल समय की एक अन्तहीन प्रतीक्षा- को प्रकट करने के लिये प्रयुक्त 'मिथक' की सार्थकता या प्रासंगिकता विचारणीय है । यथार्थ की सच्चाई से सामना करने के लिये जीवन प्रसंगों को सीधे सीधे व्यक्त करने से प्रश्न के केन्द्रीय व सामान्य सन्दर्भ बिखर जाने की जो बात नाटककार प्रतिपादित करता है, वह उन जीवन प्रसंगों के सम्बंध में तो सही बैठती है जो किसी व्यक्ति या समाज विशेष पर तीक्ष्ण मार करने के उद्देश्य से सृजित किये जाते हैं। निस्संदेह तब रचनाकार को तटस्थ होना आवश्यक होता है और इसके लिये उसे 'मिथक' का क्रुद्म माध्यम स्वीकार करना नितान्त ~~अनिवार्य-होकर-है-और~~ प्रासंगिक है । लेकिन जो प्रश्न सामान्य धरातल पर खड़े हैं और किसी वाद, व्यक्ति या माध्यम(मिथक) का सहारा लेना कहां तक समीचीन है? इसीलिये 'कल्की' का मिथक प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से स्तुत्य कहा जाने पर भी प्रासंगिकता की दृष्टि से विशेष अर्थ नहीं रखता । यही नहीं, जब यथार्थ का परिवर्तन उसका सीधा सामना करके किया जाना चाहिये तो उसके लिये मिथक जैसा अयथार्थ माध्यम प्रयोग में लाना नाटककार का ही अन्तर्विरोध प्रकट होता है । इस सम्बंध में एक समीक्षक का यह कथन उक्त तथ्य की पुष्टि करता है-'---इस प्रसंग में मैं केवल यह पूछना चाहता हूं कि क्या यहां का प्रेक्षक सचमुच यथार्थ का सीधा साक्षात्कार करने को तैयार नहीं ? खासतौर से कल्की के यथार्थ का जो आज रोजमर्रा की बहस की चीज़ है ? और

हिन्दी के नाटककारों ने अब तक रंगमंच को कितना यथार्थ दिया ही है कि उससे उकताकर दिशा बदलने की जरूरत महसूस हो । यथार्थ के सीधे साक्षात्कार से हटकर प्रच्छन्नता की आवश्यकता वहां होती है जहां किसी प्रकार का बाह्य या आंतरिक दबाव ग्राहक या रचनाकार को सीधे रोकता हो । स्वयं सार्त्र ने नाटक के लिये मिथक की शक्ति का प्रथम अनुभव अपनी नजरबन्दी के दिनों में , अपने सहबन्दियों द्वारा खेलने के लिये नाटक लिखते समय किया था ।'[१] यह एक आश्चर्य की बात है कि- 'सब रंग मोह भंग' जैसा नाटक आपातकाल में लिखा गया और किसी संपूर्ण मिथक की सीमा में नहीं बंधा होकर भी इन्हीं दिनों मंचित भी हुआ । सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नाटक 'बकरी' के साथ भी यही तथ्य लागू होता है- बिना किसी मिथिकल परिवेश के यह नाटक सफलतापूर्वक खेला गया है ।

'कल्कि' में प्रयुक्त मिथक और उससे सम्पोषित प्रतीकों या रूपकों को नाटक में आदि से अन्त तक एक अन्य परक अर्थ प्रदान किया गया है जिसे इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -

१- अकुलत्तोम और उसका प्रेत अवधूत- ऐसा शासक जो अपनी समाप्ति के बाद भी प्रजा को प्रेतबाधा बन सताता है । प्रजा में उसका प्रभाव उसकी मृत्यु के बाद भी पूंछकटी छिपकली के समान जीवित रहता है । यहां प्रेत' से तात्पर्य ऐसी परंपरा से है जो अतीत बन चुकी है, फिर भी स्थापित बने रहना चाहती है । अवधूत का यह कथन उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है-'किन्तु याद रख, मैं असफल नहीं हो सकता । गौरवगाथा के रूप में मेरा अमर अस्तित्व यहां बना रहे, मैंने अपने जीवन के अंतिम क्षणों में हूणों से युद्ध किया है और

१- रंगमंच-एक माध्यम-कुंवर जी अग्रवाल,पृ० ७५ ।

मरकर फिर यहां आ गया । मैं यहीं से उपजा हूं मैं यहीं रहूंगा । तू बाहर का है, तू यहां नहीं रह सकता ।[१]

२- हेरूप और उसके प्रश्न- हेरूप नवीन पीढ़ी का प्रतीक है , ऐसी युग-चेतना का प्रतीक है जो विद्रोह द्वारा नवीन व्यवस्था की स्थापना में विश्वास करती है । स्थापित को चुनौती देना और आत्म-बलिदान की सीमा तक नयी जीवन व्यवस्था की भूमि तैयार करना इस नयी पीढ़ी का दायित्व है ।

३- तारा- प्रजा की वह शक्ति जो नवनिर्माण के लिये समर्थ है किन्तु उसे शासन तंत्र द्वारा अपहृत कर निहित स्वार्थों के लिये प्रयोग में लाया जाता है । तारा हेरूप से प्रेम करती है, बचपन की संगिनी है किन्तु उसे तंत्र-साधना के साधन-रूप में काम लिया जाकर उसे बलात् हेरूप से अलग कर दिया जाता है । यह अपहृत शक्ति एक दिन पुन: उपयुक्त पात्र(हेरूप) को मिलेगी- इसका तारा को पूर्ण विश्वास है- 'इस अभिशप्तनगर में न जाने कब से सड़ते हुए शवों को सुबह होने से पहले वह नीचे फेंक आयेगा, उस गहरे जल में, जहां से प्रकाश उमड़ता है।----वही हेरूप बन्दी आत्माओं को मुक्त करेगा ।'[२]

१- कल्की- पृ० १८

२- वही- पृ० ५१

४- तीन कृषकऔर उनकी बांसुरी का संगीत जिस पर कोई गीत नहीं गाता- गिरि-शिखर की नित्य यात्रा करना और लौट पड़ना ।	तीनों कृष प्रजा की का प्रतिनिधित्व करते हैं और शासन की स्वार्थ पर नीतियों द्वारा मर्दित प्रश्नहीनता की स्थिति से गुजरते हैं । प्रजा इस स्थिति में रहते हुए अपने नियन्ता या शासक के मन्तव्य की शोध करना चाहती है, उसके अन्तस के रहस्य को जानना चाहती है लेकिन वह रहस्योदघाटन में असफल रहती है । प्रजा के लिये शासक असीम आशाओंका मंथर है- देववृक्ष है- फलत: वह उसमें अपने सुन्दर भविष्य के दर्शन की कामना करती है किन्तु वह सुन्दर भविष्य उन्हें कभी प्राप्त नहीं होता। गिरि-शिखर(जहां नन्हा देववृक्ष लगा है) की नित्य यात्रा व लौटने के पीछे यही विडम्बना प्रच्छन्न है ।
प्रत्यक्ष से आतंक और परोक्ष से प्रेम-प्रजातंत्र में यही जनता की नियति है ।	
५- गिरि-शिखर पे देवदारु का नन्हा वृक्ष जो जीवनदाता है- ऐसा प्रजा को स्वप्न हुआ है ।	सुखद भविष्य के आकाश कुसुम जो शासक द्वारा प्रजा को दिये गये आश्वासन का परिणाम हैं । प्रजा को स्वप्नजीवी बनाये रखने की स्थिति ।
६- कृषकों द्वारा अकुलकोप की वीर-तापूर्ण लड़ाई की कथा सुनाना ।	स्थापित द्वारा अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये गौरव-गाथाओं की सृष्टि ।
७- हैरूप की कलाइयों में टूटी हथकड़ी ।	तंत्र का विद्रोह, स्थापित को चुनौती ।
८- हैरूप का पीछा करने वाला ।	वह स्थापित जिसे आधुनिक शिक्षा प्रणाली द्वारा उस पर मढ़ा जाता है ।हैरूप विक्रम विहार द्वारा उसी स्थापित के सांचे में गढ़े जाने की प्रक्रिया से गुजर रहा था जिसे वह छोड़कर

९- धवल-पक्षी (जो अन्धकूवर में- मृत्यु के मुख में उड़ता था)	तारा (हेरूप की शक्ति) का वह विश्वास जो विक्रम विहार में हेरूप के शक्ति के पुनर्संचयन का कारण बना । नवनिर्माण की संकल्पशक्ति ही सभी चुनौतियों का सामना करने का - विश्वास प्रदान करती है ।
१०- हेरूप द्वारा 'महासाधना में विघ्न' डाले जाने पर गिरि-घाटियों में सोयी वायु का आंधी बनकर उठना और आंधी में मक्खियों का गिरोह ।	हेरूप द्वारा प्रजा के स्थिर जीवन में प्रश्न की जिज्ञासा के बीज बोने का प्रयत्न करना । इससे प्रजा के अन्तस में द्वन्द्व की स्थिति ।
११- अघूत की 'अधूरी दुनियां' (हेरूप के शब्दों में)-	पाखण्ड और कूल द्वारा प्रजा को वश में रखने का प्रयत्न । अघूत का ताड़ के पंखें से मुंह छिपाना इसी अधूरेपन का लक्षण है । ~~प्रजातंत्र में-जनतंत्र~~
१२- शव-साधना-	प्रजातंत्र में जनता की स्थिति शव के समान है जिसे तंत्र अपनी इच्छानुसार संचालित कर सकता है- यथार्थ से अयथार्थ की ओर, संशय से संकल्प की ओर एवं विद्रोहसे स्वीकार की ओर । इस शव-साधना का ही परिणाम है कि जनता हमेशा वर्तमान में पददलित होने पर भी भविष्य के स्वप्नों में- किसी 'कलंकी' की प्रतीक्षा में खोयी रहती है । कृष्णकाँ द्वारा हेरूप को दिया गया यह उत्तर इस सन्दर्भ में सटीक है- 'हमारा विश्वास असम्भव में है।' तंत्र प्रजा को कभी शव की स्थिति से उबरने ही नहीं देता है।तारा के शब्दों में- 'हममें जैसे ही कुछ महत् और शुभ जन्म लेने लगता है, कोई सहसा उसे काट देता है।

१३- बोधि सत्व की कथा- किसी समय जैतवन में सभी मृग समान थे ।

अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये स्थापित को प्रजा को भ्रान्त बनाये रखने के लिये अनेक किस्से बुझाने पड़ते हैं । तंत्र स्वयं को बोधिसत्व स्वं शेष को सामान्य मृग सिद्ध कर 'मृग' पर शिकार के अधिकार को बनाये रखना चाहता है । दूसरे शब्दों में- स्वयं नियन्ता और शेष को शासित बनाये रखना चाहता है जबकि सत्य यह है कि प्रजातंत्र में सभी समान हैं- शासन तंत्र भी प्रजा का एक अंग है ।

१४- शव-साधना की पूर्णता-जब औंधे पड़े शव का मुख साधक की ओर घूम जायेगा ।

तांत्रिक के अर्थ में-
जब प्रजा शासकोन्मुखी हो उसी के नियंत्रित मार्ग पर चलेगी ।
हेरूप के अर्थ में-
जब प्रजा यथार्थ का सामना करेगी और उसे बदलने का संकल्प कर लेगी ।
हेरूप का यह कथन इसी व्याख्या का वहन करने वाला है-'हां, यथार्थ को यदि बदला जा सकता है तो केवल उसका सामना करके ही । जब औंधा पड़ा मुख सामने आ जायेगा ।'

केन्द्रीय भाव, उसमें प्रच्छन्न उद्देश्य और उस उद्देश्य के प्रकटीकरण के लिये प्रयुक्त अवधारणाएं प्रस्तुत नाटक को उसके रचनात्मक धरातल की कसौटी प्रदान करती हैं । भाषा द्वारा इस धरातल पर खड़े नाटक को पुष्टि प्राप्त हुई है । लेकिन जैसा कि नाटककी प्रकृति से स्पष्ट है,यहां भाषा को रचनास्तर से अधिक उसके नाट्य-बोध के स्तर पर महत्व दिया गया है । नाटक में प्रयुक्त भाषा कार्य, ध्वनि,संगीत,प्रकाश के गत्यात्मक प्रयोगोंद्वारा पुष्ट होती है और तभी उसका रंगमंचीय मूल्य उभरता है । नाटक की भाषा का रंगमंचीय मूल्य उसमें निहित काव्यत्व में है- ऐसा काव्यत्व जो

अभिनय की सम्भावनाओं को उत्पन्न करे और नाटक को कार्य के स्तर पर लय प्रदान करे ।

नाटक के प्रारम्भ में भाषा के प्रयोग वस्तुत: बीजाक्षरों की स्फुट ध्वनियों के प्रयोग हैं जो मंच पर भागते हेरूप का `जैसे पीछा करते हैं । इसी स्वर और संगीत की पृष्ठभूमि में तीनों कृषकों का यह प्रथम कथन नाटक के सांगीतिक सन्दर्भ को उभारता है-` हम कृषक हैं । हमारी बांसुरी के संगीत पर अब कोई गीत नहीं गाता, बांसुरी बजती है पर गीत नहीं फूटता ।` कृषकों की यह अभिव्यक्ति वातावरण का प्रतिपादन करने वाली भी है जो `बांसुरी बजती है पर गीत नहीं फूटता` द्वारा इंगित किया गया है । समय की यथास्थिति को व्यक्त करने में कृषकों का यह वार्तालाप द्रष्टव्य है-

पहला कृषक- बस कुछ वर्षों बाद, कहीं कुछ हो जाता है। और कुछ नहीं----
तीनों कृषक- और कुछ नहीं, और कुछ नहीं ।

`कुछ` उस अनिश्चय को प्रकट करता है जो `कल्कि` की प्रजा में समाया हुआ है । गहरी प्रशान्त नदी, उसकी धार में उगा हुआ गिरि-शिखर, दिन पर चढने का प्रयत्न और सन्ध्या होते ही लौट पड़ना-प्रजा की यह स्थिति एक ही शब्द `विवश` द्वारा प्रकट कर नाटककार द्वारा भाषा की नाट्यगत अर्थक्षमता को प्रकट किया है-`ऐसा हम नित्य करते हैं । ऐसा करने को हम विवश हैं ।`यही विवशता वातावरण में एक गहरा मौन खींच देती है और तब पुन: एक `टेब्लो` (स्थिर दृश्य) द्वारा चरित्र अतीत की कथा कहते-कहते जैसे उसी में खो जाते हैं । उनके शब्दों द्वारा एक चित्र सामने खिंचने लगता है- गिरि घाटी में बाणों से बिंधा रेंग-रेंगकर चढ़ता अकुलक्रोम, बर्बर हूणों द्वारा फूंका जाता नगर और इस मध्य अकुलक्रोम का फूटता स्वर `लड़ो---लड़ो---लड़ो` एक साथ दृश्य एवं श्रव्यबिम्ब उत्पन्न करता है । अतीत(अकुलक्रोम) और वर्तमान(हेरूप) को जैसे प्रजा कम- एक साथ भोगने लगती है- फलत: अभिव्यक्ति धीरे-धीरे संगीत का स्थान लेने लगती है और यह संगीत प्रजा द्वारा हेरूप के स्वागत का चिन्ह बन जाता है -

'हंसिबा खेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग--------। हे हो चित्त, सुनावा गीत । हमरे घर आवा हे मीत ।' यहीं से नाटक के सम्वादों में संघर्ष का जन्म होता है । प्रकट में यह द्वन्द्व कृष्णकाँ और हेरूप के मध्य होते हुए भी वस्तुत: चेतना और चेतना हीनता के मध्य का संघर्ष है और नाटक में हेरूप द्वारा चेतना की यह प्रथम लौ इस कथन द्वारा होती है- 'ओह ! उसने तुम्हें कुछ भी नहीं जानने दिया । अपने इन्द्रजाल में फंसाकर जो नहीं है, वह प्रकट किया, जो अप्रासंगिक है, उसे प्रसंग बनाकर तुम्हारे कण्ठ में बांध दिया ।' जो नहीं है', वह प्रकट किया' और 'अप्रासंगिक को प्रसंग बनाकर कण्ठ में बांधना' जैसे विरोधी वक्तव्यों द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने में सफलता मिली है । लेकिन इतना ही होता तब भी वह प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता जो हेरूप के उक्त कथन द्वारा खिंचे सन्नाटे द्वारा उत्पन्न होता है । एक प्रकार से भाषा मौन द्वारा प्रभाव को सघन बनाने में सहायक होती है । यही भाषा हेरूप द्वारा कृष्णकाँ को अपने बचपन की कथा सुनाने में एकाकिता के वातावरणकी सृष्टि करती है- ऐसे में कृष्णकाँ को सुनायी जानेवाली कथा सम्वाद का एक अंश न रहकर स्वगत कथन बन जाती है । हेरूप द्वारा कही गयी कथा से उत्पन्न वातावरण के विषाद को हल्का करने के लिये -कृष्णकाँ और हेरूप ~~द्वारा-कही-गयी-कथा-से-उत्पन्न-वातावरण-के~~ की चण्डी मण्डप की यात्रा के अवसर पर यह समवेत गान सार्थक भूमिका निभाता है-'एहो, कहां बसे सक्ती, कहां बसे जीव । यहां एक तथ्य द्रष्टव्य है कि इन गीतों की प्रकृति तंत्रकालीन और लोकधर्मी है और इस कारण ये गीत नाटक में वातावरण के निर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं । नाटककार की इस सम्बंध में यह मान्यता उपयुक्त भी है -'गीत इनके जीवन का एक अंग था और यहांगीतों के प्रयोग कई अर्थधर्मी हैं । गीत यहां नाटकीय कार्य और सम्प्रेषण दोनों है ।[१] इस तंत्रकालीन गीत के साथ ही चण्डी मण्डप का दृश्य सामने आता है जहां अधूत मानव-हित कल्कि- अवतार की साधना

१- कल्कि नाटक- कुछ प्रस्तुतीकरण के प्रसंग-पृ० ६२

कर रहा है । चण्डी मण्डप का यह दृश्य शब्दाश्रित होकर ही नाटक में प्रकट होता है । `साधना`, `महासिद्धि`, `एक सहस्त्र शव-साधना`, `वह महापराक्रमी श्वेत अश्व पर चढ़ा आयेगा`, `अवधूत की महासाधना` जैसी अभिव्यक्तियों से चण्डी-मण्डप की दृश्य-परिकल्पना संकेतित होती है । इसके साथ `सब डरे हुए एक ओर हो जाते हैं`- रंग-निर्देश देकर नाटककार दृश्य के प्रभाव को प्रेक्षक तक सम्प्रेषित भी कर देता है । यहीं हेरूप के सम्वादों का यह अंश ध्यान दिये जाने योग्य है -

हेरूप- उस अन्धगह्वर में तुम्हारे ही प्रकाश में मुझे----

तीसराकृषक- ये दोनों बचपन में एक संग खेले हैं ।

हेरूप- मृत्यु के उस मुख में वह धवल-पक्षी मेरी आंखों में उड़ता था---वहीथा मेरी संजीवनी -----

तीसरा कृषक- पहचानो य ह वही हेरूप है- अकुलदोम का पुत्र। याद करो, नदी के बालू तट पर जब तुम दोनों दौड़ते थे, गिरि शिखर से एक धवल पक्षी उड़कर तब लहरों पर बैठ जाता था और तुम्हें खेलते हुए अपलक निहारता था ।

पहला कृषक- सावधान ! यह अब वह नहीं, तारा देवी है ![१]

हेरूप के शब्दों में `अन्धगह्वर` और `प्रकाश` अभिव्यंजक हैं और अभिव्यंजनावादी हेरूप ~~के शब्दों में `अन्धगह्वर` और~~ मंच के उपयुक्त हैं । `धवल पक्षी` पुन: अभिव्यंजक अर्थ के साथ प्रयुक्त हुआ है और नाटक की संवेदना में इसकी विशेष नाट्य-अर्थवत्ता है । `संजीवनी` शब्द यहां इसलिये उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि वह तारा के चरित्र और हेरूप के लिये उसकी अनिवार्यता को उद्घाटित करता है । तीसरे कृषक द्वारा हेरूप की पहिचान कराये जाने के लिये स्मृति-बिम्ब के रूप में `नदी के बालू तट पर दौड़ने`, `गिरि-शिखर से उतरकर धवल पक्षी के लहरों पर बैठ खेल को अपलक निहारने` जैसी भाषा के प्रयोग एक साथ काव्य व रंग बोध उत्पन्न करते हैं । नाटक में प्रयुक्त

१- कल्कि- पृ० १०-११

उपर्युक्त सम्वादों में काल्पनिक और रोमानी 'मूड' का समावेश हुआ है । लेकिन इनसे आगे के सम्वाद अचानक यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर हैरूप और कृषकों के मध्य द्वन्द्व का कारणबन जाते हैं । सम्वादों के ये बदलते 'मूड' नाटक में लयात्मक संयोजन उत्पन्न करते हैं । यही नहीं, प्रजा के अनिश्चय, आत्म-विस्मृति और अतार्किकता की ओर भी संकेत करते हैं-

पहला कृषक- सावधान ! यह अब वह नहीं, तारा देवी है !
दूसरा कृषक- यह आराधना में विघ्न डालने आया है । इसे कहो, यह यहां से चला जाय ।
तीसरा कृषक- तूने प्रतिज्ञा की है ।
तारा- मुझे जाने दो !
हैरूप- कहां ? क्यों? किसलिये ?
तारा- मुझे जाना है ।[१]----------
पहला कृषक- तूने महासाधना में विघ्न डाला है ।
दूसरा कृषक- तूने महा अपराध किया है । गिरि-घाटियों, नदी-तल में जो वायु सोयी थी वह आंधी बनकर उठ रही है ।
तीसरा कृषक- भागो- भागो----!
पहला कृषक- आंधी में मक्खियों का गिरोह है--- भागो- भागो----[२]

द्वन्द्व अन्तिम सिरे तक पहुंच कर नाटकीय त्वरा ले लेता है और शब्दों के स्थानापन्न अभिनटन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है । द्वन्द्व की तरम सीमा के टूटते ही पुन: मंच का वातावरण शान्त हो जाता है और शान्ति के लिये रिचुअल गीत प्रारंभ हो जाता है-'अरध उरध मुख लागी कासु। सुन्न मण्डल मा करहु प्रकासु'। यह पुन: कार्य को त्वरा से सम पर लाने की स्थिति है और भाषा इस उतार-चढ़ाव का

१- कलंकी- पृ० ११

२- वही- पृ० ११-१२

नियंत्रण करती है । इससे आगे के सम्वादों की लय उन्हें अभिनयात्मक गति प्रदान करती है -

तीनों कृषक- यह अवधूत कहां से आया ?
दोनों स्त्रियां- सुन्न गगन से पंथ चलाया ।
तीनों कृषक- एक से शम्भु पंथ चलाया ।
दोनों स्त्रियां- (ऊपर से नीचे उतरती हुई)
एक से भूत-प्रेत मन लाया ।
तीनों कृषक- सर्वभूत संसार निवासी ।
दोनों स्त्रियां- आपुहि खसम आपु सुख वासी ।
तीनों कृषक- कहियत मोहि भइल युगचारी ।
दोनोंस्त्रियां- काके आगे कहौं पुकारी ।[१]

डा० लाल के नाटकों में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं और इनसे नाटक को क्षिप्रता प्रदान करने की उनकी अपनी शैली है ।

शब्दों द्वारा नाटक की लय की पकड़ के लिये आवश्यक यह है कि सम्वाद अति छोटे हों जिससे शब्द अपने सम्पूर्ण नाट्य-बोध के साथ मंच से प्रेक्षक तक सम्प्रेषित होकर दृश्यत्व की जिज्ञासा उत्पन्न कर सके । लम्बे सम्वादों में अन्य शब्दों के साथ संगुम्फित नाटकीय अर्थवत्ता देने वाला शब्द अपना प्रभाव खो बैठता है । 'कलंकी' में ऐसा हुआ है-'उनके यथार्थ से उन्हें बैलों की तरह हांककर अयथार्थ के जंगल में डाल देना और हर क्षण संशय को संकल्प में, विद्रोह को स्वीकार में बदलते जाना-----' रेखांकित पंक्तियोंकी यहां एक विशद व्याख्या मूलक अर्थवत्ता है । प्रजातंत्रीय पद्धति की वस्तुस्थिति को प्रकट करने में ये विरोधी शब्द-युग्म अहम् भूमिका निभाते हैं । किन्तु इससे पूर्व का वाक्यांश इस रेखांकित अंश को उपजीव्य बना देता है । ज्ञात ऐसा होता है जैसे पूर्व का वाक्यांश महत्वपूर्ण है और उसी का विस्तार आगे का

१- कलंकी- पृ० १२-१३

वाक्यांश वस्तुत: ऐसा नहीं है किन्तु सम्वादों की लम्बाई से महत्वपूर्ण शब्द-विन्यास अपना प्रभाव खोने लगता है । ऐसी ही प्रभावहीनता वहां उपजती है जहां पूर्व कही गयी हेरूप की विक्रमविहार में किये गये विद्रोह की कहानी को एक लम्बे सम्वाद में अधूत फिर दोहराता है (पृ० १७) । महत्वपूर्ण बात सम्वादों की दुर्घता नहीं प्रत्युत उनमें प्रयुक्त शब्दों की समयानुकूल सार्थकता है और यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कहीं एक शब्द दूसरे शब्द की हत्या तो नहीं कर रहा अर्थात् एक दूसरे का प्रभाव तो नष्ट नहीं कर रहा । छोटे सम्वादों में यह भय नहीं रहता क्योंकि वहां कतिपय या एक ही शब्द सम्पूर्ण नाट्य-प्रभाव की सृष्टि करता है । 'कलंकी' में ऐसे छोटे सम्वादों के प्रयोग सार्थक हैं -

तांत्रिक-	ठीक, गगन तुला पर तेरे कुमार यौवन का भार समुचित है ।
	---ओह ! तू भी अपवित्र है ।
दोनों स्त्रियां-	यह अपवित्र है । इसने क्या किया है ?
दोनों स्त्रियां-	(घेरकर) तूने क्या किया है ?
पहली स्त्री-	तेरी आंखों में अंजन है ।
दूसरी स्त्री-	नयनों में रंग है ।
पहली स्त्री-	पिण्ड में अनंग है ।
दूसरी स्त्री-	तू केवल शरीर है ।
पहली स्त्री-	तेरी त्रिवली में समीर है । तूने व्रज तोड़ा है ।
दूसरी स्त्री-	तूने समबीज फोड़ा है ।
पहली स्त्री-	स्वयंचारा------
वह दूसरी स्त्री-	व्यभिचारा----
पहली स्त्री-	नंगी ।
दूसरी स्त्री-	कुरंगी ![1]

१- कलंकी- पृ० २८

उपर्युक्त सम्वाद क्रमश: शब्दों के वस्त्रों से मुक्त होते-होते केन्द्रीय शब्द पर आकर ठहर जाता है और नाटकीय प्रभाव `नंगी` और `कुरंगी` द्वारा घनीभूत हो जाता है । नाटककार शब्दों का झुण्ड खड़ा करता है लेकिन संवेगों के अनुपात में स्वत: ही निरर्थक शब्द समाप्त हो जाते हैं और उपयुक्त शब्द शेष रह जाता है । शब्दों में सार्थक शब्द संचयन एक प्रकार से खोये हुए नाट्य-शब्द की पकड़ कही जा सकती है । यह शब्द सार्थक मनोवेगों से संचालित होने के कारण कथानक की जड़ता को दूर करता है और थियेटर की यांत्रिकता से मुक्ति दिलाने में सहायक होता है । `कलंकी` में ऐसे सम्वादों के प्रयोग आस्वादक के मानस में रेखाचित्र का निर्माण करते हैं जिसका रूप इस प्रकार हो सकता है -

नंगी! कुरंगी! चरम पर ले जाकर शब्दों का विलीनीकरण और टूटे हुए संगीत की भांति दृश्य की गतिशीलता का `टेब्लो` में परिवर्तन नाटक को लय में बांधने का कार्य करता है । सम्भवत: इसीलिये नाटककार ने इस नाटक में संगीत को अविभाज्य रूप से व्यापक-अर्थ-में-स जुड़ा माना है- इस तरह व्यापक अर्थ में संगीत इस नाटक का अविभाज्य अंग है । बल्कि यहां तक कह सकते हैं कि इसकी संरचना ही संगीत के भीतर से है ।[१] शब्द के विलीन हो जाने और दृश्य का क्षण भर के लिये [illegible] हो उठना- इसके प्रमाण स्वरूप निम्नांकित सम्वाद द्रष्टव्य है -

ठीक ,गगन तुला पर तेरे
कुमार-यौवन का भार
समुचित है ।

हैरूप- (स्वप्न देखता सा) हां, यथार्थ को यदि बदला जा सकता है तो केवल उसका सामना करके ही । जब औंधा पड़ा मुख सामने आयेगा !

तांत्रिक- (मूरे-बल-से) (आवेश में समानान्तर ढंग से) पापी----अधर्मी-----

हैरूप- (कहता जा रहा है) यथार्थ का सामना करके ही, किसी तांत्रिकता से नहीं !

१- कलंकी नाटक कुछ प्रस्तुतीकरण-के प्रसंग में- पृ० ६३

तांत्रिक- (पूरे बल से) हत्यारा !

(हैरूप पर प्रहार करता है । अभिनटन दृश्य समाप्त । आकाशपटी पर तंत्रमुद्राचिन्ह समाप्त होता है ।)[१] यहां 'हत्यारा' शब्द तांत्रिक द्वारा हैरूप पर किये जाने वाले प्रहार की क्रिया मैंस्थानापन्न हो जाता है । इस क्रिया के तुरन्त बाद की स्थिति ही 'टैब्लो' की स्थिति है ।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच में नाटकीय शब्द(spoken- word) ही दृश्यत्व और श्रव्य सम्भावनाओं का वाहक है । शब्द मैंनिहित कार्य, और 'अभिव्यंग्य' ही उस शब्द को नाट्य-सन्दर्भ प्रदान करता है । इसी सन्दर्भ में शब्द में निहित विचार-तत्व रंगमंच पर प्रासंगिक होता है । 'कलंकी' में जहां एक ओर शब्द की नाट्यक्षमता की ओर ध्यान दिया गया है वहां कहीं-कहीं शब्द अपना नाट्य संदर्भ छोडकर विचार-तत्व की एकांगिता से बोझिल भी हो गया है । ये वे स्थल हैं जो कलंकी के गीतों द्वारा भरे गये हैं । जैसा कि कहा गया है,

" Art is life not a series of ideas. Art dies when it is based on an abstract idea or fact----"[२]

इस नाटक में प्रयुक्त गीत योजना में प्रयोग किये शब्दों की नाट्यक्षमता फीकी पडने लगती है और फिर विचार तत्व की बोझिलता बढ़ने लगती है इसमें सन्देह नहीं कि 'कलंकी' के गीत तंत्रयुगीन वातावरण को मुखर करने वाले हैं लेकिन यह भी सत्य है कि वे सायास तंत्र शब्दावली की प्रयुक्ति के कारण वैचारिक बोझिलता से भी लदे हुए हैं ।- 'अरध उरध मा लागौं कासु', 'रहो कहां बसै सक्ती कहां बसै जीव', 'तुला धुणि धुणि अंसु रे अंसु' ऐसे ही गीत हैं । दूसरी ओर - तंत्र साधना की ही बीजाक्षर ध्वनियां अपनी संगीतात्मकता के कारण गीतों से अधिक नाट्य प्रभाव डालती हैं- उनकी तार्किक व्याख्या का उनकी ध्वन्यात्मकता के

१-कलंकी- पृ० ३६

२- the theory of modern stage/ spoken-action- by Luigi Pirandello- P.155

सामने कोई महत्व ही नहीं रह जाता - ये ध्वनियां हैं- हे इउ---हिं किं,प्र०--अ---र---म----ल----उं-----श्री----रं-----सौं---- रीं----- हीं----क्री०-------।[१] ऐसा ही ध्वनि-विन्यास तांत्रिक द्वारा प्रस्तुत रूपक में वधिक और मृग के नाद में हुआ है- `ति ति ति ति ओ हौंउ-(तीन बार ध्वनि)`। सं----औंउं (चार बार ध्वनि)[२]

`कल्की` में कार्य तत्व को उभारने में जितनी सीमा तक भाषा ने सहयोग किया है, उससे कहीं अधिक प्रकाश और संगीत योजना ने किया है। वस्तुत: नाटकीय कार्य व्यापार को नियंत्रित करने में प्रकाश व संगीत के प्रयोग(वे जिन्हें रंग-निर्देश के रूप में नाटककार ने इंगित किया है) अथवा उनके प्रयोग की सम्भावना(जिसकी निजी व्याख्या के लिये निर्देशक को पूरी छूट है) ही विशेष सहयोगी हुई हैं और नाटकीय कार्य को सघन प्रभाव से संयोजित करती हैं। संगीत, प्रकाश द्वारा संयोजित नाटकीय कार्य वाले स्थलों को इस प्रकार अंकित किया जा सकता है -

१- आकाशपटी पर नीला प्रकाश और कल्की का संगीत।

२- हेरूप का पीछा करते हुए प्राणवेधी स्वर- दौडते भागते हेरूप के साथ दौड़ते भागते स्वर।

३- क्रुद्ध आंधी की भांति भयावह स्वरों का दूर जाना और बांसुरी का संगीत फूटना। कृषकों का प्रवेश और उनकी बातचीत।

४- हेरूप का कृषकों को द्वन्द्व या संघर्ष के लिये प्रबोधन देना।

५- हेरूप द्वारा कृषकों से स्वयं के बचाव का अनुरोध करना और अपने बचपन की कथा सुनाना।

६- चण्डी-मण्डप में, अवधूत के दर्शनार्थ हेरूप और अन्य कृषकों का पहुंचना और वहां तारा के आगमन से हेरूप को अपने बचपन का स्मरण हो आना।

१- कल्की- पृ० २६

२- वही- पृ० ३५

७- महासाधना में पड़े विघ्न स्वरूप आंधी और मक्खियों के गिरोह का हमला और कृषक आदि का बचने का प्रयत्न ।

८- शान्ति के लिये कृषक स्त्रियों की पूजा ,गीत और इससे प्रकोप की शांति।

९- हेरूप के आह्वान पर अघूत का प्राकट्य और परस्पर विवाद ।

१०- अघूत का रहस्योदघाटन- अघुल धोम के रूप में ।

११- हेरूप का दु:स्वप्न देखकर उठना और अघूत को देखकर चीख पड़ना ।

१२- हेरूप का दर्द से आंखें बन्द किये प्रजा के यथास्थितिवाद को स्वीकार करना । अघूत द्वारा हेरूप को अभिषिक्त करने की बात। (प्रकाश का बुझना।)

१३- हेरूप को अभिषिक्त किये जाने की तैयारी और तांत्रिक के प्रवेश से अभिशप्तता की स्थिति । ~~बीजाचार~~ बीजाचार मंगगान और हेरूप का मुख भय से पीला पड़ते जाना ।

१४- तांत्रिक द्वारा तारा को गगन तुला पर तौलने के साथ उसे अपवित्र प्रमाणित करना एवं स्त्रियों के स्वयं चारा, व्यभिचारा, नंगी,कुरंगी जैसे आरोपों से तारा का चीख पड़ना ।

१५- तांत्रिक द्वारा तारा को शुद्ध करना ।

१६- अंजन लगाती स्त्रियों व मेखला बांधते वय पर हेरूप की चोट- चीखना और तांत्रिक द्वारा उसके मुंह में मंत्र फूंकना ।

१७- तारा द्वारा हेरूप को मदिरा-पान का प्रयत्नकिन्तु हेरूप द्वारा घट पर हाथ मारना ।

१८- तांत्रिक द्वारा जातक-अभिनय का प्रारंभ और हेरूप का घायल सिंह की तरह तड़प कर तांत्रिक पर टूट पड़ना- चीत्कार-हेरूप व तांत्रिक का परस्पर संघर्ष ।

१९- हेरूप की आंखों के सामने अन्ध गह्वर का हृदय और इस मध्य हेरूप का बंधे हुए गिरने का अभिनटन ।

२०- हेरूप और तांत्रिक के मध्य शव-साधना के सम्बंध में प्रश्नोत्तर और तांत्रिक द्वारा हेरूप पर प्रहार- अभिनटन दृश्य की समाप्ति ।

२१- कृषकों द्वारा हेरूप को रोके रखने के प्रसंग को लेकर अनिश्चय की स्थिति । हेरूप द्वारा कृषकों को प्रबोधन किन्तु अप्रभावित । हेरूप की दयनीय स्थिति- 'बचपन में संकल्प किया था पर सहसा एक दिन देखा कि संकल्प का निर्णय किसी और के हाथ में है तब से केवल प्रश्न करने लगा ।[१]

२२- हेरूप और तांत्रिक का संघर्ष, तारा द्वारा प्रतिरोध- संगीत के ज्वार का उठना । प्रकाश बुझना ।

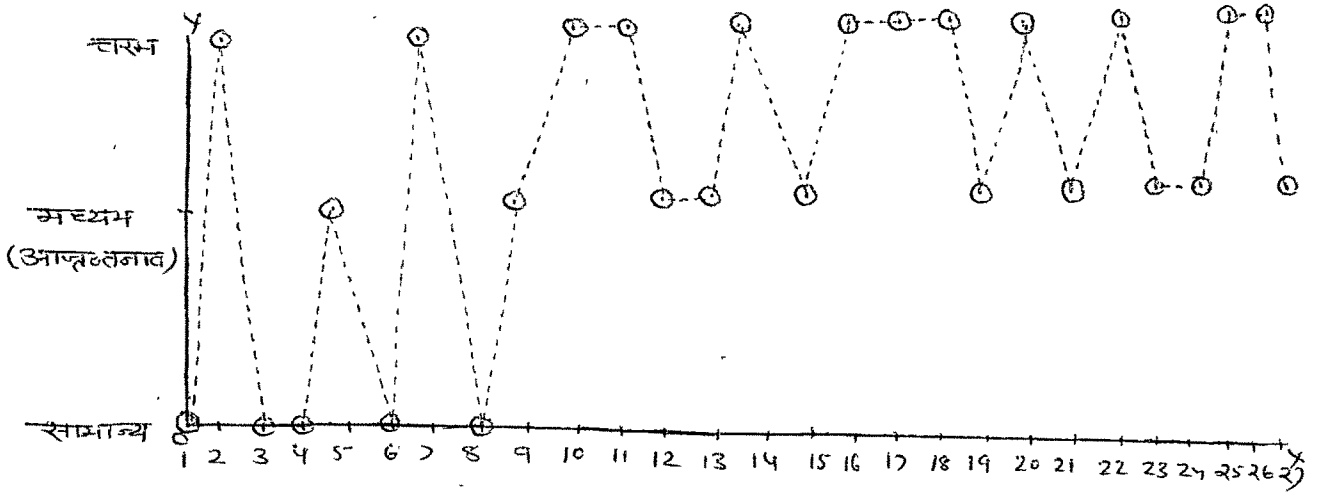
२३- प्रकाश लौटने पर कृषक स्त्रियों का गीत-ताराकी उदासी । स्त्रियों और तारा के मध्य सम्वाद ।

२४- कृषकों के मध्य हेरूप को लेकर विरोधी वक्तव्यों की श्रृंखला - पहला कृषक- वह हमारा नहीं था----------दूसरा कृषक- पता नहीं,उस गिरि शिखर पर क्या है ![२]

२५- वृद्ध द्वारा अवधूत से प्रश्न-'और यदि वह कलंकी नहीं आया तो ! (समय) नहीं,नहीं, मेरा मतलब है--- नहीं, नहीं-----'[३] और दबोचकर मारेजाना ।

२६- कृषकों द्वारा अवधूत के रहस्य की जानकारी और उसे मारने दौड़ना ।

२७- कृषकों की मार से अनाहत और अविचल अवधूत, पराजित कृषक और कलंकी अवतार की प्रतीक्षा में वायुमण्डल में उठने वाले घोड़े की दौड़ के स्वर का पीछा करना ।



१- कलंकी- पृ० ४३

२- वही- पृ० ४६

३- वही- पृ० ५२

उपर्युक्त रेखाचित्र में कार्य-व्यापार प्राय: आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व की चरमावस्था के मध्य होकर गुजरता है । संगीत, प्रकाश और कार्य-व्यापार- तीनों नाटकीय-सम्वादों द्वारा पुष्ट होकर अगे बढ़ते हैं । कार्य-व्यापार सामान्य-धरातल पर नहीं के बराबर है । फलत: नाटक में गतिशीलता की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं । अंतिम बिन्दु पर नाटक प्रेक्षकों के बौद्धिक धरातल को पर्याप्त झकझोरता है, और एक प्रश्नचिन्ह छोड़ता है- ब्रेख्त की महानाट्य परम्परा में 'कल्कि' की यह चिन्तन-प्रक्रिया एक नवीन दिशा-बोध प्रदान करती है ।

'कल्कि' नाटक एक दृश्यबन्ध वाले रंगमंच पर खेले जा सकनेवाला नाटक है । वर्तमान और भूतकाल की घटनाएं (फ्लेश)अनेक बार एक साथ घटित होती दिखायी गयी हैं । इसके लिये रंग-पीठ और रंगशीर्ष- दो भिन्न धरातलों का प्रयोग किया जा सकता है । नाटककार द्वारा विभिन्न धरातलों या अभिनय क्षेत्रों को निश्चित किये जाने की बात के पीछे यही संकल्पना निधि है ।

वस्तुत: 'कल्कि' मिथक, संगीत, प्रकाश, ध्वनि द्वारा सम्पृक्त सत्याभासी रंगमंच की सम्भावनाओं को उत्पन्न करने वाला नाटक है । ये ऐसे उपादान हैं जो हर प्रस्तुति के समय एक नवीन निर्देशकीय व्याख्या का क्षेत्र खड़ा करते हैं । चूंकि उक्त सभी का सम्बंध नाटक की गति से है, अत: गति का नियंत्रण निर्देशक की कुशलता की कसौटी है । तथापि यह अपेक्षा की ही जानी चाहिये कि नाटक की गति का नियंत्रण नाटक के अभीष्ट अर्थ का वाहक हो और उसी को प्रकाशित करने के माध्यम रूप प्रयुक्त हो । बिना इस प्रकाशन के नाटकीय बिम्ब और उनके द्वारा गति-निर्माण का कोई अर्थ नहीं होता । इस नाटक में ऐसे बिम्बों का अभाव नहीं है- '------और शेष लोग भयभीत अंधकार में डूबे हैं मानों बुझी हुई चिता के चारों ओर बैठे हुए लोग हैं वे । या अपनी ही मौत पर मातम मनाता हुआ मानव-प्रतिनिधि है जो मंत्रोच्चारण केवल भयवश कर रहा है, विश्वास वश नहीं । अर्थहीन मंत्र ही जैसे वह अन्धगुफा है जहां ये हर संकट में भागकर छिप जाने की कोशिश करते हैं ।[१] निस्संदेह

१- कल्कि- पृ० ६१

नाटककार की रंग-परिकल्पना को उसी के अभीष्टार्थ में व्याख्यायित करने में निर्देशक की कुशलता इस नाटक की अनिवार्य शर्त है ।

मिस्टर- अभिमन्यु :

'सूर्यमुख' और 'कलंकी' की आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया की परम्परा में 'मिस्टर-अभिमन्यु' की रचना एक और आयाम जोड़ने वाली है । यह इस रूप में कि इस नाटक में पूर्व के दो नाटकों का सा पौराणिक परिवेश नहीं है, केवल पौराणिक पात्र का सन्दर्भ है । इसीलिये आज की समाज और राजनीति को यह नाटक सीधे-सीधे स्पर्श करने में अन्य दो नाटकों की तुलना में काफी 'बोल्ड' है और अवधारणा के स्तर पर यह गुंफित नहीं होकर आज की परिस्थितियों की बड़ी ऋजु अभिव्यक्ति देने वाला है । नाटक का प्रथममंचन 'सम्वाद' द्वारा सत्यमूर्ति आडीटोरियम, नयी दिल्ली में ११ जनवरी १९६९ को हुआ । तत्पश्चात एक दो दिनके अन्तर में इसी संस्था ने इसके तीन अन्य मंचन भी किये जो क्रमशः १२,१८,१९ जनवरी १९७३ को हुए थे ।

समसामयिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में इस नाटक की सार्थकता पर विचार किया जाय तो कतिपय प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं :-

(१) क्या आज के नौकरी पेशा आदमी का अपना निजी व्यक्तित्व नहीं रहा ?
(२) क्या आज के आदमी के लिये व्यवस्था का अंग बन जाना उसकी वैचारिक नपुंसकता का द्योतक नहीं है ?
(३) क्या आज के आदमी की वैचारिक नपुंसकता के लिये व्यवस्था या प्रशासन ही उत्तरदायी है ?
(४) सामूहिक-उत्तरदायित्व की भावना से बंधे नौकरी पेशा आदमी का समझौतावादी दृष्टिकोण उसकी हार है ?

निश्चय ही ये प्रश्न किसी भी विचारक को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से सोचने को बाध्य करते हैं । ऐसे में आज का नौकरी पेशे आदमी के प्रति जिस बिम्ब का निर्माण

होता है वह एक 'बेचारेपन' की स्थिति है । प्रस्तुत नाटक का 'मिस्टर' शब्द इसी बेचारेपन की करुण अभिव्यक्ति देता है । किसी प्रकार के पैने व्यंगय की तो यहां कल्पना भी नहीं की जा सकती । सम्पूर्ण नाटक में एक प्रकार की वेदना निहित है जो स्वयं पौराणिक चरित्र अभिमन्यु के प्रति महाभारत के पाठक के मन में उत्पन्न सहानुभूति से मेल खाती है । अभिमन्यु का सा साहस आज के व्यक्ति के अन्दर निहित है किन्तु उस साहस को चुनौती के रूप में ग्रहण करने का मनोबल उसमें नहीं है । चुनौती को स्वीकार करने का परिणाम 'मृत्यु' है जिसे अन्ततः 'सूर्यमुख' का प्रद्युम्न प्राप्त करता है, जिसे 'कलंकी' का हेरूप प्राप्त करता है और जिसके कारण 'एक और द्रोणाचार्य' का विमलेन्दु एक भुक्तभोगी के रूप में नाटक के नायक चन्द्र को यह प्रबोधन देता है-'सब विरोध बकवास है । यदि व्यवस्था तुम्हें अपने इशारे पर भौंकने वाला कुत्ता बनाना चाहती है तो भौंको । कुत्ते के पिल्लों को जन्म दो ।[१] वस्तुतः यह नाटक उस चिन्तन को प्रेरित करने वाला है जिसके अनुसार जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा । व्यवस्था ही यदि मूल्यविहीन हो उस व्यवस्था के व्यूह में फंसा मनुष्य के लिये मूल्यों का क्या अर्थ है ? सामाजिक दायित्वों से मनुष्य छूट नहीं सकता क्योंकि उसके साथ उसका सम्बन्ध देनदार-लेनदार का है । समाज की व्यवस्था की यह व्यापारी पद्धति मनुष्य को बाध्य करती है कि वह अपने समाज के दायित्वों से उऋण हो । इसी कारण वह व्यवस्था में बंधने को अभिशप्त है और प्रश्नहीनता में जीने को बाध्य है । यह नाटक एक प्रकार से आदर्शवाद से यथार्थोन्मुख होने की प्रक्रिया का द्योतन करता है । 'सूर्यमुख' में व्यवस्था के विरुद्ध राजनीतिक और सामाजिक- दोनों स्तरों पर लड़ा गया युद्ध अन्ततः प्रद्युम्न और वेनुरती को एक स्वर्गीय-मिलन का गौंव प्रदान करने के उपरान्त इस संसार से मुक्ति दिलाने वाला होता है- उसका अन्त ' किये गये प्रयत्न के अन्त और भविष्य के प्रति शुभकामनाओं' से संचालित है, फलतः एक प्रत्ययमूलक मूड की स्थापना करता है । 'कलंकी' में भी हेरूप की मृत्यु आदर्श और भावी आकांक्षाओं की पूर्ति के प्रति एक रूमानियत् पूर्ण वातावरण की सृष्टि करती है- फलतः वह भी एक आदर्श अन्त का कारण ब नती

१- एक और द्रोणाचार्य' से

है लेकिन मूल्यविहीन समाज में ऐसे आदर्श की सामयिक सार्थकता कहां है? सामयिक लेखन का आधार भी सामयिक मूल्यों के अनुरूप चित्रण में होता है। तभी साहित्य वर्तमान के प्रति न्याय कर सकता है। यही न्याय 'मिस्टर-अभिमन्यु' में किया गया है। वहां व्यवस्था के चंगुल में फंसे व्यक्ति को देवता के समान न बताकर उसे मानवीय धरातल पर अन्तर्द्वन्द्व के मध्य प्रतिष्ठित किया है और एक यथार्थ निर्णय के साथ उस व्यक्ति की विडम्बना को प्रकट किया गया है। इस विडम्बना के चित्रण के साथ व्यवस्था के प्रति यहां बेलाग व्यंग्य भी किया गया है। फलत: यह नाटक विडम्बना और व्यंग्य- दोनों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है।

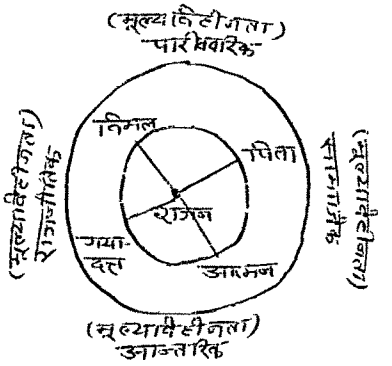
नाटक का नायक श मिस्टर राजन एक ऐसे जिले का कलेक्टर है जहां भ्रष्टाचार की जड़ें गहरी पैठ पैठ जमाये हुए हैं और नौकरशाही इस भ्रष्टाचार के लिये एक माध्यम बनी हुई है। राजन इस बुराई को आमूल उखाड़ फेंकने को कृत-संकल्प होता है किन्तु उसे उस क्षेत्र की गन्दी राजनीति का शिकार होने के भय से ग्रस्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में वह इस नौकरी से स्थीफा देना चाहता है। किन्तु उसके समक्ष उसके पिता और पत्नी का विद्रोह समदा आता है और इनके प्रति उसे अपने दायित्व का बोध होता है। परिणाम यह होता है कि वह चाहते हुए भी नौकरी का त्याग नहीं कर पाता और 'बाई-इलेक्शन' में प्रशासन के हित में किये गये भ्रष्टाचार का भागी बनाकर उसकी पदोन्नति कर दी जाती है। चुनाव में किये गये भ्रष्टाचार के लिये वह जिम्मेदार नहीं है किन्तु पदोन्नति का प्रलोभन अन्तत: उसके आदर्शवाद पर हावी हो जाता है और उसे यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ता है कि 'बाहर आने के अपने खतरे हैं। भीतर घुटन है, मगर सुरक्षा भी है। बाहर मुक्ति है लेकिन मृत्यु भी है।'[१] ~~भूमिका~~

नाटक की विडम्बना को प्रकट करने के लिये अभिमन्यु के चरित्र को आधार स्वरूप ग्रहण अवश्य किया गया है किन्तु उस पौराणिक चरित्र की प्रतिष्ठा आज के

१- मिस्टर अभिमन्यु- भूमिका

सन्दर्भ में करने के लिये उसे स्वधारणा के स्तर पर सर्वथा बदल दिया गया है । इस प्रकार मि० राजन और अभिमन्यु की परिस्थितियां समान होने पर भी उनके 'युद्ध' की ईमानदारी में अन्तर है । फलत: उस युद्ध से प्राप्त फल की प्रकृति में भी एक मौलिक अन्तर है । अभिमन्यु की नियति यह थी कि उसे बचपन में केवल व्यूह प्रवेश की विधि के बारे में बताया जा सका था, बाहर निकलने की प्रक्रिया से वह अनभिज्ञ था । लेकिन वह एक कुशल योद्धा था, इस कारण बाहर निकलने के मरणान्तक प्रयत्न उसने किये । व्यूह के मध्य पैठ उसने व्यूह को तोड़ने का सच्चा प्रयत्न किया था । दूसरी ओर, मिस्टर राजन जिस परिवेश में पलकर बड़े हुए और शिक्षा प्राप्त की है, उसमें उन्हें अपने चारों ओर एक पूर्वनियोजित व्यूह तैयार मिला है । व्यूह के अंदर ही उनका व्यक्तित्व-विकास हुआ है अतस्व विरोध में पैठकर उसे समाप्त करने के- के प्रयत्न का बोध भी उन्हें नहीं है । यह बोध उन्हें तब होता है जब उनके व्यक्तित्व को प्रशासन रेहन में रखने का प्रयत्न करता है । इस बोध के बाद भी उनका अपने चारों ओर खिंचे व्यूह से संघर्ष प्रारम्भ होता है । अभिमन्यु का संघर्ष अपने व्यूह के साथ सर्वथा निरपेक्ष अथवा स्वतंत्र है क्योंकि उस पर किसी का ऋण नहीं है। दूसरी ओर , राजन का विकास जिस परिवार और समाज के मध्य हुआ है, उसके प्रति उसके अनेक दायित्व हैं जिन्हें निर्वाह करने के लिये वह बाध्य है । यही वह बिन्दु है जहां अभिमन्यु और राजन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है । अभिमन्यु का संघर्ष एक योद्धा का सच संघर्ष है जिसमें वह शहीद हो जाता है लेकिन राजन का संघर्ष अपने उत्स में संकल्प शक्ति यथास्थितिवाद को चुनौती और प्रश्न करने के साहस द्वारा संचालित होने पर भी अन्तत: एक मजबूर और निरीह व्यक्ति का संघर्ष बनकर रह जाता है जिसका परिणाम समर्पण पूर्ण हार होता है । अभिमन्यु और राजन के मध्य यह मौलिक अन्तर है जिसे प्रकट करने के लिये 'मिस्टर' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

राजन के चारों ओर जो यथास्थितिवाद के व्यूह निर्मित हुए हैं वे बार-बार राजन को मात देकर उसकी संकल्प-शक्ति को क्षीण करते जाते हैं । अन्तत: इसी कारण राजन परिस्थितियों के समक्ष समर्पण कर देता है । इस व्यूह निर्माण को इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -



राजन को अलग-अलग स्तरों पर इन चारों से संघर्ष करना पड़ता है और अन्त में ये चारों मिलकर राजन की इच्छा शक्ति को विजित कर लेते हैं। विमल और पिता जी एक प्रकार से व्यक्ति के साथ पारिवारिक दायित्व के संघर्ष को प्रकट करने वाले आयाम हैं। दूसरी ओ, गयादत्त और आत्मन बहिर्जगत में प्राप्त सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों के व्यक्ति के साथ हो रहे संघर्ष को प्रकट करने वाले चरित्र हैं। ये ही राजन के अन्तर्व्यक्तित्व के दो भिन्न पक्षों- यथार्थ और आदर्श को प्रकट करनेवाले संकेतों के रूप में व्यक्त हुए हैं। इस प्रकार राजन एक बहुमुखी घेरे में बंधा अन्तोगत्वा व्यवस्था का पुतला मात्र बनकर रह जाता है।

राजन को उसकी पारीवारिक प्रतिबद्धता का अनुभव कराने वाली यथार्थ पात्रा के रूप में विमल की मात महत्वपूर्ण है। 'बाई-इलेक्शन' के भ्रष्टाचार में बलात भागीदार बनाये जाने और केजरीवाल के गोदाम की सील तुड़वाने के लिये पड़ रहे दबावों के विरोध में राजन त्यागपत्र देने का विचार करता है किन्तु विमल के प्रश्नों के समक्ष जैसे वह परास्त होने लगता है और उसका संकल्प डगमगा उठता है।

विमल- अपने से बाहर के लोग सिर्फ हमारी बाहरी चीजों से जुड़े होते हैं।
राजन- तुम्हारे खयालात इतने छोटे हैं!
विमल- देखा नहीं, 'रिजिग्नेशन' की बात सुनते ही दौड़े हुए पिता जी आये।
राजन- मैंने उनसे साफ कह दिया।
विमल- अपने बच्चों से कैसे कहोगे ?
राजन- जैसे सबके बच्चे घर में रहकर पढ़ते हैं, वे भी रहेंगे।
विमल- और मुझे क्या कहोगे ?
राजन- तुम्हें-------?

(सन्नाटा)

विमल- हमने प्रेम-विवाह किया है । तुम मुझे अभाव में नहीं रख सकते । तुम्हारे सारे दोस्त-रिश्तेदार ऐसे हैं जिनके बच्चे केवल कान्वेण्ट में पढ़ते हैं, जिनकी बड़ी-बड़ी शादियां हुई हैं----तुम इतने ईमानदार, जिम्मेदार और जज्बाती इन्सान रहे हो----- तुम्हारे कुछ अपने उसूल भी रहे हैं--- उनके लिये हमने-----[१] यहां विमल की मूल्यविहीन अपेक्षाओं की दीवार से टकराकर राजन का संकल्प टूटने लगता है ।

पिता जी की सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टि वह दूसरी मात है जो राजन के विद्रोह की आग में ठण्डा जल डालने का कार्य करती है । विमल की अपेक्षा पिता जी द्वारा राजन को कलक्टर बने रहने और पदोन्नति को स्वीकार करने के लिये डाला गया दबाव परोक्ष है । गयादत्त और केजरीवाल से उनकी मित्रता राजन को हर क्षण पीड़ित करती है और अन्तत: उसे उस पीड़ा के समक्ष आत्म-समर्पण के अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं सूझता । इसी कारण गयादत्त द्वारा आत्मन की हत्या किये जाने पर वे राजन को बलात यह स्वीकार कराने में सफल हो जाते हैं कि उसने (आत्मन) आत्महत्या की है । राजन का आदर्श यहां उसी के पिता द्वारा ध्वस्त कर दिया जाता है -

गयादत्त- कहिये वकील साहब, केस खुदकुशी का है न ?

पिता- इस जगह गोली लगी है और पिस्टल भी उसके दाहें हाथ के पास पड़ी है । मुंह के बल गिरना दूसरा सबूत है ।

गयादत्त- बाहर ड्यूटी पर खड़ा पुलिसमैन चश्मदीद गवाह है ।

पिता- न कुछ बोलना, न कोई चीख-पुकार । यह भी सबूत है ।

राजन- (चीखकर) हां, उसने आत्महत्या की ।[२]

(तेजी से बाहर निकल जाना ।)

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० २४

२- वही- पृ० ६६

राजनीतिक मंच पर राजन की शक्ति को चुनौती देकर उसे मात करने देने वाली एक और मूल्यहीन- मूल्यविहीन प्रतिशक्ति है- गयादत्त । गयादत्त को राजन के अन्दर की उन आसुरी शक्तियों का निकाय भी कहा जा सकता है जो उसके उसूलों को बार-बार कुलती हैं । यही गयादत्त राजन को उसके चारों ओर खिंचे व्यूह का अनुभव कराता है और अन्तत: उसके आदर्शों पर विजय प्राप्त करता है -

राजन- तुम्हें मेरी ताकत का पता नहीं !

गयादत्त- यही तो है मेरा काम- ताकत की डोर का पता लगाते रहना । राजनीति और है क्या ? उसके पीछे कोई दर्शन है क्या ? (हंसना) सुना है, आप इस नौकरी से स्तीफा देकर बाहर आना चाहते हैं । याद रखियेगा, हम उल्टे सरकार से ही आप पर मुकदमे चलवायेंगे । हम सैकड़ों आदमी आपके खिलाफ गवाही देकर जो चाहें, साबित कर देंगे ।

राजन- बाहर तुमसे ज्यादा आदमी मेरे साथ होंगे ।

गयादत्त- (हंसकर) बेचारे पढ़े लिखे लोग नौकरी करेंगे या किसी का साथ देंगे । बाहर निकलना किसे कहते हैं- आपको यह तक नहीं पता ! ---भीतर रहकर ये आराम---ये सुख----आप इसे एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ सकते ।

राजन- तुम मुझे नहीं जानते ।

गयादत्त- इस जगह को जानता हूं जहां आप खड़े हैं । मैं यह भी साबित कर सकता हूं कि आपने बाई-इलेक्शन में बेइमानी की है (सन्नाटा) चलिये, टेलीफोन उठाइये---उठाइये----उठाइये----!

राजन- (चीखकर) शटअप !

(इस चीख के बाद राजन फोन करते हैं।)

राजन- यस---राजनस्पीकिंग---यस---हां, केजरीवाल के गोदाम की सील तोड़ दी जाय---फायर-आर्म्स वापस किये जायं । (फोन रखते हैं।)[1]

\+ \+ \+

राजन- थैंक्यू वेरी मच ! देखिये, मैं आप सबका हूं । प्लीज़ !

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ५६-६०

गयादत्त- बस, बस, भाई, इधर आ जाओ । क्यों साहब, क्या हाल हैं ?

राजन- आप कहिये ।

(गयादत्त मुंह में गिलास लगा सहसा हंस पड़ता है । शराब के छींटे राजन के मुंह पर पड़ते हैं ।)[१]

आत्मन राजन के व्यक्तित्व का सबसे अधिक 'बेचारा' पक्ष है । अपनी जीवित अवस्था में वह राजन को उसकी सीमाओं और प्रतिबद्धताओं से भिज्ञ कराते हुए उसकी अशक्ति को उसी के समक्ष उघाड़कर रखता रहा था, हत्या किये जाने के बाद वही राजन को 'बाहर आने', 'विरोध करने' और 'यथास्थितिवाद को चुनौती' देने के दु:खद परिणामों से अवगत करा यथास्थिति को ही स्वीकार करने की प्रेरणा देता है । उसकी प्रेरणा में मूल्यविहीनता अवश्य है लेकिन इसके लिये उसके चारों ओर फैली परिस्थितियां ही उत्तरदायी हैं । विमल, पिता जी और गयादत्त स्वार्थपूर्ण सम्बंधों से बंधे हैं, वे शिकारी हैं जबकि आत्मन निरीह शिकार । दूसरी ओर, आत्मन राजन के व्यक्तित्व का वह अंश है जिसकी हत्या उसी के व्यक्तित्व के दूसरे पहलू गयादत्त द्वारा कर दी जाती है । इस रूप में आत्मन की मुक्त -भोगिता राजन के संकल्प पर एक और आघात सिद्ध होती है -

'उठो यहां आओ---बैठो---यह लो अपना त्यागपत्र, फाड़ दो । यह केस हारा हुआ है , स्वीकार करो । यह लो 'चार्ज सर्टिफिकेट फार्म'---इस पर दस्तखत करो।[२]

आत्मन द्वारा आत्म साक्षात्कार की यही प्रक्रिया डा० शंकर शेष विरचित 'एक और द्रोणाचार्य' में भी लक्ष्य की जा सकती है जहां अरविन्द को उसकी वस्तु-स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उसके मन की अन्धेरी गलियों से निकली उसके मृत मित्र विलेन्दु(जो अपने आदर्शों के 'चूतियापे'[३] में अन्ततः मार डाला गया है) की

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ७६

२- वही- पृ० ७४

३- एक और द्रोणाचार्य से पृ० से -

प्रेरणा बारबार अरविन्द को 'स्वीकार' की तरफ मोड़ देती है-'जाओ, उस प्रेसिडेण्ट से समझौता करो, प्रिन्सीपल बनो । क्या तुम्हारी भी ख्वाहिश है कि तुम्हारी लाश के पास म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन की अध्यक्षता में शोक-सभा हो और प्रस्ताव किया जाय ?[१]

\+ \+ \+

'सब विरोध बकवास है । यदि व्यवस्था तुम्हें अपने इशारे पर भौंकनेवाला कुत्ता बनाना चाहती है तो भौंको, कुत्ते के पिल्लों को जन्म दो । चन्दू और युधिष्ठित मत पैदा करो । राजकुमार और दुर्योधन पैदा करो ।[२]

\+ \+ \+

यहां प्रासंगिक रूप में 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'एक और द्रोणाचार्य' के चिन्तन धरातल पर विचार करना समीचीन होगा । दोनों ही नाटकों की वस्तुगत विडम्बना यह है कि वे आज के नौकरीपेशा आदमी के आदर्शों के व्यावहारिकता के गलित यथार्थ के साथ संघर्ष को सामने लाते हैं और अन्ततः व्यवस्था के सामने घुटने टेकने की नियति को प्रकट करते हैं । फिर भी दोनों की भूमियों में एक मौलिक अन्तर है । 'एक और द्रोणाचार्य' की समस्या एक मिडिल-क्लास आदमी की समस्या है जिसके पास थाती के रूप में केवल बौद्धिक चिन्तन है । इसी कारण वह हर समस्या को चिन्तन-मनन के धरातल पर ग्लोरिफाई करके देखता है । इस दृष्टि से वह इस मध्यवर्गीय मनुष्य की विडम्बना को प्रकट करता है । दूसरी ओर 'मिस्टर अभिमन्यु' की समस्या एक ऐसे व्यक्ति से सम्बंधित है जो एक उच्च वर्गीय समाज से सम्बंध रखता है । उस व्यक्ति के चिन्तन में परिस्थितियों की विडम्बना-निर्धनता-नहीं है । वह सुविधा भोगी वर्ग से सम्बद्ध है और उसके समक्ष केवल सैद्धांतिक और नैतिक प्रश्न हैं जबकि 'एक और द्रोणाचार्य' के समक्ष इन प्रश्नों के साथ रोटी

१- एक और द्रोणाचार्य ' से-

२- वही-

यहां सभी प्रश्नों के मूल में है । इसीलिये 'एक और द्रोणाचार्य' के अरविन्द का संघर्ष जितना दोहरा अथच गहरा है उतना 'मिस्टर-अभिमन्यु' के राजन का नहीं । इसीलिये राजन के अन्तर्द्वन्द्व से दर्शक उतना नहीं जुड़ पाता जितना कि अरविन्द के ।

व्यवस्था के व्यूह में बंधने अथवा न बंधने, मुक्त होने अथवा न होने और विरोध करने अथवा न करने की दिशा में निर्णय लेने के लिये विमलेन्दु का चरित्र अरविन्द को प्रेरणा देने का कार्य करता है । अरविन्द हर निर्णय-चाहे वह व्यवस्था के अन्दर बने रहने से ही सम्बंधित क्यों न हो- विमलेन्दु द्वारा 'कन्वीन्स' होकर लेता है । वह विमलेन्दु के समभोगी अनुभवों से लाभ लेकर व्यावहारिक निर्णय लेता है । फलस्वरूप अपने निर्णयों के लिये वह स्वयं उत्तरदायी है । दूसरी ओर, राजन के निर्णय विमलेन्दु जैसी किसी (व्यावहारिक) कसौटी पर कसे गये नहीं है, न ही वह उन निर्णयों से 'कन्वीन्स' होता है । उसके निर्णयों की नकेल विमल(पत्नी), पिता जी, गयादत्त अथवा आत्मन के हाथ में है । वे राजन पर थोपे गये हैं । अतस्व उनके लिये राजन उत्तरदायी नहीं है । यह कहा जा सकता है कि अरविन्द के निर्णय स्वविवेक का आधार लिये हुए हैं जबकि राजन के निर्णय उसके अपने नहीं है- अरविन्द व्यवस्था के व्यूह में बंधता है जबकि राजन बांधा जाता है । दोनों ही युद्ध का संकल्प करने पर भी लड़ नहीं पाते क्योंकि उनकी शक्ति आतिश की तरह छूटकर फिर लौटकर उपशत हो जाती है ।

'मिस्टर-अभिमन्यु' के नायक राजन की हार नाटक के 'मूड' को अन्ततः हताशा से भर देता है । लेकिन इस हताशा के मध्य से एक चरित्रोपलब्धि तो अवश्य सामने आती है और वह यह कि उसे(राजन) अपने चक्रव्यूह में बंधे होने का 'एहसास' तो है जो उसका अपना है और जो अन्त तक नहीं मिटता । राजन जैसे आभिजात्य वर्गीय व्यक्ति में यह 'एहसास' होना भी एक आश्चर्य है और यदि यह राजन में नहीं

होता तो वह उन आम नौकरी पेशा लोगों से भिन्न नहीं होता जो पूर्णत: व्यवस्था के होकर जीते हैं ।

नाटक का नायक राजन अनेक प्रकार के चक्रव्यूहों में घिरा है । ये व्यूह बाहरी परिवेश में भी हैं और उसके अन्दर भी । इन्हीं के मध्य राजन का संकल्प डगमगाता है और अन्तत: टूट जाता है । इन व्यूहों को नाटक में स्थान-स्थान पर स्वयं राजन एवं अन्य चरित्रों के सम्वादों में लक्ष्य किया जा सकता है । जब राजन यह कहता है कि-`यहां हर आदमी जैसे एक दूसरे के रास्ते पर खड़ा है । मैं खुद खड़ा हूं दूसरे के रास्ते पर`- तो वह उन अनेक व्यूहों की ओर संकेत करता है जो उसकी इच्छा-शक्ति के विविध पहलुओं के चारों ओर बने हुए हैं -

१- बुद्धिजीविता पर पालिटिक्स का व्यूह-`मिस्टर आत्मन ! आप जैसे पढ़े लिखे लोगों को इस जलील पालिटिक्स में नहीं आनाचाहिये ।`

२- राजनीति पर नौकरशाही का व्यूह-`राजनीति म को भी नौकरशाही ने बेहूदा बनाया । यहां इस तरह नौकरी की परिकल्पना अंग्रेजों की थी ।`

३- आज्ञा पर इच्छा का व्यूह- राजन-यह आपकी सरकार है `यह `फुल कैबिनेट डिसीजन है कि तमाम बकाया टैक्स वसूल किया जाय । मैं एक तरह से आपकी ही आज्ञा का पालन कर रहा हूं ।

गयादत्त- जनाब, आप आज्ञा और इच्छा के फर्क को नहीं समझते ।

४- मूल्य पर गुलामी का व्यूह- ` मैं भी तब से यह भूल ही गया---- मुझे तब इतना नहीं पता था कि यहां हर मूल्य की जड़ में वही गुलामी है । आज्ञाकारी होना किसी ऐसे चक्रव्यूह में पैर रखना है----- मुझे इस धोखे का पता नहीं था ।`

५- संकल्प पर बहाने का व्यूह- विमल-`रिजाइन` करने के लिये कोई ठोस बहाना चाहिये ।

राजन- बहाना नहीं, संकल्प ।

६- उसूलों पर जिम्मेदारियों का व्यूह - `हमने प्रेम-विवाह किया है । तुम मुझे अभाव में नहीं रख सकते । तुम्हारे सारे दोस्त-रिश्तेदार ऐसे हैं जिनके बच्चे

केवल कन्वेन्ट में पढ़ते हैं, जिनकी बड़ी बड़ी शादियां हुई हैं--- तुम इतने ईमानदार, जिम्मेदार और जज्बाती इन्सान रहे हो---तुम्हारे कुछ अपने उसूल भी रहे हैं--- उनके लिये हमने----`

७- मूल्य पर कर्तव्य व्यूह का व्यूह- `मैं भी इतना भोला-भाला नहीं था पर पिता जी ने मुझे किस तरह फंसाया ।और कर्तव्य के मूल्य पर मैं खुद यहां कितनाफंसा !

८- जीवन पर नाटक का व्यूह- `और जहां तक इन्सान की तरक्की की बात है---उसने तरक्की फरक्की कुछ नहीं की है । वह सिर्फ तरक्की, तहजीब, तमद्दुन का नाटक खेलता चला आया है । बुनियादी तौर पर दरअसल वह वहीं खड़ा है । वही डर, वही भूख, वही----`

९-उसूल पर धर्म का व्यूह- `---- पर ये उसूल क्या हैं? खुद अपनी नजर में ऊंचे उठे रहने की बैसाखी के अलावा और क्या है ?---कहते हैं राजनीति ने देश को बरबाद किया---जैसे धर्म ने कुछ कम बरबाद किया-------`

१०- मुक्ति पर बन्धन का व्यूह-`विमल याद करो, हम इस नौकरी में आये आये ही थे ।वह छोटा सा बंगला याद है न, उस कमरे की खिड़कियां खोलते ही गंगा का वह दूधिया कछार लहराने लगता था ।

विमल- कितना बेकार था वह बंगला।हमारी शादी में जितने सारे सामान मिले थे, उनके रखने तक की भी जगह नहीं थी । सारे कीमती सामान उतने दिन तक पापा के घर पड़े थे ।

राजन- उस कमरे में रहना कितना अच्छा लगता था ।

विमल- गंगा की सारी धूल कमरे में आती थी ।

राजन- खिड़कियां खोलकर सोना स्वर्ग जैसा लगता था ।

विमल- कितने मच्छर थे वहां ।

११- सेक्स पर परिवेश का व्यूह- विमल- तब इन हाथों को तुम इतनी आसानी से नहीं छोड़ते थे । इसे छूते ही हम दोनों के हाथ जैसे कांपने लगते थे---तब तुम मुझे खींचकर अपने अंक में----

राजन- सब यह एन्वायरनमेण्ट नहीं था ।

विमल- पर उसके लिये यह बेहद जरूरी था ।

१२- अतीत पर वर्तमान का व्यूह- हम वही चीज़ भूलते गये जिसके लिये हमने इतना सारा एन्वायरनमेण्ट बनाया ।

१३- फ्री पर डिटरमिण्ड, मूवर पर मूव्ड का व्यूह- क्रान्ति---इन्फेक्ट आई फील, मेनहेज कम टू सी हिम सेल्फ नाट एज़ ए फ्री बट एज़ डिटरमिण्ट । नाट एज़ ए मूवर, बट एज़ मूव्ड । ही इज़ लाइक ए ब्लाइण्ड फंगस, कास्मिक वेस्ट आफ मैटर-----

१४- रचना पर अर्थ और समाज का व्यूह- आत्मन-सिर्फ इतनाजानता हूं- तुम सबने मिलकर अर्थ और समाज की जो दीवारे बनायी हैं, उन्हें पहले तोड़कर ही तब कोई बुनियादी काम हो सकता है ।

गयादत्त- तू विध्वंसक है--- तुम्हमें कोई रचनात्मक शक्ति नहीं ।

आत्मन- रचना के उस स्त्रोत को इसी काले पहाड़ ने बन्द कर रखा है ।

समग्रत: ये ही वे व्यूह हैं जो नाटक में विमल, पिता जी, गयादत्त और राजन द्वारानिर्मित किये जाते हैं और अन्तत: राजन के चारों ओर अभेद्य दीवार बनकर बनकर खड़े हो जाते हैं । इन्हीं दीवारों की ओर संकेत करते हुए श्री वीरेन्द्र नारायण ने उन्हें सम्पूर्ण नाटक में राजन को घेरते हुए दिखाया है ।इन्हींदीवारों के मध्य घुटकर राजन के शहादत पूर्ण चरित्र की हत्या हो जाती है ।

नाटक का अन्त: और बहिर्द्वन्द्व और उसका नियन्ता राजन ऐसे नाट्यायाम हैं जो नाटक के कार्य-व्यापार को प्रारंभ से अन्त तक गतिशील बनाये रखते हैं। इसी के साथ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि नाटक एक ऐसे समग्र बिम्ब का निर्माण भी करता है जो 'व्यूह में बंधे व्यक्ति' का है । इससे बाहर आने का प्रयत्न उस व्यक्ति द्वारा किया जाता है किन्तु व्यूह इतना दृढ़ है कि उसे तोड़ पाने के प्रयत्न में वह

व्यक्ति लहुलुहान हो जाता है और उसका संकल्प शनैः शनैः मर जाता है । यह बिम्ब नाटक में अनेक रंग सम्भावनाओं को जन्म देता है- दीवारों से घिरा मंच, त्रिकोण-संघर्ष के लिये निश्चित तीन बिन्दु जहां खड़े होकर आत्मन, राजन, गयादत्त दर्शक में वैचारिक चेतना को प्रबोध दे सकें । इस 'घेराव' के मध्य घटने वाला कार्य-व्यापार नाटक की आस्वादन-प्रक्रिया को अधिक तीक्ष्ण बनासकता है ।

नाटकीय कार्य को तीक्ष्ण और क्षिप्र बनाने की दृष्टि से और दर्शक की रुचि-रेखा को नियंत्रित करने की दृष्टि से नाटक के निम्नांकित बिन्दु महत्वपूर्ण भूमिका का निवाहि करते हैं -

१- मिस्टर अभिमन्यु के विशेष संगीत के साथ राजन पर प्रकाश आना-राजन का टूटी मूर्ति को एकटक निहारना और हल्की सी हंसी हंसना ।फाइल को फाडने का संघर्ष ।

२- पिता-पुत्र का वार्तालाप और राजन द्वारा त्यागपत्र दिये जाने के निर्णय के कारणों पर प्रकाश डालना ।

३- राजन और आत्मन का वार्तालाप ।

~~०००~~

२- पिता-पुत्र के वार्तालाप में पिता जी द्वारा राजन को समझाया जाना व राजन का असन्तोष ।

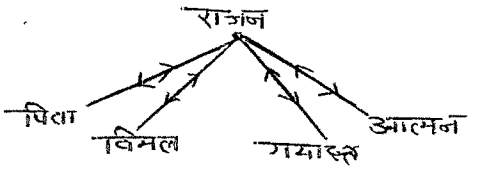
३- आत्मन व राजन का वार्तालाप और दोनों का एक दूसरे के प्रति विरोधी रुख

४- गयादत्त व राजन का वार्तालाप और राजन को साम,दाम,भेद से अपना बनाने का प्रयत्न ।

५- विमल न व राजन का वार्तालाप और राजन को अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करना ।

प्रथम अंक के प्रथम दृश्य के उपर्युक्त कार्य-बिन्दु आस्वाद की प्रक्रिया को आन्तरिक उहापोह के स्तर पे ले जाते हैं । दर्शक राजन के निर्णय की दिशा के सम्बंध

मैं ~~अब~~ आश्वस्त नहीं हो पाता फलत: तनाव की स्थिति बनी ही रहती है । इस तनावपूर्ण स्थिति में दर्शक राजन के त्रिशंकु हो जाने की स्थिति को स्वयं में अनुभव करने लगता है -



६- राजन को ,पिता जी के केजरीवाल के घर जाने की सूचना मिलना, गयादत्त द्वारा उसके दूकान के बिलों को चुकाने की बात ज्ञात होना । दोनों द्वारा राजन पर अपने-अपने ढंग से व्यूह निर्माण करना ।

७- राजन का केजरीवाल के घर से `टेप` पकड़ने व सभी भ्रष्टाचारों को चुनौती देने का संकल्प किन्तु उसके `गले में कुछ अटकने` का अनुभव होना और `व्यवस्था के चारों ओर बातों का पहरा देने ` की मन:स्थिति उत्पन्न होना ।

प्रथम अंक के उक्त द्वितीय दृश्य में राजन का संकल्प और चुनौती का सामना करने का निश्चय शनै: शनै: समर्पण की सीमा तक पहुंचता प्रतीत होता है । राजन के इस कथन से कि- `मेरे गले के भीतर---(कुछ अटक सा गया है) जैसे कोई व्यवस्था घर कर गयी हो और मैं उसके चारों ओर केवल बातों से पहरा देता रहा हूं--- मैं फिर भी अपनी वह बात नहीं कह पाया ।[१] - उसका चरम पर पहुंचा उत्साह नष्ट होता प्रतीत होता है । फलत: दर्शक के मानस रंगमंच पर कायत्व के उक्त रूप का समग्र प्रभाव इस प्रकार क्रमश: नीचे उतरता देखा जा सकता है -

टेप पकड़ने, `मैं क्या हूं
उत्तर देने का समय आ गया`
जैसे उद्गारों का राजन द्वारा
अपने संकल्प को दृढ़ करने हेतु
निसृत किया जाना ।

`मेरे गले के भीतर जैसे कोई व्यवस्था घर कर गयी है-राजन को कृत-संकल्पता का शनै:शनै: प्रभाव खोना ।

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ३४

८- राजन और विमल का पारस्परिक सम्वाद और राजन द्वारा जीवन की सहजता व नैसर्गिकता के खो जाने का दुख व्यक्त करना । 'टूटी हुई मूर्ति' की उपस्थिति से खंडित जीवन की अनुभूति होना ।

९- राजन के ही दो अन्त: रूपों- गयादत्त व आत्मन से राजन का साक्षात्कार और उनसे राजन को यह ज्ञान होना कि- 'अपने से इन्हें अलग कर अकेले बाहर नहीं निकला जा सकता'

१०- राजन के अन्तर्विरोधों के संसार से अलग विमल का संसार- कृत्रिम समाज और वातावरण से पूर्ण जिसमें राजन के बौद्धिक चिन्तन के लिये कोई अवकाश नहीं है ।

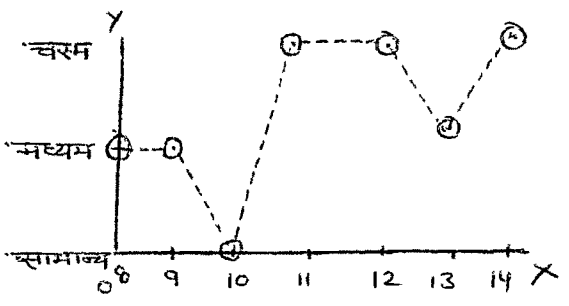
११- गयादत्त की व्यावहारिक राजनीति से राजन का टकराव- और हार- केजरीवाल के गोदाम की सील तुड़वाना और फायर-आर्म्स वापस कराना ।

१२- आत्मन की हत्या को गयादत्त और पिता जी द्वारा आत्महत्या के केस में बदल दिया जाना और राजन का इनसे सहमत होना ।

१३- राजन का अपने ही अन्दर के राजन(आत्मन) से साक्षात्कार और उसे यथा-स्थितिवाद को स्वीकार कर लेने की प्रेरणा देना ।

१४- पदोन्नति को स्वीकार कर गयादत्त के समक्ष राजन का पहुंचना और राजन के मुंह पर गयादत्त द्वारा शराब के छींटें उछालना ।

दूसरे अंक के उपर्युक्त कार्य बिन्दु नाटक के चरम कार्य व्यापार के अंश हैं । फलत: उनमें पर्याप्त गति और नाटकीय द्वन्द्व की अन्तर्हितता देखने मिलती है । दर्शक के मन पर उक्त कार्य बिन्दुओं के पड़े प्रभाव के आरोहावरोह को इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -



वस्तुत: 'मिस्टर-अभिमन्यु' में राजन का अन्तर्द्वन्द्व ही सभी बहिर्द्वन्द्वों एवं उनसे निर्मित कार्यों का नियामक है। ऐसे में, राजन के साथ दर्शकों का तादात्म्य मानसिक स्तर पर होता है । मानसिक-स्तर पर राजन का उहापोह ही उसके समाज, राजनीति के साथ संघर्ष को निर्धारित करता है।

इस प्रकार समानान्तर संघर्ष द्वारा ही राजन अपनी विडम्बना और समाज व राजनितिक के व्यंग्य को व्यक्त करता है ।

नाटकीय कार्य-व्यापार द्वारा काव्यत्व का संघटन स्वयं में निरपेक्ष न होकर सम्वाद, दृश्यत्व और ध्वनि-प्रकाश योजना के सापेक्ष है । विरोधी विचारों के परस्पर टकराने सर से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है, उसे राजन और उसके चारों ओर व्यूह उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों के मध्य हुए सम्वादों में लक्ष्य किया जा सकता है । नाटक का प्रारम्भ ही ऐसे तनावपूर्ण सम्वाद द्वारा होता है । विमल द्वारा बार- बार `सुनिये` `देखिये दस बज गये`, `मुझे बताइये मैं कुछ` कहे जाने पर भी राजन का कुछ न बोलना ही राजन के अन्दर की तनावपूर्ण स्थिति की व्यंजना कर देता है । टूटी हुई मूर्ति को एक टक निहारना, बच्चे के लोह तरंग खिलौने से खेलना इस तनाव को अधिक गहरा देते हैं । पिता जी का प्रवेश राजन के लिये अपने तनाव को अभिव्यक्त करने का एक अवसर है और इसका लाभ उठा राजन अपनी गुत्थियों को खोल कर रख देता है । पिता के साथ उसके सम्वादों में उसका चरित्रोद्घाटन तो है ही नाटक की उस भव्य `ईहा` का भी प्रतिपादन है जो सम्पूर्ण नाटक में आदि से अन्त तक छायी हुई है । पिता और राजन के निम्नांकित सम्वाद में उक्त ईहा और उसकी प्राप्ति के लिये संकल्प-शक्ति संचयन देखने को मिलता है-

राजन- `बाई-इलेक्शन` में सरकारी पार्टी के उम्मीदवार गयादत्त की जो जीत हुई है , मंत्री जी ने मुझसे कहा, `पार्टी को जरा भी उम्मीद न थी कि हमारी जीत होती, पर मिस्टर राजन, आपकी मदद ने जो कमाल दिखाया हमें उससे बेहद खुशी हुई----आपका कमिश्नर होना मुबारक हो। उनका मतलब था, `बाई-इलेक्शन` में मैंने बेइमानी की है. और यह कमिश्नरी मुझे उसी के इनाम में दी गयी है ।-----`दिस इज़ समथिंग हारिबुल ।`

पिता- उनके कहने से क्या होता है ?----

राजन- अब उन्हीं के कहने से सब होता है ।

पिता- पर तुम अपनी जगह पर हो ।

राजन- नहीं , यहां हर आदमी जैसे एक दूसरे के रास्ते पर खड़ा है । मैं खुद खड़ा हूं दूसरे के रास्ते पर । यह नौकरी किसी और की थी ।---[१]

यह अन्तिम अंश ही नाटककी वह स्थापना है जिसके विरुद्ध राजन आवाज उठाना चाहता है, विरोध करना चाहता है और इस प्रकार अपनी `ईहा` को सफल करना चाहता है । यहीं से नाटक स्पष्ट रूप से दो मार्गों पर विभाजित हो जाता है- `ईहा` और `उसे समाप्त करने वाली शक्तियां । राजन और गयादत्त, राजन और विमल एवं राजन और पिता जी सभी के सम्वादों में यही द्वन्द्व देखने में आता है । आत्मन के साथ राजन के सम्वादों का एक विशेष प्रयोजन है । यहां आत्मन राजन के संकल्प की थाह तक पहुंचकर उसके विरोध की `सच्चाई ` की सीमा को परखना चाहता है । एक प्रकार से वह राजन की शक्ति को मापता है । इसी माप में राजन के साथ उसके सम्वादों में वह अतिरिक्त गति मिलती है जो अन्य के साथ हुए सम्वादों में नहीं मिलती ।-

राजन- मिस्टर आत्मन ! आप जैसे पढ़े लिखे लोगों को इस जलील पालिटिक्स में नहीं आना चाहिये ।

आत्मन- यानी नौकरी करनी चाहिये ?

राजन- नौकरी को राजनीति ने गंदा किया ।

आत्मन- राजनीति को भी नौकरशाही ने बेहूदा बनाया । यहां इस तरह नौकरी की परिकल्पना अंग्रेजों ने की थी । गुलामों पर गुलामों से शासन कराना और जिन्दगी की सहज धार को हर मोड़ पर लाल फीते से बांध देना ।

राजन- वहीं से आपकी राजनीति भी तो आयी है ।

आत्मन- सब कुछ वहीं से आया है ।

राजन- पर अब तो यहां अंग्रेज नहीं हैं

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ५

आत्मन- मगर सत्ता का आधार वही है ।

राजन- आप इसे बदलते क्यों नहीं । इतने बड़े लेबर लीडर हैं और पिट गये गयादत्त से।

आत्मन- (हंसने लगता है) अजी, न जाने कितनी बार पिछा हूं । तब से आज कितने वर्ष हो गये---- दो दो बार जनरल इलेक्शन में हारा, इस तीसरी बार 'बाई-इलेक्शन' में । कः सात बार जेल काट आया । टियर गैस,लाठी-चार्ज -----यह तो जैसे भोजन हो गया ।---और दरअसल वह बुनियादी काम वहीं का वहीं रह गया ।

राजन- वहीं का वहीं रह गया ?

आत्मन- बल्कि उस पर धीरे धीरे जंग चढ़ गया ।[१]

राजन की हर बात को आत्मन एक तीक्ष्ण काट देता है और लगता है राजन उसके तथ्यों से किसी सीमा तक सहमत होता है । उक्त सम्वादों में राजन का किताबी आदर्श आत्मन के भोगे हुए यथार्थ से टकराकर टूट जाता है और राजन को यह कह पाने को बाध्य होना पड़ता है-'तो गयादत्त से कुछ कहना बेकार है । श्री-------(श्री आता है) गयादत्त से बोलो, अब वक्त नहीं । तशरीफ ले जांय ।---[२]

'मिस्टर अभिमन्यु' के सम्वादों में शब्द-संयोजन ही चरित्र के भावों या मन: स्थिति को प्रकट करने में अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं । ~~तिल-भर~~ तिस पर भी पूरे सम्वाद में एक या दो शब्द या वाक्यांशों का ही महत्व होता है । ऐसे में लम्बे सम्वादों की सार्थकता एक प्रश्नचिन्ह बनकर उपस्थित होती है । इस दुविधा के हलके लिये अभिनेता को सम्भावित प्रयत्न करने की छूट के पूरे अवसर हैं । वह पूर्ण सम्वाद में ऐसे केन्द्रीय शब्दों को बलाघात द्वारा श्रोता के कानों तक अपेक्षित प्रभाव के साथ पहुंचा सकता है । ऐसे शब्दों को निम्नांकित सम्वादों में लक्ष्य किया जा सकता है । -

---

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ११

२- वही- पृ० १२

'मगर उस विरोध की सीमा से कभी बाहर तो निकल नहीं सका । (हंसता है) और जिसके हम विरोधी हैं, उसने अपने आप में ऐसी ताकत पैदा कर ली है कि विरोध के हर रूप को वह हज़म कर लेता है ।---- लगता है, वही हमारे विरोध का अब संचालन भी करता है ।'[१]

+ + +

' बेटे, कहीं कुछ फर्क नहीं पड़ता । बहुत पुरानी और न जाने कितनी बड़ी यह दुनियां है । इसकी कोई थाह नहीं । जो कुछ भी कोई कह दे, हमें उसी पर यकीन करना पड़ता है । और जहां तक इन्सान की तरक्की की बात है----उसने तरक्की-फरक्की कुछ नहीं की है । वह सिर्फ तरक्की,तहज़ीब, तमद्दुन का नाटक खेलता चला आया है । बुनियादी तौर पर दरअसल वह वहीं खड़ा है । वही डर,वही भूख,वही----'[२]

+ + +

'खुद हारकर, फिर अपने एक-एक अंग से लड़ने का नाटक । आत्मन से तेरा कोई सम्बन्ध नहीं । वह तुझसे तभी छूट गया, जब तू यहां घुसा । उसी के बाद ही मैं जन्मा हूं । आत्मन, गयादत्त, राजन, केजरीवाल- सबसे अपने चारों ओर नकली लड़ाई का एक चक्रव्यूह ।----'[३]

+ + +

उपर्युक्त रेखांकित शब्दों पर नाटकीयमनोभाव(mood) आश्रित होते हैं । फलत: अभिनेता के लिये इनके प्रयोग में कौशल की अपेक्षा की जाती है । यहां यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त सम्वाद चरित्र विशेष की संवेगात्मक स्थिति में उच्चरित किये गये हैं ।

१- मिस्टर अभिमन्यु- पृ० ११

२- वही- पृ० ३२

३- वही- पृ० ७४

इस कारण उनमें उपयुक्त उतार-चढ़ाव है, साथ ही अभिनयात्मक लय भी । लेकिन उन सम्वादों में जहां तर्कना-शक्ति का प्रयोग किया गया है और बौद्धिक विवाद को स्थान दिया गया है, यह अभिनयात्मक -लय और संवेगात्मक उतार-चढ़ाव की सम्भावना नहीं की जा सकती । फलत: शब्दों की संयोजना श्रोता के कानों में धीरे-धीरे प्रभाव डालती है -

विमल- तब इन हाथों को तुम इतनी आसानी से नहीं छोडते थे । इसे छूते ही हम दोनों के हाथ जैसे कांपने लगते थे----तुम मुझे खींचकर अपने अंक में----

राजन- तब यह 'एन्चायरनमेन्ट' नहीं था ।

विमल- पर उसके लिये यह बेहद जरूरी था ।

राजन- बस---बस, बन्द करो यह नाटक । हम बातों से इस शून्य को नहीं भर सकते ।

विमल- मर बातें तुमने शुरू कीं ।

राजन- वजह तुम हो ।

विमल- पर बुनियाद तुम हो ।

राजन- गलत, जो आज मेरे चारों ओर है वह मैंने नहीं चाहा ।

विमल- तुमने इसका विरोध कब किया ?

राजन- विमल !

विमल- तुमने जो चाहा, वही वही मैं बनती गयी । वही वही चीजें तुम्हारे चारों ओर आती गयीं । यह टूटी हुई मूर्ति, यह तस्वीर तुम्हारी ही पसन्द है ।----- मैं सब कुछ वही करती गयी ।---वही बनती गयी--- जो तुमने पसन्द किया । यहां तक कि कपड़े भी मैंने तुम्हारी हीपसन्द के पहने । मैं तो आज तक कुछ नहीं बोली ----[१]

१- मिस्टर अभिमन्यु-पृ० ४०-४१

उपर्युक्त सम्वाद में प्रयुक्त तर्क पति-पत्नी के पारिवारिक द्वन्द्व को तो प्रकट करता है, परस्पर असन्तोष से उत्पन्न तनाव की भी अभिव्यक्ति करता है लेकिन उससे उस अभिनयात्मक ऊष्मा की उत्पत्ति नहीं हो पाती जो नाटक को क्षिप्र प्रभाव के स्तर तक उठा सके। ऐसे सम्वादों के प्रभाव को डा० रघुवंश के इस कथन द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है- ' बौद्धिक उतार चढ़ाव की स्थिति में तर्कशील भाषा में स्वर लय के क्रम की सीमा कम हो जाती है। विचार में विभिन्नता बलाघात तथा उतार-चढ़ाव के प्रयत्नों के द्वारा व्यक्त की जाती है। परन्तु विचारात्मक वाक्यों में स्वर लय का क्रम अधिक समतल होता है।[१]

स्वर-लय के उतार चढ़ाव अथवा समतलता के साथ ही सम्वादों के उच्चारण में प्रयुक्त समय की गति का प्रश्न जुड़ा है। यह निर्विवाद सत्य है कि संवेगात्मक सम्वादों में वक्ता के स्वर में व्यवधान आ जाता है- चाहे वह हर्षातिरेक के कारण हो अथवा विषाद के कारण। ऐसे में खण्ड खण्ड वाक्यों या शब्दों का प्रयोग नाटकीय प्रभाव के लिये वांछित होता है। प्रस्तुत नाटक में कतिपय स्थानों में इन संवेगों को प्रकट करने के लिये विस्मयादि बोधक चिन्हों अथवा डाट-चिन्हों का प्रयोग किया गया है जो प्रसंगानुकूल हैं -

' मेरे गले के भीतर---(कुछ अटक सा गया है) जैसे कोई व्यवस्था घर कर गयी है। और मैं उसके चारों ओर केवल बातों से पहरा देता रहा हूं ---- मैं फिर भी अपनी वह बात नहीं कह पाया। तुम कह लेती हो, पिता जी कह लेते हैं-----[२]

\+ + +

गयादत्त- अब बताओ, सबसे ज्यादा ताकतवर कौन है ?

राजन- तुम !

गयादत्त- तुम !

आत्मन)
गयादत्त)- तुम !

१- मि० अभिमन्यु- पृ० १७१

२- वही- पृ० ३४

गयादत्त- अपने से हमें अलग कर अब अकेले बाहर जाना चाहते हो । पता है बाहर क्या है ? मैं ।[१]

\+ + +

राजन- तुझे अब तेरा यहीसत्य बचा सकता है, और कुछ नहीं---कोई नहीं ।

राजन- चुप रह, बेशर्म !

राजन- लोग यही कहेंगे तुझे ।

राजन- तेरी जबान खींच लूंगा !

राजन- तू आगे कुछ नहीं बोल सकेगा ।

राजन- तू यहां से चला जा !

राजन- तुम्हीं तो कुछ ढूंढ रहे थे ।----- । इसमें, इसमें----इसमें----इसमें-----
(दौड़कर फाइल को उलट देता है) कागज हवा में उड़ता है।)

राजन- तेरी यह हिम्मत----बदतमीज़ ।[२]

\+ + +

'मिस्टर अभिमन्यु' में यथार्थ और अयथार्थ-दोनों प्रकार के फार्म का प्रयोग किया गया है । फैन्टेसी के रूप में राजन और आत्मन का सम्वाद ऐसा ही एक अयथार्थवादी प्रयोग है । राजन के व्यक्तित्व के से दो पहलुओं के पारस्परिक विरोध को स्पष्ट करने में यह अयथार्थ प्रयोग उपयुक्त है । इसे गहरे प्रकाश और ध्वनि द्वारा अनुकूल प्रभाव प्रदान किया जा सकता है । पर्दा उठने पर मिस्टर अभिमन्यु का एक विशेष संगीत अन्धेरे में कुछ क्षणों तक तिरते रहना' सार्थक नाट्यानुभूति प्रदान करने वाला रंग-निर्देश है किन्तु वह किस अवधारणा को प्रकट करने के लिये है, यह अस्पष्ट है। सम्भवत: यह 'विशेष संगीत' राजन के जीवन और व्यक्तित्व का ही वैशिष्ट्य हो ।

१- मि० अभिमन्यु- पृ० ४७

२- वही- पृ० ७१

`टूटी हुई मूर्ति ` राजन के कमरे की सजावट का एक अंग बन कर सामने आती है । फलत: राजन के खण्डित व्यक्तित्व को उभारने में वह नाटकीय प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाती जो `आधे अधूरे` की `टूटी कुर्सी` । बच्चे के लौह-तरंग खिलौने का विमल का बजाना और समान्तर रूप से राजन का फाइल फाड़ने के लिये संघर्ष करना- विमल और राजन की विपरीत मन: स्थिति प्रकट करने हेतु है लेकिन वह भी दर्शकों की केन्द्र दृष्टि में न बन आने से अपनी अर्थवत्ता खो देता है । समग्रत: `मिस्टर अभिमन्यु` की वैचारिक अवधारणा- व्यूह में फंसे अभिमन्यु- स्वयं में एक मौलिक दृश्य-परिकल्पना की सम्भावनाओं को उजागर करती है । श्री वीरेन्द्र नारायण द्वारा चार दीवारें पूरी होने की परिकल्पना और उससे निर्मित मौलिक दृश्य बन्ध नाटक की वैचारिक अवधारणा से ही विनिर्मित है । वस्तुत: नाटक का कथ्य ही स्वयं में दृश्य-बन्ध की सम्भावनाएं छिपाये हुए है ।

`सूर्यमुख` ,`कलंकी` और`मिस्टर अभिमन्यु`- तीनों ही नाटक चिन्तन के धरातल पर ऐक्य की स्थापना करने के कारण एक रचना-युग का निर्माण करने वाले हैं । यह एक्य या समानता इस रूप में लक्ष्य की जा सकती है :-

तीनों ही नाटक यथास्थितिवाद को चुनौती देकर प्रश्न करने का साहस करने वाले हैं । `सूर्यमुख` में प्रश्न करने के साहस का परिणाम प्रद्युम्न और वेनुरती का आत्म-बलिदान होता है,`कलंकी` में इस साहस का दुष्परिणाम हेरूप को भोगना पड़ता है - उसकी हत्या कर दी जाती है,`मिस्टर अभिमन्यु` में प्रश्न करने का साहस संकल्प से प्रारम्भ होकर कायरता पूर्ण समर्पण पर जाकर समाप्त हो जाता है । `सूर्यमुख` नाटकमें का बलिदान नाटकों के उद्देश्य की असफलता नहीं है क्योंकि वह एक नये युग का स्थापक बनने में सहायक होता है । दूसरी ओर,`कलंकी` व `मिस्टर अभिमन्यु` का अन्त नये युग की इच्छा के अन्त का सूचक है । `कलंकी` में संकल्प की शक्ति है और उसके द्वारा एक समर्पित संघर्ष भी है जबकि `मिस्टर अभिमन्यु` में संकल्प-विकल्प के मध्य पड़े एक असन्तुलित इच्छा-शक्ति के संघर्ष का चित्रण है । इसीलिये `मिस्टर अभिमन्यु` चिन्तन के धरातल पर सबसे अधिक निराश करने वाला है ।

दूसरी ओर, यही हमारे जीवन का सबसे अधिक यथार्थ और कटु सत्य भी है । फलत: पाठक व दर्शक के लिये सबसे अधिक निकट भी । तीनों नाटक आधुनिक युग के उस राजनीतिक व्यूह को प्रत्यक्ष करने वाले हैं जो किसी न किसी रूप में आज के मनुष्य के चारों ओर घिरा हुआ है ।

- अभिव्यक्ति का संकट -

(ई) सन् १९७१ से १९७५ तक के नाटक :

परिस्थितियां और रचनात्मक धरातल पर इनका प्रभाव :

संघर्ष के मध्य गुजरकर आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया से निकलने पर नाटककार को जो व्यक्ति और जीवन सत्य प्राप्त हुआ था, उसका सारांश यह था कि मनुष्य अपने अन्दर और बाहर एक ऐसे चक्रव्यूह में फंसा हुआ मुक्त होने की कामना में छटपटा रहा है जो दिखने में एक सुविधा भोगी स्थिति है किन्तु वास्तव में जो व्यक्ति को आत्म-केन्द्रित बनाकर उसे नैतिक स्तर से च्युत करने वाली है । यह प्रक्रिया इतनी अन्तर्मुखी है कि सहज रूप से इसके साथ परिचय नहीं होता । कभी प्रद्युम्न की भांति आत्मत्व पर विद्रोह से तो कभी कलेक्टर राजन की भांति `व्यवस्था का अंग होकर` और कभी व्यवस्था द्वारा हृत हेरूप के रूप में । सभी स्थितियों में अपनी वैचारिक स्वतंत्रता के शनै: शनै: स्थापित व्यवस्था के हाथों छिनते जाने का अनुभव नाटककार को होने लगा और इस अनपेक्षित स्थिति से त्राण पाकर स्वयं को राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी स्तरों पर उक्त चक्रव्यूहों से मुक्त हो अभिव्यक्त करने की समस्या उसे छटपटाने लगी । आत्म साक्षात्कार `सूर्यमुख`, `कल्की` और मिस्टर अभिमन्यु` में भी था लेकिन यहां उसको उजागर भर किया गया था और अन्तत: चरित्रों के दु:खद अवसान द्वारा एक हारी हुई लड़ाई की ओर संकेत भर किया गया था। ~~और अन्तत: चरित्रों के~~ लेकिन अब नाटककार को परिस्थितियों से टक्कर लेकर व्यक्ति के अन्दर की छटपटाहट को कुण्ठारहित निर्णय पर पहुंचाने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा । यह एक प्रकार से रचनाकार के मानस में अनुभूति से अभिव्यक्ति की ओर संक्रमण था जिसके परिणाम स्वरूप एक नये मार्ग की खोज के लिये तैयार

होने का आह्वान किया गया था । `करफ्यू` ,`अब्दुल्ला दीवाना`,`व्यक्तिगत` और `नरसिंह कथा` इसी संक्रमणकालीन मानसिकता को अभिव्यक्ति देते हैं । इन नाटकों को `सूर्यमुख`,`कलंकी` और `मि० अभिमन्यु` की परम्परा से थोड़ा हटकर स्वीकार करना चाहिये क्योंकि व्यक्ति के `स्व` और `पर` के साक्षात्कार से उत्पन्न पीड़ा पूर्व के नाटकों में निराशा को अधिक गहराती है और कुण्ठाओं को नष्ट नहीं कर पाती । परवर्ती नाटकों में यही निराशा कुण्ठाग्रस्त मानसिकता को समाप्त कर अभिव्यक्ति का आह्वान करने को कृत-संकल्प होती है । उसे अभिव्यक्ति का मार्ग खोजने को एक रचनात्मक संकट से गुजरना होता है, हाथ पर हाथ धरे फिर परिस्थितियों का स्वीकार भी उसे नहीं है (`कलंकी` और `मि० अभिमन्यु`) और युग-परिवर्तन के कार्य को आने वाले युग के पर छोड़ने की रोमैण्टिक प्रवृत्ति भी नहीं है (`सूर्यमुख` की तरह) । इस प्रकार ये नाटक आत्म-साक्षात्कार के स्तर पर ही अधिक आशावाद की अपेक्षा छोड़ने वाले हैं ।

अभिव्यक्ति के लिये इस प्रकार एक रचनात्मक संकट से गुजरने की यह मानस-स्थिति कैसे निर्मित हुई- इसके पीछे तत्कालीन बाह्य परिस्थितियां भी एक सीमा तक पृष्ठभूमि का निर्माण करने वाली थीं । १९७१ से १९७५ तक का समय भारतीय राजनीति और उससे पोषित समाज के लिये संघर्ष का समय कहा जा सकता है। इस संघर्ष के मूल में भारतीय राजनीति का बदलता चरित्र था- शासन में महत्वाकांक्षा से उत्पन्न अधिकारों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का शनैः शनैः फैलते जाना था । राजनीति में एक ऐसे उपभोक्ता वर्ग का जन्म हो चुका था जो अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये जन-जन को भ्रम में रखकर धीरे-धीरे उसकी शक्ति पर एकाधिकार करता जा रहा था । इसके लिये वह एक ओर प्रजातंत्रीय मूल्यों को समाप्त करने के प्रयत्न में था (स्वयं को प्रजातंत्रीय प्रतिनिधि कहकर) और दूसरी ओर राजनीति में व्याप्त महत्वाकांक्षा और अहंकार व अविश्वास को सामाजिक स्तर तक प्रसार प्रदान करने हेतु आन्दोलन का संचालन कर रहा था । राजनीति द्वारा सामाजिक मूल्यों को प्रभावित करने की इस प्रक्रिया से वास्तव में राजनीति का एक दुर्गुण समाज एवं

व्यक्ति के अन्दर संक्रामक रोग बनकर समा गया- यह था आत्मकेन्द्रित । और इससे उपजीव्य वह महत्वाकांक्षा जो सतत हड़पते ` रहने की प्रवृत्ति को जन्म देती है । इस `हड़पने ` का क्षेत्र समाज और व्यक्ति दोनों ही स्तरों पर है । उपभोग करने की इस स्वार्थी मनोवृत्ति के कारणव्यक्ति स्वयं का अन्य से सम्पर्क तोड लेता है व अपनी ही सीमाओं में बंध जाता है । इसी कारण उसमें सामाजिक मूल्यों का अस्वीकार उत्पन्न होता है और उसके जीवन से नैतिक मूल्यों की समाप्ति हो जाती है । तत्कालीन राजनीति से प्रभावित व्यक्ति और समाज में जो विघटन की क्रिया प्रारंभ की- राजनीतिक विघटन तो उसका केवल एक बाह्य रूप था । तत्कालीन भारतीय राजनीति द्वारा यहां के समाज और उसमें रहने वाले व्यक्ति पर चतुर्दिक दबाव डालकर उसे नैतिक मूल्यों से च्युत कर उसे केवल उपभोक्ता बनाने की प्रक्रिया का चरम रूप ही २६ जून १९७५ के आपात्काल के रूप में प्रकट हुआ ।

भारतीय राजनीति में महत्वाकांक्षा और अविश्वास की उत्पत्ति के समान्तर ही उसके विरोध ने भी जन्म ले लिया था । यह किसी भी राष्ट्र के राजनीतिक सन्तुलन की अनिवार्य स्थिति है । इस विरोध की प्रकृति लोक-शक्ति को तत्कालीन राजनीति के वास्तविक स्वरूप का बोध कराना था । यही वह शक्ति थी जो जनता को वस्तु स्थिति से साक्षात्कार कराकर उसे दमन के प्रति आवाज उठाने की प्रेरणा देने वाली थी । इस शक्ति का लक्ष्य जितना ऊंचा था-व्यवहारिक रूप में उसके लिये प्रयत्न उतना ही कठिन । यही एक प्रकार से अभिव्यक्ति का संकट था और उसके लिये मानसिक आलोड़न विलोड़न था । इस संकट का एक शुभ परिणाम यह हुआ कि विद्रोह में चिन्तन और उससे एक रचनात्मक दर्शन की खोज में सहायता प्राप्त हुई । इसी कारण उस यथास्थिति के युग में भी सम्पूर्ण भारत में यत्र-तत्र सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का प्रयत्न और समग्र क्रान्ति की छटपटाहट देखने को मिलती है।

साहित्य और विशेषकर नाटक समकालीन परिस्थितियों का दर्पण होता है। वह दोनों ही प्रकार का हो सकता है- यथास्थितिवाद का प्रशंसक बनकर शासन की नजरों में ऊंचा चढने के लिये एवं सत्य की अभिव्यक्ति के प्रयत्न की दिशा में प्रेरित

होता हुआ । १९७१ से १९७५ के मध्य प्रथम कोटि के साहित्यकार वस्तुत: पेशेवर राजनीतिज्ञ थे । जिन्होंने पत्र-पत्रिका एवं शासकीय अनुदानों पर चलने वाले और पलने वाले प्रकाशनों का लाभ उठाकर लेखन किया । ऐसे रचनाकारों में भी तत्कालीन राजनीति में व्याप्त महत्वाकांक्षा और अहंकार एक कंक्रामक रोग बनकर सामने आया । दूसरी ओर, मूल्यों की पुर्नप्रतिष्ठा के लिये प्रयत्नशील ऐसे वर्ग ने भी अपने लेखन को समकालीन राजनीति, समाज व व्यक्ति की ओर मोड़ा जो भारतीय प्रजातंत्र एवं समाज व्यवस्था के स्वरूप को समूल बदलने का कारण बन रहे थे । जहां प्रथम वर्ग के रचनाकार केवल तत्कालीन राजनीति, उसकी उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताने में ही अपने लेखन की इतिश्री मान रहे थे, वहां दूसरे वर्ग के रचनाकार अपने लेखन को मानव मूल्यों के विघटन के यथार्थ और उनकी पुर्नप्रतिष्ठा के लिये रचनात्मक स्तर पर एक आन्दोलन खड़ा करने का कार्य कर रहे थे । इसी आन्दोलन को डा०लाल ने अपने नाटकों में त्रि-आयाम बनाकर प्रकट करना प्रारम्भ किया । राजनीति और उससे प्रभावितव्यक्ति और समाज- यही उनके नाट्य-लेखन में अभिव्यक्ति पाने के मार्ग खोजने लगा । इस प्रकार का नाट्य-लेखन केवल डा० लाल का ही लक्ष्य न था- यह तो, जैसा कि कहा गया है, एक रचनात्मक आन्दोलन था । `करफ्यू`, `व्यक्तिगत`, `नरसिंह कथा`, `अब्दुल्ला दीवाना` के साथ `शम्बूक की हत्या`, `बकरी`, `सिंहासन खाली है`, `रस-गन्धर्व`, `तीसरा हाथी`, `मन्दिर की चारपाई`, `योअर्स फेथफुली`, `मरजीवा`, `तेन्दुआ`, `दरिन्दे` आदि नाटकों में उक्त आन्दोलन और उसमें निहित अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा को लक्ष्य किया जा सकता है ।

करफ्यू :

डा० लाल विरचित नाटक `कारफ्यू` `अभियान` द्वारा आइफैक्स के मंच पर सर्वप्रथम १२ नवम्बर १९७१ को मंचित हुआ एवं १९७२ में प्रथम प्रकाशित हुआ। तब से कानपुर, लखनऊ और कलकत्ता के रंगमंच पर इसे खेला जाता रहा है । निहित अर्थ गाम्भीर्य और गुम्फित नाट्य-बिम्बों के कारण दर्शकों के साथ सम्प्रेषण न होने के अनुभवों ने डा० लाल को इसके अन्त के पुनर्लेखन के लिये बाध्य किया । फलत:

१९७६ में इसका द्वितीय संस्करणसामने आया ।

'करफ्यू' सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में आत्म-साक्षात्कार और उससे प्राप्त सत्य के आधार पर सामाजिक जीवन की पुनर्व्याख्या करने की दिशा में एक प्रयत्न है । इसके लिये नाटकों में चार चरित्रों- गौतम, कविता, संजय और मनीषा की सृष्टि की गयी है । शहर में दंगा होने के कारण मनीषा नामक युवती गौतम नामक एक बड़े व्यापारी के घर पहुंचती है । एकान्त और परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित होकर गौतम और मनीषा एक दूसरे के प्रति समर्पित हो जाने को तैयार हो जाते हैं । लेकिन उत्तेजना के चरम क्षणों में मनीषा के अन्दर का नारी-तत्व अपने समर्पण के प्रति आश्वस्त नहीं हो पाता है और वह गौतम से छूटकर भाग जाती है । गौतम भी आत्म-ग्लानि और पश्चाताप से भर उठता है और ~~उसके~~ उसके अन्दर का वैवाहिक पुरुष उसे अपने कृत्य के लिये धिक्कारता है । दूसरी ओर गौतम की पत्नी कविता भी इस करफ्यू में संजय नामक एक मंच-अभिनेता के घर आश्रय लेने पहुंचती है । गौतम और मनीषा के समान ऐसी ही परिस्थितियों में दोनों के अन्दर का अभुक्त पशु-तत्व जाग उठता है । तभी कविता को अपने विवाहित होने का ज्ञात होती है । और वह इन असहज परिस्थिति में मुखर हुए असहज व्यक्तित्व को दबा कर रह जाती है । गौतम की भांति संजय भी आत्म ग्लानि से भर उठता है । अनुभव के इन दौरों से गुजरकर चारों चरित्रों को अपने व्यक्तित्व की वर्जनाओं का बोध होता है और वे सहज होकर विवेक तर्क की प्रक्रिया से गुजरकर इन्हें तोड़ते हैं । रात के पिछले प्रहर में गौतम व कविता एक बार फिर अपने वैवाहिक जीवन की सीमाओं में सिमट कर अपने साथ घटित घटनाओं को अभिव्यक्त करने के संकट से गुजरते हैं और अन्ततः चारों चरित्रों की एक स्थान पर उपस्थिति से यह संकट टूटता है और वे नये रूप में एक दूसरे को प्राप्त करते हैं ।

नाटक का उक्त कथानक पांच दृश्यों में प्रसरित है । इसे इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है -

पहला दृश्य- मनीषा के माध्यम से गौतम(और मनीषा) को अपने अन्दर के असहज पशु तत्व का साक्षात्कार ।

दूसरा दृश्य - कविता के माध्यम से संजय(और कविता) को अपने अन्दर के असहज, पशु तत्व का साक्षात्कार ।

तीसरा दृश्य- आत्म साक्षात्कार के बाद गौतम व मनीषा का विवेक-सम्मत परस्पर समर्पण ।

चौथा दृश्य- आत्म-साक्षात्कार के बाद संजय-कविता का विवेक-सम्मत परस्पर समर्पण ।

पांचवां दृश्य- आत्म-द्वन्द्व से गुजरकर चारों चरित्रों द्वारा सामाजिक स्तर पर, व्यक्तित्व पर लगे `करफ्यू` को तोड़ने का संकल्प ।

उपर्युक्त कथानक में निहित शब्द `करफ्यू` एक अभिनव नाट्य बिम्ब का सर्जक है । लेकिन इससे भी बढ़कर महत्वपूर्ण उसमें समाविष्ट रचनाकार का चिन्तन है । डा० लाल की चिन्तन-प्रक्रिया में यह एक अनायास मोड़ है, एक ऐसे नव-समाज शास्त्रीय व्याख्या की ओर अपने लेखन की धारा का प्रवर्तन है जिसकी पूर्व परम्परा `अन्धा कुआ` से लेकर `कल्कि` तक कहीं नहीं मिलती है । इसीलिये रचनात्मक धरातल की विकास प्रक्रिया में `करफ्यू ` की सत्ता बड़ी असहज प्रतीत होने लगती है । नव-लेखन की दिशा में इतने आकस्मित, मोड़ का प्रभाव उनकी समकालीन रचनाओं `अब्दुल्ला दीवाना`, `व्यक्तिगत`, `रूपा जीवा`, `प्रेम अपवित्र नदी`, `हरा समन्दर गोपीचन्दर` में कहीं यत्किंचित भी नहीं देखने में आता ।

नाटक में `करफ्यू` की अवधारणा, उसके व्यक्ति और समाज के मध्य फैलाव को किस रूप में व्यक्त किया गया है उसे इन पंक्तियों द्वारा स्पष्ट किया गया है -`करफ्यू वह नहीं है केवल, जो व्यवस्था द्वारा कानून और आज्ञा से किसी शहर पर, कहीं भी, किसी समय शान्ति और सुरक्षा के लिये बाहर से लगा दिया जाता है । `करफ्यू` दरअसल वह है जो स्वत: अपने आप पर लगा लिया जाता है । यह लगाया जाता है अपने सम्बन्ध-बोध पर, अपने उस दृष्टिकोण पर जहां से,बल्कि जिस चश्मे से हम दूसरों को, इस आसपास के जगत, उसके यथार्थ को देखते हैं ।---- ऐसा कहीं कुछ अदृश्य अजाना है जो उनके सम्प्रेषण को नहीं होने दे रहा है -यही है

करफ्यू । ---वह अकेला पड़ गया है उस मानसिक बौद्धिक करफ्यू के कारण जो चारों तरफ अदृश्य रूप से फैला है ।[१]

प्रश्न उत्पन्न होता है कि हमारे सम्बन्ध-बोधों पर वर्जनाओं के ये करफ्यू क्यों लगे रहते हैं ? क्यों हम सहज होकर अपने व्यवहारों का क्रियान्वयन नहीं कर पाते ? इस सन्दर्भ में सबसे पहली बात आज की परिस्थितियों में विवाह नामक संस्था की असफलता है । यह देखने में आता है कि पति-पत्नी के मध्य सम्बंधों में सुविधा-भोगिता की स्थिति है । स्त्री-पुरुष विवाह को केवल देह-सम्बंधों की पूर्ति के लिये निर्मित सुविधापूर्ण व्यवस्था के रूप में मानते हैं । इस स्थिति में कतिपय नैसर्गिक प्रदानों के कारण पुरुष-स्त्री को केवल साधन के रूप में देखता है और अपने पौरुष-गत अहं में उसका अपनी पत्नी के साथ सम्बन्ध शोषक और शोषित का हो जाता है । 'करफ्यू' पुरुष के इसी उपभोक्ता स्वरूप को समक्ष रखने वाली रचना है । गौतम और संजय- दोनों के अन्दर का पुरुष-तत्व मनीषा और कविता का उपभोग करना चाहता है । गौतम को लड़कियों की कमी-कमी नहीं रही- इस मामले में वह पालिगेमस रहा है लेकिन हर स्त्री के साथ उसका सम्बंध उपभोक्ता का है । संजय का यह रूप उसके पत्नी से लिये गये तलाक में प्रकट होता है क्योंकि उसमें पति को सन्तोष देने की 'तेजशिहत' ही नहीं रही ।-'कुछ दिन ही सही उसे महसूस किया, पूरी तरह जिया, भोगा, एक तेज शिद्दत के साथ उसे---।[२] उपभोग कीयह एकांगी प्रवृत्ति दाम्पत्य जीवन की केवल शारीरिक सम्बंधों से अधिक विस्तार प्रदान नहीं कर सकती । जीवन की यांत्रिकता में पुरुष कुछ क्षण निकालकर स्त्री को केवल शरीर के स्तर पर ही भोगकर पाता है । स्त्री के दूसरे रूपों की कल्पना की न तो उसे आवश्यकता होती है (इस अर्थजीवी युग में चिन्तन के गाम्भीर्य का अभाव होने के कारण) और न ही इसकी गुंजायश ।व्यक्तित्व के इस एकांगीपन से अनेक प्रकार की वैयक्तिक व सामाजिक वर्जनाएं उत्पन्न होती हैं । इन वर्जनाओं को उत्पन्न करने के लिये मानवीय संवेगों एवं मूल -वृत्तियों से भी अधिक पर्यावरण उत्तरदायी है । जीवन में असहजता उत्पन्न होने के ये ही कारण हैं ।

१- तब से आज तक' (वंशी कौल) ।के करफ्यू- पृ० ६

२- करफ्यू- पृ० ७७

आज के सामाजिक जीवन का सबसे कुत्सित और घातक रूप है- सेक्स के सम्बन्ध में अतिवादी धारणाएं । एक ओर हमारे समाज के एक अंग में सेक्स-सम्बंधों में अति स्वच्छन्दता देखने को मिलती है तो दूसरी ओर दूसरा अंग उसकी अतिबद्धमूलता से पीड़ित है । मध्यवर्गीय समाज इन दोनों के मध्य झूल रहा है । कभी वह यौन-व्यवहारों में अति-स्वच्छन्द होकर सम्बंधोंकी आचार-संहिता को नष्ट किये देता है और कभी वह परिवेश से प्राप्त जड़वादी संस्कारों के कारण इसे आपराधिक वृत्ति मानकर इससे दूर भागता है । सेक्स के सम्बंध में उसकी अवधारणाओं में एक प्रकार की अस्पष्टता जन्म लेती है जिसके कारण वह अपने मानस में वर्जनाएं उत्पन्नकर बैठता है । गौतम और मनीषा व संजय और कविता इसी कारण एक बार सारे कानून कायदे तोड़कर' अपने 'भीतर की चट्टान को तोड़ना' और 'निश्चित की बाट' से बाहर निकलना' चाहते हैं लेकिन दूसरे ही क्षण वे जैसे एक दूसरे से 'परिचित' होकर 'कायरता' की कहानी' दोहराते हैं । जीवन की ऐसी निश्छलता और सीमाओं में बंधी दृष्टि को तोड़ने के साहस का अभाव ही उपर्युक्त अतियों को जन्म देता है ।

'कर्फ्यू' तोड़ने की बलवती इच्छा के पीछे एक और भी कारण है । हमारी जटिल और व्यापक समाज व्यवस्था में व्यक्ति-इकाई शनैः शनैः उपेक्षित व महत्वहीन होती जा रही है । ऐसे में व्यक्ति व्यवस्था के समक्ष अपने महत्व की स्वीकृति कराना चाहता है । व्यवस्था जब अपनी सामूहिक-चिन्तना से व्यक्ति को अलग अस्तित्व-बोध के लिये जागरूक होते देखती है तो यह उसकी सामाजिक प्रकृति के प्रतिकूल सिद्ध होता है । फलतः व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के दमन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है । दमन के कारण व्यक्ति की महत्वाकांक्षाएं विफल रह जाती हैं । यही दमन व्यक्ति में वर्जनाओं के रूप में प्रकट होता है । संजय द्वारा पत्नी रूप से तलाक, कविता का पूर्व प्रेमी के साथ असफल प्रेम, मनीषा पर हुए अत्याचार और गौतम की अभुक्त पूंजीवादी मनोवृत्ति- उनमें उत्पन्न वर्जनाओं के हेतु हैं । जीवन की इन असफलताओं को छिपाने के लिये अनेक आचरणों का सहारा लिया जाता रहा है । कविता संजय के नाटक में युवती के पात्र की रिहर्सल करते हुए उसके साथ

अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है और अपने जीवन के असफल प्रेम को नाटक के संसार में प्राप्त करना चाहती है । इस प्रकार के तादात्म्य से उसके हत अहं को सन्तुष्टि प्राप्त होती है । मनीषा के साथ बलात्कार करने को तत्पर गौतम मनीषा को भी जैसे उसकी बिना अनुमति के तैयार मान लेता है । इस प्रकार की समानुभूति द्वारा ही गौतम अपने कृत्य के औचित्य को स्व-प्रमाणित कर देना चाहता है । चारों ही चरित्र सामाजिक वर्जनाओं से घिरे होने के कारण स्वयं को विभाजित व्यक्तित्व में छटपटाते हुए पाते हैं । एक ओर तो वे स्वयं को सभ्य समाज का अंग (— —) मानते हैं , ऐसे समाज का जहां एक पूर्व निश्चित मेनरिज्म है- जहां `मुस्कराने भी कायदा कानून है`, जहां `टोस्ट में मक्खन लगाने का भी एक तरीका है`, जहां `शादी के बाद नाम के चारों ओर एक दायरा खिंच जाता है`, जहां खेल खेलने का भी एक निश्चित नियम है, जहां `देखते ही आयडिया बन जाता है और उसे बदलने की जरूरत महसूस नहीं होती`, जहां `सितार पर बालरूम डांस असहज है,` जहां `अचार के साथ टोस्ट खाना भी असहज है, जहां `चूड़ी के टूटने पर शगुन के लिये धागा बांधने का रिवाज है - तो दूसरी ओर वे इन्हीं नियम-कायदों को तोड़कर अपने अन्दर के पशु को तुष्ट कर लेना चाहते हैं । इन दो रूपों को ही समय-समय पर न्यायसंगत ठहराने के लिये वे तर्क का सहारा लेते हैं, आत्म-वंचना करते हैं । वे अपनी सहज जीवन क्रियाओं को न उभरने देकर उनका दमन करते हैं और इस प्रकार उन्हें विकृत कर लेते हैं । साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरकर जब वे अपने इस विभाजित व्यक्तित्व को लक्ष्य करते हैं तो उन्हें आश्चर्य हो उठता है । तभी वे अब जीवन के एक और नाटकीय मोड से गुजरने का निश्चय करते हैं जो `सोचा समझा हुआ, निर्धारित किया हुआ` होता है । उन्हें बोध होने लगता है कि-`जो सहज है, मानवोचित है, उस पर इतनी पाबन्दी क्यों, इतना डर क्यों ? जो अपने भीतर का करफ्यू नहीं तोड़ते , वही बाहर करफ्यू लगाते हैं और उसे तोड़ने के लिये अपराध करते हैं ।[१]

१- करफ्यू—पृ०।१

'करफ्यू' में वर्जनाओं को तोड़कर उनसे मुक्त होने का जो आह्वान पांचवें दृश्य में हुआ है वह नैतिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या की ओर एक कदम है। इस पुनर्व्याख्या के लिये जिन चरित्रों का सर्जन किया गया है वे उस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं जहां पश्चिमी भौतिकवादी दर्शन आयातित होकर धीरे-धीरे हमारे सामाजिक जीवन में घर करता जा रहा है। ऐसे समाज में व्यक्ति का चिन्तन, उसका 'पढ़ा लिखा होना' एक ऐसा तत्व है जो उन्हें वर्जनाओं के औचित्यानौचित्य पर मनन करने को उत्प्रेरित करता है। लेकिन वर्जनाओं को तोड़ने का प्रश्न केवल बौद्धिक वर्ग का ही नहीं, प्रत्युत एक सामान्य मानसिकता वाले समाज का भी है। ऐसे समाज में 'सोचे समझे और निर्धारित किये फैसले' नहीं लिये जाते, वह उनकी शक्ति के बाहर भी है। ऐसे में 'करफ्यू' के तीसरे, चौथे और पांचवें दृश्य के परिणाम जहां इस नाटक के चरित्रों को असहजता से सहजता का मार्ग दर्शन कराते हैं वहां जीवन में ऐसी ही परिस्थितियों से गुजरने वाले सामान्य व्यक्ति में और भी अधिक जटिलता और आपराधिक वृत्तियों को उभारने वाले सिद्ध हो सकते हैं। ऐसे में एक अनुत्तरित प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या 'करफ्यू' का सन्देश सामाजिक सन्दर्भों की कसौटी पर खरा उतर सकता है ? नाटक में परिस्थितियों के कारण चरित्रों पर लगे करफ्यू टूटते हैं और उन्हें अपने वैयक्तिक व सामाजिक स्वरूप की पहिचान होती है। क्या जीवन में व्यक्तित्व की पहिचान की प्रक्रिया अक्सर ऐसे ही घटती है? शायद नहीं- नाटक में समर्पण की चरम अवस्था में (पहला व दूसरा दृश्य) कविता और मनीषा सिमट जाती है और अपने कर्म के औचित्यानौचित्य पर विचार करने लगती हैं। जीवन में इससे उलटा होता है। वहां समर्पण के बाद कर्म के औचित्यानौचित्य पर विचार होता है। जीवन में हर अपराध खूबसूरत होता है- उसे भोगने के बाद ही उचित-अनुचित का विचार होता है। जीवन में 'करफ्यू' की तरह नाटकीय परिस्थितियां व मोड़ कम आते हैं- आते भी हैं तो चिन्तन की ऊष्मा लेकर नहीं बल्कि आवेग के तूफान लेकर। नाटककार अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये नाटक की घटनाओं को नकेल पकड़कर घुमा सकता है, जीवन को नहीं। नाटककार

भी लगता है , जीवन में ऐसे प्रसंगों की निश्चितता के प्रति आश्वस्त नहीं है । इसीलिये वह लिखता है-' मैं मानता हूं कि शायद जीवन में ऐसा नहीं होता लेकिन मेरा विश्वास है जीवन में ऐसा क्यों न हो- और यही इस नाटक की विशेष रचना है , लेखन नहीं ।[१] नाटक के अन्त के रिचुअल मंत्र भी इसी कारण करफ्यू टूट जाने की स्थिति का बोझ न होकर प्रायश्चित सा प्रतीत होने लगता है । जिस प्रकार हर विश्वास को प्रमाणित करने के लिये उस पर भगवत् स्वीकार की मोहर लगायी जाती है वैसे ही यहां रिचुअल मंत्रों का समावेश किया ~~जनक~~ गया है । सम्भवत: इसीलिये चरित्र अन्त में अपने साथ घटे प्रसंगों को छिपाने के अभाव में पूजा-गीत का सहारा लेते प्रतीत होने लगते हैं । नाटक में यही अभिव्यक्ति के संकट की स्थिति है, व्यक्ति-सत्य को सार्वभौम बनाने की समस्या है । इस नाटक में व्यक्तित्व में छिपी सम्भावनाओं से साक्षात्कार है, समस्या है उन सम्भावनाओं को सही दिशा में प्रशस्त करने की । इसी तथ्य को समीक्षक नर-नारायण राव ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है- जिस तरह जीवन हम अब तक जीते जीते आ रहे थे- वस्तुत: वह हमें स्वीकार्य नहीं, हम उसे बदलना चाहते हैं, उससे भागना चाहते हैं, उसमें परिवर्तन लाना चाहते हैं । पर वह परिवर्तन क्या हो? किस दिशा में हो, कैसे हो- यह अभी हमें ठीक से ज्ञात नहीं । इसलिये गलत रास्ते पर चल पड़ने और भटक जाने की सम्भावना पूरी है ।[२]

'करफ्यू' में छिपी उक्त अवधारणा ही अनेक गतियों एवं मुद्राओं के माध्यम से व्यक्त हुई है । पहले दृश्य में तेजी के साथ मनीषा का प्रवेश और गौतम के कमरे के एकान्त को अपनी हरकतों से तोडने का प्रयत्न ही वह बिन्दु है जहां से नाटकीय गति का श्रीगणेश होता है । मनीषा का शहर के करफ्यू से बचकर गौतम के घर में आकर रिलेक्स होने का अनुभव एक प्रकार की नाटकीय विडम्बना

१- करफ्यू के बारे में लेखक की निजी डायरी से (करफ्यू) पृ० १२

२- नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य-साधना (नर नारायणराय) पृ० १०१

का हेतु बन जाता है । इस अनुभव की भ्रामकता का बोध मनीषा को तब होता है जब वह गौतम के साथ एकान्त में अपने अन्दर हे के असहज व्यक्तित्व से साक्षात्कार करती है । इसी स्थिति में मनीषा के अन्दर का असहज तत्व उसके अब तक के रिलेक्स्ड- होने के भ्रम के साथ कन्ट्रास्ट उत्पन्न करता है । मनीषा के व्यक्तित्व का यह अन्तर्द्वन्द्व ही इस अवधारणा को स्पष्ट करने का बायस बनता है जिसके अनुसार इस शहर का करफ्यू हमारे अन्दर के करफ्यू का ही प्रोजेक्शन है । मनीषा द्वारा गौतम के अन्दर अनुभव करने का द्योतक है । अपरिचित से परिचित हो जाना ही तो करफ्यू का 'रायट' के साथ टूटना है-'जानवर','कायर','बुजदिल','कानून-कायदे', शब्दों द्वारा मनीषा और गौतम के चरित्रों की वर्जनाओं का प्रकटीकरण हुआ है ।

प्रथम दृश्य में 'करफ्यू' की अवधारणा का नाटकीय गतियों और शब्दों में प्रतिफलन जो गौतम और मनीषा के मध्य होता है, वही लगभग दूसरे दृश्य में कविता और संजय के मध्य होता है । संजय के घर में कविता का प्रवेश उन्हीं परिस्थितियों में होता है जिन परिस्थितियों में मनीषा का । अन्तर इतना है कि जहां मनीषा के प्रथम परिचय से ही उसके व्यक्तित्व में रहस्य, उसके क्रिया-कलापों में उलझाव दृष्टिगोचर होता है वहां कविता के प्रवेश, संजय के प्रति उसके व्यवहार में एक ओढ़ी हुई सम्भ्रान्तता लम्बे समय तक दिखायी देती है । इसी सम्भ्रान्तता के कारण मनीषा की भांति कविता की असहज और दमन की गयी प्रवृत्तियों का विकृत उद्घाटन देर तक नहीं हो पाता । संजय का गौतम की तुलना में कल्पनाशील होना एक अन्य कारण हो सकता है । इन्हीं कारणों से दूसरे दृश्य में प्रथम दृश्य की भांति वह गति क्रमिक नहीं होकर आकस्मिक है, इन शब्दों के साथ -

कविता- (सहसा) बड़ी अच्छी चूड़ियां हैं । कहां से लाए ।
संजय- पहनोगी ? नाटक में यह नहीं है ---
कविता- समझ लो है ।--चलो । अपने हाथ से(निकालकर देती है।) पहना ही दो ।
----ऐसे नहीं---धीरे धीरे---चूड़ी टूट जायेगी ।

संजय- टूट जाने दो----बहुत सारी हैं। [१]

कविता द्वारा संजय के हाथों चूडियां पहनने की आकांक्षा कविता के असफल दाम्पत्य और उसकी अमुक्त लालसाओं की ओर एक संकेत है जो संजय के एकान्त घर में पहली बार उभरती है। 'केश श्रृंगार करती हुई स्त्री' की मुद्रा में कविता द्वारा संजय को लुभाने का प्रयत्न दूसरे दृश्य में 'करफ्यू' के मध्य रायट की स्थिति को प्रकट करता है। 'ओ---बहरे हो क्या', 'मौका मिला है, कह लो, वरना पछताओगे', 'देखो, कहीं कुछ जल रहा है' कहते हुए सहसा आवेश में कविता द्वारा वस्त्र उतारने की प्रक्रिया असहज व्यक्तित्व के प्रकट होने के साथ नाटकीय गति व आंगिक अभिनय को प्रशस्त करती है। कविता द्वारा ये क्रियाएं ही संजय को उत्तेजित करती हैं- 'मेरे भीतर जैसे कोई चट्टान थी जो टूट रही है' के साथ कविता को अंक में भर लेने तक की क्रिया संजय के अन्दर के पशु तत्व के धीरे धीरे उभर आने से क्रमशः क्षिप्र होती नाटकीय गतियों की ओर संकेत है। यह गति इस रूप में लक्ष्य की जा सकती है -

(i) जरा हाथ देखूं। (ii) नब्ज बड़ी तेज चल रही है। (iii) मैं तुम्हें।
(iv) तुम चाहो तो।---

संजय और गौतम में असहज व्यक्तित्वों का उभर उठने की प्रक्रिया में एक मौलिक अन्तर है। जहां गौतम अपनी उत्तेजित अवस्था में मनीषा द्वारा तलवार द्वारा रोकने पर ही काबू में आता है वहां संजय का विवेक ही उसके पशु तत्व को नियंत्रित करता है। इसलिये रायट को दबा देने से जो असहजता व नाटकीय द्वन्द्व प्रथम दृश्य में अन्त तक बना रहता है वह दूसरे दृश्य में घनीभूत न रहकर जैसे बिखर जाता है। संजय का यह कथन द्वन्द्व को इसी प्रकार विरल कर देता है-'जान-बूझकर। हर पुरुष तुम्हारे लिये--- लगा कि तुम निश्चित की बाट से बाहर निकलना चाहती हो। ~~सोचा~~ सोचा साथ दूं। पर किसको, क्यों ?[२] इसी दृश्य में संजय और कविता द्वारा

१- करफ्यू- पृ० ७६

२- वही- पृ० ८५

नाटक की जो रिहर्सल की जाती है वह एक प्रकार से उसी सामाजिक सुविधाभोगी दाम्पत्य सम्बंधों में फंसे व्यक्तियों की कहानी है जिसे अपने जीवन में किसी न किसी रूप में संजय और कविता भी या तो भोग चुके हैं या भोग रहे हैं । यह 'नाटक जो नाटक के अन्दर का नाटक' नाटक के प्रश्न को और अधिक गहराता है- फलत: नाटकीय द्वन्द्व को दोहरे स्तर पर ला खड़ा करता है -

युवती- हमने प्यार किया है ।

युवक- हमने क्यों किया प्यार ?

युवती- किया ---

युवक- क्यों? किसलिये ?

युवती- करना था----

युवक- करना था? एक अदद प्यार---एक अदद शादी---दो अदद बच्चे----

युवती- तुम गुस्से में हो ।

युवक- 'प्यार करो- अपने आपको तलाशने के लिये ।' यह तुमने कहा था, याद है ? और तलाशते,तलाशते---

युवती- भीतर पहुंची----तुम्हारे द्वारा अपने भीतर । वहां मुझे एक और मिली । उसने गरदन पकड़कर जैसे मुझे बाहर निकाल दिया ।[१]

मुक्त जीवन के जीने की अदम्य इच्छा लेकिन उसकी अपूर्ति ही 'करफ्यू' की द्वन्द्वमूलक स्थिति है । इसे प्रकट करने के लिये बार बार विरोधों को प्रकट करने वाले ये शब्द या वाक्यांश नाटक को गति प्रदान करते हैं - 'आपकी उंगलियां कितनी प्यारी हैं'। 'विलम्बित लय में बड़ा ख्याल','आप इतना डरते क्यों हैं ।' निडर होने के लिये','एक दबी हुई बात जो सहसा फूट पड़ी है किसी एक बहाने से'। हर कायर आदमी को एक सहारा चाहिये','कम से कम आपके पीने की लय तो द्रुत है'।

१- करफ्यू- पृ० ७५

'आप बहुत स्लो हैं', 'नाऊ आई लाइक औनली स्ट्रेन्जर्स'। 'मुझे अपना दोस्त मान लीजिये', 'घर में, कमरे में तो करफ्यू नहीं'। (चुप), 'पूरी जिन्दगी बनावटी नहीं ?। 'सुख तो है', 'शादीशुदा तथा दूसरी स्त्री से प्यार नहीं कर सकता'। 'पत्नी से चिपकर ''कायर, बुजदिल'। 'सारे कातूब कायदे तोड़ दो' (प्रथम दृश्य), 'लगता है आप हर चीज निश्चित करके चलती हैं '। 'निश्चित किये बिना चलता जो नहीं', 'आज मौसम अच्छा है'। 'किसने कह दिया', 'मेरे पास अभिनेत्रियों की लाइन लगी रहती है'। 'इतनी गलतफहमी', 'कविता जी, यह नाटक है'। 'कितना वक्काना लगता है', 'हमने प्यार किया है'। 'हमने क्यों किया प्यार', 'नाटक इतना निश्चित क्यों है '। 'जीवन क्यों निश्चित किया हुआ है', 'वह बदला नहीं जा सकता'। 'उसे बदलना क्यों नहीं चाहती', 'मजबूरी'। 'कायरता', 'अब कैसी लगती हूं'। 'कैसे कहूं', 'नहीं,नहीं, मैं नहीं कर सकती हूं'। 'चाहती नहीं ?', 'चाहती हूं पर'। 'झूठी' (दूसरा दृश्य) -सम्वादों में अन्तर्हित उक्त विरोध नाटकीय द्वन्द्व के साथ साथ गति लय उत्पन्न करता है ।

तीसरे दृश्य के प्रारम्भ में मनीषा का बाहर के शोर और जीवन के मध्य दौड़ते हुए प्रवेश, अन्दर आकर भीतर से दरवाजा बन्द कर लेना और आंख मूंदकर दरवाजे के सहारे खड़े हो जाना दृश्य की गतिशीलता को संकेतित करता है । मनीषा को स्वागत में प्रयुक्त शब्दों में नाट्य-बिम्बों का समावेश हुआ है- 'पूरा शहर जैसे यही कमरा है- झूठ, कायरता, वासना विस्तार में जाकर अपराध ,हिंसा बलात्कार बन गये हैं --- नशे में होश खो बैठने वाले तो शहर के विस्तार में,सड़कों पर, गलियों में, पागलों की तरह दौड़ रहे थे । लपलपाती जीभें, अंगार आंखें, बुझा विवेक । ---ओ, देखो मैं लौट आयी, जहां मेरा दम घुटने लगता था वहां खुलकर सांस ले रही हूं अब ।'[१] भावाविष्ट मनीषा का उक्त कथन सम पर तब लौटता है, जब वह गौतम के समक्ष स्वीकार करती है कि- 'मुझे लगता है, परिवर्तन

१- करफ्यू- पृ० ८६-८७

अब

अब अनिवार्य है, यदि हम जीना चाहते हैं, जीवन को अर्थपूर्ण बनाना चाहते हैं ।[१] इस सम के साथही इस दृश्य से नाटक के मूल प्रश्नों को स्पष्ट करने वाले 'उद्घाटन भाषण' प्रारम्भ होते हैं । फलत: नाटकीय लय का स्थान नाटकीय घटनायें ले लती हैं । मनीषा द्वारास्वयं के साथ घटे प्रसंगों के वर्णन में जैसे क्रियाएं आंखों के समक्ष मूर्तिमन्त हो उठती हैं -'तभी दो नौजवान लड़के कहीं से भागते हुएआये और उन पर एक बम फेंकर गायब हो गये । धुआं छंटते-छंटते एक पुलिस जीप वहां आ पहुंची ।--- सिपाहियों ने उन लड़कों की तलाश में दूकानों के तख्तों के नीचे, आस-पास की गलियों, कूड़े के टीलों को छानना शुरू किया और मैं उनके हाथ पड़ गयी ।[२] मनीषा के इस वर्णन में क्रियाओं को मूर्तिमन्त करने की शक्ति तो अवश्य है किन्तु ऐसे केन्द्रीय शब्दों का सर्वथा अभाव है जो क्रियाओं का तत्काल प्रक्षेपण कर सकें । इसीलिये ऐसे उद्घाटन-भाषणों के प्रयोग के लिये नाटककार को बाध्य होना पड़ता है । मनीषा द्वारा 'रियलिटी को एक्सेप्ट करने का बोध और गौतम को भी इस हेतु उत्प्रेरित करना- अब पूर्व दृश्य की भांति किसी नाटकीय द्वन्द्व के हेतु नहीं बनते क्योंकि यह एक सहज स्थिति में सहज स्वीकार है । इसी कारण मंत्रोच्चारण के साथ गौतम और मनीषा का आलिंगन बद्ध होना एक सांगीतिक प्रभाव मात्र छोड़ता है- द्वन्द्व का शमन हो जाता है। अवश्य ही ओम नम: श्वाहा की बार-बार सह-मंच-पर आवृत्ति-सह मंच पर परिक्रमा करने से एक प्रकार की शब्द संयोजनात्मक लय उत्पन्न होती है ।

तीसरे दृश्य से विपरीत चौथे दृश्य के आरम्भ में वह गति नहीं मिलती जो नाटक की द्वन्द्वात्मक स्थिति का बोध करा सके । दृश्य खुलते ही कविता का स्वगत से इस अर्थ में भिन्न है कि वहां मनीषा की भांति 'भोगे हुएसत्य' द्वारा प्राप्त विश्वास। 'तुम्हारा वह रूप एक रिएलिटी समझ कर मुझे एक्सेप्ट कर लेना

१- करफ्यू- पृ० ८८

२- वही- पृ० ८९

चाहिए था, रिएलिटी से भागना मुश्किल है) नहीं बल्कि अपनी कायरता से उत्पन्न ग्लानि और उस ग्लानि के मध्य अपने अपराध को आत्म-स्वीकृत कर लेने की लम्बी चिन्तन-प्रक्रिया । 'मेरी गलती की सजा उसे क्यों मिले ? मुझे उससे माफी मांगनी चाहिये । मुझे अपने जीवन के बोझ का दोष उठाना है, वह अब भागी क्यों बने?) है । इसीलिये मनीषा के निर्णय में जहां तीसरे दृश्य में एक तेजी और निश्चित कदम दिखायी देता है, वैसा कविता के निर्णय में नहीं । वह अपने अनुभूत सत्य को अब भी संजय से स्पष्ट नहीं कह पाती, जीवन और नाटक के तुलनात्मक विश्लेषण के मध्य ही जैसे वह 'रिएलिटी एक्सेप्ट' करने की बात को धीरे से संजय तक 'पास' करती है -'जीवन में ऐसे मोड़ नाटक से कहीं अधिक आते हैं । नाटक में आप उन्हें आसानी से मान लेते हैं तो जीवन में क्यों नहीं मान लेते ?[१] इसी कारण तीसरे दृश्य की भांति यहां नाटकीय गति व लय बड़ी धीमी हुई है । जिस तेजी के साथ मनीषा गौतम के साथ आलिंगनबद्ध हो जाती है, वह स्थिति एक लम्बे अन्तराल के बाद कविता के साथ घटती है । कविता और संजय के मध्य यह नाटकीय गति तब बनती है जब वे परस्पर लघु-सम्वादों द्वारा एक दूसरे के मन की थाह को पाने को तत्पर होते हैं -

संजय- इतनी निडर हैं आप ?

कविता- वही तो--- वही तो होना चाहती हूं ।

संजय- अगर आप ऐसी थीं -----

कविता- अगर आप ऐसे होते -----(१)

संजय- बात तो पूरी कहने दीजिये ।

कविता- बात क्या पूरी हो पाती है ?(२)

संजय- सुनो तो ---

कविता- सुनो तो----(३)

१- करफ्यू- पृ० ६७

संजय- तुम पहले----

कविता- तुम पहले-----(४)

संजय- मैं पूछ रहा था----

कविता- मैं पूछ रही थी----(५)

संजय- आज सारी रात यही होगा---

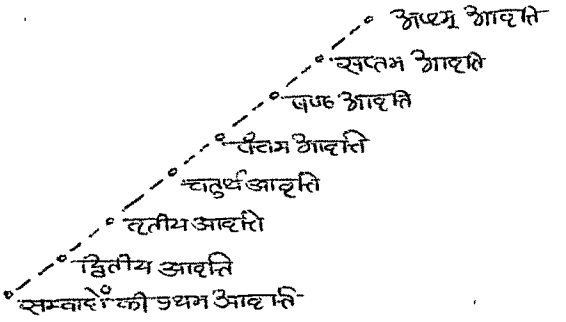
कविता- आज सारी रात यही होगा----(६)

संजय- देखो, और मत करो ।

कविता- देखो, और मत करो । (७)

संजय- हा---हा---हा---हा----[१] (८)

उपर्युक्त सम्वादों में एक द्वारा कहे वाक्यांशों को दूसरे द्वारा आवृत्ति करने से सम्वादों की हारमनी क्रमशः बढ़ती चली जाती है, फलतः प्रेक्षकों के मानस की रुचि-रेखा भी क्रमशः बढ़ती चली जाती है -



चरन पर पहुंचकर संजयद्वारा कविता को आलिंगन में लेने की आतुरता नाटकीय-त्वरा की सर्वोच्च अवस्था की सूचक है लेकिन यहीं शिखर पर पहुंचे संगीत को सम पर लाने हेतु मारी गयी थाप की भांति कविता का यह सम्वाद भी संजय को रोक लेता है - 'रुकिये---- ऐसे नहीं । ऐसे नहीं । (कमरे में नजर दौडती है।) ऊपर देखिये---देखते--

---

१- करफ्यू- पृ० ६६

रहिये । हंस का एक जोड़ा उड़ रहा है---- उड़ता उड़ता पास आ रहा है ---- और पास----- बिलकुल सिर के ऊपर ----- उनके पंख से दो पंख टूटकर हवा में उड़ रहे हैं----नीचे गिर रहे हैं----- पकड़ लो हवा में----- जमीन पर गिरने न पाय---- पकड़ लो----शाबाश ।[१] हंस के जोड़े का धीरे-धीरे पास आते जाना कविता और संजय द्वारा धीरे-धीरे 'करफ्यू' को तोड़कर बाहर आने की कृक्रिकता का परिचायक है । दो टूटे पंखों को जुड़े में लगाने के पीछे सहज सम्बंधों की पूज्य स्वीकृति(दोनों ओर से) का संकेत है । यहां नाटकमें समरसता एवं अभिनयात्मक गरिमा- दोनों ही दृष्टिगोचर होती हैं । इस गरिमा की सांगीतिक परिणति है कविता और संजय द्वारा किया जानेवाला आदिम नृत्य जिसमें नृत्यवत गतियों की पर्याप्त सम्भावनाएं हैं । यद्यपि इस आदिम नृत्य व लोक गीत की चरित्र एवं वातावरण के साथ बेमेलता है । तथापि यह बेमेल अथवा विसंगति-बोध चरित्रों में आधुनिकता का टच भरता है।) इस दृश्य के अन्तिम भाग में एक स्पन्दन युक्त संगीतमय वातावरण उत्पन्न होता है जो सम्भवत: नाटक का वह एकमात्र बिन्दु है जहां नाटक का आधुनिक परिवेश लोक-तत्व का स्पर्श पाकर एक शिल्पगत प्रयोग को जन्म देता है ।

पांचवें दृश्य में नाटक 'मूड़' की दृष्टि से विस्तार से संकुचन और फिर संकुचन से विस्तार की ओर बढ़ा है । कविता का अपने मकान में प्रवेश, कमरे की अस्तव्यस्तता, एक एक चीजों के माध्यम से कमरे में घटित घटनाओं के प्रति नाटककार द्वारा प्रेक्षक को 'कान्शस' रखने का प्रयत्न, गौतम व कविता द्वारा आप बीती को छिपाने और उघाड़ने के बीच की दुविधा, इस दुविधा को अभिव्यक्त करने में गौतम और कविता के असंगत सम्वाद नाटकीय तनाव को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं । ये असंगत सम्वाद ही सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करने लगते हैं । और इस प्रकार नाटकीय तनाव शब्दों के मुखौटों से बाहर आकर झांकने लगता है -

कविता- जैसे तुम, वैसी मैं ।
गौतम- जैसी तुम, वैसा मैं ।

१- करफ्यू- पृ० १००

कविता- तुम और मैं, मैं और वह ।
गौतम- वह और मैं, मैं और तुम ।
कविता- कितना महान्, आश्चर्यजनक ।
गौतम- कितनी बहादुर, निडर ।
कविता- शृंगार करती हुई स्त्री अच्छी लगती है ना ?
गौतम- उससे भी ज्यादा `वह-बेपरवाह----`स्ट्रेन्जर`।

यहां शब्दों में वह तीव्र अभिव्यक्ति अपना मार्ग खोजना चाहती है जिसके ना मिलने के अभाव में एक बेचैनी का अनुभव हो रहा है । असहज दाम्पत्य(जीवन) सम्बंधों के व्यूह में घिरा व्यक्ति `करफ्यू की टूटन` को बड़ी लम्बी `अभिव्यक्ति के संकट` की प्रक्रिया से गुजरकर ही अपने `जीवन के सहज अंग ` के रूप में अपना सकता है । इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को ही डा० दयाशंकर शुक्ल ने इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है-`इस मुखौटे का टूटना ही व्यक्ति की आत्मानुभूति है, कुछ वैसे ही जैसे बहुत जी मिचलाने के बाद एकाएक उल्टी होकर जी हल्का हो जाय । नाटक व्यक्ति के अन्दर के पित्त को बाहर निकाल कर उसे `रिलेक्स` करना चाहता है ।[1] पांचवें दृश्य के पूर्वार्द्ध में ऐसी ही जी मिचलाने की स्थिति` है- इसी लिये नाटकीय कार्य व्यापार, चरित्रों के परस्पर क्रिया व्यवहारों और वातावरण में आन्तरिक तनाव दिखायी देता है । इसे अभिव्यक्ति देने वाली भाषा भी `फ्रैग्मेण्टेड` है, डाटचिन्हों ,विराम या सन्नाटों द्वारा स्थानापन्न है -

कविता- आदर्श पति- आदर्श पत्नी ।
गौतम- यह विश्वास जरूरी है ।---
कविता- वह झूठ है ।
(विराम)

\+ + +

कविता- मैं वह नहीं हूं जो थी--- मैं जो थी---वह नहीं थी---वह नहीं थी----
मुझे होना पड़ा था ।----यह अभूतपूर्व, महान, आश्चर्यजनक जीवन---
जड़जीव चेतन प्राणियों से भी आगे, बहुत आगे---यह अनन्य मानव जीवन।--

\+ + +

1. लक्ष्मीनारायणलाल के नाटक और रंगमंच-पृ०।६

भाषा में प्रयुक्त उपर्युक्त डाट्स चरित्र के अन्तस की उधेड़बुन को तो प्रकट करते ही हैं, साथ ही प्रयुक्त शब्दों में बलाघात की सम्भावना भी उजागर करते हैं- चरित्रों के मानसिक आलोड़न को शब्दों के उछाल द्वाराव्यक्त करने हेतु । मनीषा(और अन्त में संजय) के प्रवेश के साथ दाम्पत्य सम्वादों के मध्य अभिव्यक्ति का संकट धीरे-धीरे कम होना प्रारंभ होता है जो कविता द्वारा मोमबत्तियों के जलाये जाने के रूप में प्रकट होता है । मोमबत्तियां जलाये जाने के इस प्रसंग में एक तथ्य उभरता है कि नाटककार ने करफ्यू के टूटने को 'अन्धकार से प्रकाश' की ओर ले जाने वाली यात्रा के रूप में देखा है - इसके लिये मोमबत्तियों के सहज सम्प्रेष्य प्रतीक को चुना गया है । ऐसे ही कतिपय अन्य प्रतीकों को समने रखकर (नाटक के अन्त में विशेषकर) लम्बे और गुम्फित सम्वादों की बोझिलता को दूर किया जा सकता है । अन्त में चरित्रों के उद्घाटन-भाषण की भरमार से नाटक में शिल्पगत शिथिलता सी प्रतीत होने लगती है । मनीषा द्वारा मोमबत्तियों के जलते जलाते ही चरित्रों का समवेत गान' कौन सा कब कहां नहीं' से रो पाया' उपयुक्त अन्त हो सकता था ।

उपर्युक्त पांचों दृश्यों में द्वन्द्व की सृष्टि अनेक मानसिक उतार-चढ़ावों के के मध्य हुई है । इसी कारण प्रथम व द्वितीय दृश्य की द्वन्द्व-सृष्टि जहां सप्तक पर चढ़कर अचानक टूट जाने वाली लय की भांति प्रतीत होती है तो तृतीय व चतुर्थ दृश्यों में यही द्वन्द्व आरोह और अवरोह के मध्य होकर अन्ततः स्थायी' पर आता है । यही 'स्थायी' पंचम दृश्य में भी अन्ततः प्राप्त होता है । अन्तरा' से प्रारंभ होकर 'स्थायी' पर इस नाटक की समाप्ति इसमें अभिनयात्मिका वृत्ति की सम्भावनाएं उत्पन्न करती हैं ।

'करफ्यू' समकालीन आदमी को उसके वास्तविक स्वरूप की पहिचान कराने का एक माध्यम है । यह स्वयं में किसी परिपूर्ण लक्ष्य या समाधान की प्राप्ति नहीं कराता प्रत्युत अनुभव को भोगने के लिये प्रेरणा प्रदान करता है । यह नाटक वस्तुतः 'मिस्टर अभिमन्यु' की परम्परा को ही बढाने वाला नाटक है, समस्या को परिवेश से हटाकर स्व पर केन्द्रित करता है । अवश्य ही 'करफ्यू' का चिन्तन आज के रूढ़ि परक

समाज के लिये कठिनाई से गले उतरने वाला है- इस रूप में यहवह यह नाटक सामाजिक सन्दर्भों में `मिसफिट` होता प्रतीत होता है लेकिन क्या यह तथ्य भी उतना ही महत्वपूर्ण नहीं कि नाटककार ने व्यक्ति और सामाजिकसम्बंधों की कृत्रिमता के मध्य की खाई को पाटने का इतना आधुनिक (साथ ही आदिम काल से चला आ रहा ह जैविक सत्य भी) आयाम देने का मनोबल जुटाया है । अतएव इसे केवल `बोल्डनेस` जैसे फैशन-परस्त शब्दावली में बांधकर इसकी स्वागत सार्थकता पर डा०गिरीश रस्तोगी का यह सन्देह उचित प्रतीत नहीं होता-`नाटककार को यह अवश्य सोचना पड़ेगा कि क्या नाट्य-विधा में यौन-सम्बंध या प्रसंग ही `बोल्डनेस ` का प्रमाण है और क्या यह `बोल्डनेस` नाटक के लिये उपयुक्त दिशा है ? कुछ सामाजिक समस्याएं इतनी जटिल होती हैं कि उनका कोई सहज समाधान सम्भव नहीं होता । ऐसी स्थिति में जरूरी भी नहीं कि उनका कोई सहज समाधान प्रस्तुत करे ही ।[१]

अब्दुल्ला दीवाना :

रचनात्मकसंकट से गुजरकर क्रूर यथार्थ से खुला साक्षात्कार कराने का कार्य `करफ्यू` में देखा गया । यथार्थ का अनुभव वहां कुछ प्रतिनिधि पात्रों द्वारा ही हुआ है। उन्हीं केद्वारा नैतिकता की एक नयी व्याख्या की गयी है । यहां नैतिकता को एक नये मूल्य के रूप में उभारा गया है । लेकिन यह एक तथ्य है कि नये मूल्य को उभारने की आवश्यकता इसलिये अनुभव की जाती है क्योंकि पुरातन मूल्य ध्वस्त हो चुके हैं । मूल्यों के उभरने की प्रक्रिया को रचनाकार दो प्रकार से प्रकट कर सकता है- १.एक स्वस्थ और निर्माणशील परिकल्पना के रूप में जिसका अंकन `करफ्यू` में करने का प्रयासकिया गया है । २. नये मूल मूल्यों की स्थापना का ऐसा रूप जो हमारे समाज में एक चिन्ताजनक व्याधि के रूप में हर क्षेत्र में उभर रहा है, जो एक क्रूर यथार्थ दृष्टि लेकर रचना में प्रकट होता है । कहने की आवश्यकता नहीं,`अब्दुल्ला दीवाना` (प्रकाशन वर्ष १९७३,प्रथम प्रस्तुतीकरण २८ फरवरी १९७३) में व्याधि के रूप में उभरते इसी नवीन नैतिकता के बोध को प्रकटकिया गया है ।

१- नाटककार लाल की भूमिका।कृतिकार लक्ष्मीनारायणलाल,पृ० ९३-९४

`अब्दुल्ला दीवाना` वस्तुत: नैतिकता के प्रतीक `अब्दुल्ला` के उस `दीवानेपन` को प्रकट करने का एक प्रयास है जो मूल्य विघटित समाज में हस्तक्षेप कर बार-बार अपने अस्तित्व का स्वीकार कराना चाहता है लेकिन उसका यह प्रयास अन्तत: उसी की हत्या का कारण बन जाता है । अब्दुल्ला को समकालीन समाज का कोई भी व्यक्ति नहीं चाहता क्योंकि उससे मित्रता करने का मतलब है- अपने ही किये गये कार्यों पर औचित्य या अनौचित्य की मोहर लगाना । अब्दुल्ला की मित्रता व्यक्ति को आन्तरिक स्तर पर आलोड़ित करती है, उसे `कमिटेड` अनुभव कराती है और उसे आत्म साक्षात्कार कराती है । ऐसे में कोई भी इसका साथ कर अपने प्रगति के मार्ग को बाधक बनाना नहीं चाहता । लेकिन दूसरी ओर, इस अब्दुल्ला की प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि वह पतन की ओर जाते मनुष्य को उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कराने से बाज नहीं आता । अपने इसी पागलपन के कारण वह अन्तत: मनुष्यों द्वारा अपने रास्ते से कांटा मानकर हटा दिया जाता है । मनुष्य नैतिक चिन्तन का कम ऐसा कोई भी बोझ अपने पर लादने से बचते रहने का अभ्यस्त हो गया है जो उसमें अपने कर्म के औचित्यानौचित्य के प्रति प्रश्न उत्पन्न करता है । ऐसी नैतिकता जब उसके स्वेच्छाचारी मार्ग में बाधा बनती है तो वह उसकी हत्या कर उसके स्थान पर ऐसी नयी नीति-संहिता का निर्माण कर लेता है जो उसके स्वेच्छाचारी कर्म को औचित्य प्रदान कर दे । एक अब्दुल्ला को समाप्त कर नये अब्दुल्ला की उत्पत्ति- यही आज के नैतिकताविहीन समाज का सत्य है ।यह नय ।`अब्दुल्ला` आज के उच्च व तथाकथित सभ्य समाज की उपज है जो अपने खोखलेपन और नंगेपन को ढंकने व ताकत, स्वरूप और हैसियत को बनाये रखने के लिये इसका निर्माण करता है । वर्षों से चले आये नैतिक मूल्यों की हत्या कर निहित स्वार्थों के लिये मनमाने मूल्यों का सर्जन- आधुनिक युग का सत्य है जिसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक व्यापक दृष्टि के साथ देखने का प्रयत्न प्रस्तत नाटक में किया गया है ।

नैतिक मूल्यों के विघटन और उनके स्थान पर नवीन मूल्यों की स्थापना के अनेक क्षेत्र हैं जिन्हें इस नाटक में संकेतित किया गया है । राजनीति, आध्यात्म और अर्थ- ये ऐसे क्षेत्र हैं जो हमारे सामाजिक जीवन को किसी न किसी रूप मेंनियंत्रित करते

हैं । स्वेच्छानुसार अपनी आचार-संहिता का निर्माण कर लेता है ।-

'अगर इन्सान को तरक्की करनी हैं-----गरीब से अमीर होना है तो उसे तेज भागना ही होगा । और अब्दुल्ला को कुचल कर मरना ही होगा ।'[१]

\+ + +

'अब्दुल्ला मरा है या जिन्दा है, मैं जानना चाहता हूं यह किसी को चिन्ता है? यह तकलीफ किसे है ? क्यों है? ---हुजूर, मुझे यह कहने की इजाजत दीजिये, यह उन लोगों की महज दिमागी ऐय्याशी है जिनके पास और कोई बुनियादी मसले नहीं हैं । मैं पूछता हूं, आज किसे फुर्सत है सड़क पर उस कुचल कर मरे हुए कुत्ते को रुककर देखना जिसकी मौत आखिर लाज़मी थी ।'[२]

\+ + +

'खतरा अब्दुल्ला के होने न होने से नहीं है । खतरा है उसकी बातें करने से । क्यों ? मैं बताता हूं । हमारी आज की इतनी बेचैनी चाहे वह किसी की मौत से हो चाहे जनम से- यह उस बेकार पुरानी आत्मा की बेचैनी है जिसका साला रहा होगा अब्दुल्ला ।'[३]

\+ + +

'इस भीड़ में किसी एक विशेष की जिन्दगी और मौत की खोज करना सचाई के साथ फ्लर्टेशन है ।'[४]

इस स्वार्थपरक व्याख्या के कारण ही आज का मनुष्य उस डायनोसार की

१- अब्दुल्ला दीवाना- पृ० २४

२- वही- पृ० ७७

३- वही- पृ० ७८

४- वही- पृ० ७९

की भांति हो गया है जो अपनी जानवरों वाली ताकत और व्यक्तिगत आजादी के लिये अपना शरीर बढ़ाता जाता है और अन्ततः अपने ही बोझ से स्वयं जमीन में धंसता जाता है। आयनेस्को के नाटक `राइना सिरोस` में जिस प्रकार शक्ति और प्रभुता की अदम्य इच्छा से प्रेरित होकर हर व्यक्ति गैंडा बन जाता है और गैंडों की बस्ती में नायक बेंजर और उसकी प्रेमिका डेज़ी का मनुष्यत्व अप्रासंगिक हो उठता है वैसे ही नैतिकता विहीन समाज में `अब्दुल्ला` का अस्तित्व भी अप्रासंगिक हो उठता है। इस अप्रासंगिक नैतिकता के लिये उत्तरदायी कौन है- यही इस नाटक के अन्दर निहित प्रश्न है- इस प्रश्न का उत्तर नाटक का अभीष्ट होना चाहिये था क्योंकि आज प्रश्न जितना नैतिकता के समाप्त हो जाने का नहीं है, उससे अधिक यह है कि वह समाप्त क्यों हुई ? इस सम्बंध में भरत गुप्त का यह कथन भी उन कारणों का विवेचन करने का एक सतही प्रयास सिद्ध होता है- हमारे जीवन में जो अर्थहीनता, कायरता, भावुकता आ गयी है, लाल उसकी जड़ तक गये हैं। दिखाने के लिये आदर्शवाद, अध्यात्मवाद पर व्यवहार में अवसरवाद-यही है व्याधि की जड़। जो इसको नहीं समझते, उनका जीवन करुणा का विषय है और जो यह जानते हैं, उनके लिये यह समझ जनता को शोषित करने का साधन है। लेकिन शोषक थोड़े हैं, अधिक जनता ही भुलावों की शिकार है।` - इन पंक्तियों से ले देकर शोषित-शोषक संघर्ष अथच अयलेक्टिकल मेटरलिज्म का कारण हीसमझा जाता है। लेकिन इस व्याख्या में निहित वामपंथी समीक्षा दृष्टि से बढ़कर देखा जाय तो वह `अभुक्त-मानसिकता` ही सबसे बड़ा कारण सिद्ध होती है जिसके कारण नैतिक मूल्यों की हत्या हुई और नये मूल्यों की बलात् प्रतिष्ठा की गयी। विगत लम्बे समय की गुलामी के बाद जब भारत आजाद हुआ तो इस देश के व्यक्ति मानस में वर्षों की दबी घुटी इच्छाओं की एकांगी पूर्ति करने की लालसा बलवती होने लगी। जिस स्वतंत्रता संग्राम को अथक परिश्रम और बलिदान की कटिबद्धता के साथ लड़ा गया था, स्वतंत्रता के पश्चात उसके भोग का समय आया था। फलतः किसी भी मूल्य पर उसे भोगने की इच्छा ही जैसे हर आदमी का लक्ष्य हो गया। परम्परागत नैतिक मूल्यों की हत्या कर भोगवादी मूल्यों की स्थापना- यही स्वतंत्र भारत के मनुष्य की मानसिकता बन गयी। `अब्दुल्लादीवाना` में उक्त कारणों का विवेचन एक व्यापक विस्तार की अपेक्षा रखता था जिसका अभाव नाटक में खटकता है।

निस्संदेह यह नाटक उन मूल्यों के विघटन के राजनीतिक, धार्मिक व अर्थ सन्दर्भों को व्यापक रूप से उभारता है और इसके लिये जज, पुरुष, पुलिस, युवक, युवती, स्त्री, वकील, स०वकील और चपरासी चरित्रों को माध्यम बनाता है। मजे की बात यह है कि वे लोग जो स्वयं अब्दुल्ला की हत्या के मुल्जिम हैं, एक दूसरे पर इस हत्या का उत्तरदायित्व सौंपते हैं। `अब्दुल्ला` की हत्या का यह मुकदमा तेन्दुलकर के `शान्तता कोर्ट चालू आहे` के उस मुकदमे का स्मरण दिलाता प्रतीत होता है जिसमें वेरारे अभियुक्त है और शेष सभी अभियोग लगाने वाले। वेणारे भ्रूण हत्या का अभियोग लगाने वाले वे लोग हैं जो स्वयं किसी नैतिक मूल्य से सम्पन्न नहीं है। ऐसे में वेणारे पर खेल खेल में चलाया गया मुकदमा उन लोगों पर चढ़े नैतिकता के नकाबों के धीरे धीरे उतरने की प्रक्रिया बन जाता है जो नैतिकता के हत्यारे हैं लेकिन अपने चेहरों पर नैतिकता का वैसा ही मुखौटा चढ़ाये हैं जैसा `अब्दुल्ला दीवाना` के मुकदमें की पैरवी करने वाले। एक ओर इनके वास्तविक रूप को वेणारे इन शब्दोंमें उधेड़ कर रखती है-` जानते हो यह सब कौन हैं? (एक -एक चेहरे पर प्रकाश केन्द्रित होता है। सबके चेहरे भयानक, जड़वत, प्रेम जैसे दिखायी देते हैं।) यह बीसवीं शताब्दी के सुसंस्कृत मानव के अवशेष हैं। देखो! ये चेहरे कितने जंगली लग रहे हैं। होठों पर घिसे पिटे खूबसूरत औपचारिक शब्द हैं, भीतर अतृप्त और विकृत वासनाएं।`[१] - तो दूसरी ओर ये पात्र भी हमारे स्वातंत्र्योत्तर मूल्यविहीन समाज के कौरुप्य को प्रकट कर रख देते हैं -

पुरुष- हम किस आजादी की सन्तान हैं ? बोलो, यह कैसी,कौन सी आजादी है ?
युवती- वह जो सन् सैंतालिस में आयी ? या वह जो काले ने गौर से पायी ?
डायरेक्टर- हां हां! जिसने नये राजाओं को जन्म दिया वही आजादी।
स०वकील- जिसने इन्सानों की जगह वोटरों को पैदा किया वही मत देने की आजादी।
युवक- भूखे और बेकार रहकर सिर्फ रोजी रोटी की बात करने की आज्ञा दी।

१- खामोश अदालत जारी है। आज के रंग नाटक- पृ० ३३८

चपरासी- इसी आजादी के गर्भ से पैदा हुआ नया तंत्र, जहां नहीं चलता आम आदमी का मंत्र ।[१]

मूल्यों के विघटन की उपर्युक्त स्थितियों के मध्य ही कभी-कभी 'चेतना को झकझोरने वाले क्षणों का उदय' होता है और इन्हीं क्षणों में वर्तमान मनुष्य की दयनीय स्थिति से हमारा बोध होता है । इन्हीं क्षणों में आदमी को सच्चाई का साक्षात्कार होता है । नाटक में ऐसे क्षणों से हर पात्र गुजरा है । इससे सिद्ध होता है कि 'अब्दुल्ला' की हत्या अवश्य हो गयी है लेकिन वह अब भी भटकती आत्मा के रूप में स्वच्छन्द मनुष्य को पथभ्रष्ट होने से रोकने और सही दिशा-निर्देश देने का कार्य करता है-

'------जंगल के लंगूर मुझे परेशान करने लगे । गुस्से में आकर मैंने बन्दूक तान ली ।न जाने कहां से आकर तभी किसी ने मेरी बन्दूक थाम ली । बोला, जिन्हें तुम खा नहीं सकते, उनकी जान क्यों बेवजह लेते हो ? एक टक वह मेरी आंखों में देखने लगा । मुझे अच्छा नहीं लगा । उसे एक ओर झाड़कर मैंने बन्दूक चला दी । घायल लंगूर दोनों हाथों से डाल थामे हवा में लटककर चीखने लगा । कितने लंगूर आकर उसे गिरने से रोकने लगे । मैंने गुस्से में आकर दूसरा, तीसरा फायर किया । लंगूरों के की लाश जमीन पर गिरी । मैं चल पड़ा । घूमकर देखता हूं- वह आदमी उनकी लाशों पर झुका न जाने क्या निहार रहा था ?[२]

\+ \+ \+

'मैंने जब उसे पहली बार देखा था, वह सादे कपड़े पहनता, फिर से वह एकाएक रंग-बिरंगे कपड़े पहनते मिला । मुझे ताज्जुब उस दिन हुआ जब उसे सात रंगों की पैण्ट पहने देखा । वह न जाने किस भाषा में बड़बड़ा रहा था । मैंने उसे डांटा- ऐ ! ऐसे सड़क परखुले आम पेशाब करता है ।' वह बेशरम नंगा होकर हंसने लगा और पड़ौसी,

---

१- अब्दुल्ला दीवाना- पृ० १०६-१०७

२- वही- पृ० ३८

मेरी लड़की, मेरी बीबी और मेरे बारे में अनाप शनाप बकने लगा ।- पिछले दिनों वह मुझे एक तंग अन्धेरी जगह में छुपा हुआ मिला । उसके सारे बदन पर घाव थे जिन पर कीड़े-मकोड़े रेंग रहे थे । वह एक पागल कुत्ते को पकड़े हुए बैठा था और उसका मुंह चूम रहा था । मैंने पूछा- क्यों ? क्यों ? क्यों ? वह चिल्लाया- जब चारों ओर इतना अन्धेरा है फिर यह बत्तमीज़ सूरज इतनी रोशनी क्यों फेंकता है ?[१]

अन्तर्मुखी होने पर अपनी नैतिकता के विघटन का बोध कितना झकझोरने वाला है, यह नाटककार द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त शब्द चित्र द्वारास्पष्ट है । मूल्यविहीनता की कथा को नाटककार ने सम्पूर्ण नाटक में यत्र-तत्र बिखेर दिया है । यदि इसे क्रमिक इतिहास यात्रा के रूप में देखा जाता(पट्टा पहने 'कमिटेड जज' के अन्तिम निर्णय-भाषण में इसकी पर्याप्त सम्भावनाएं थीं) तो वह नाटक की प्रेषणीयता को अधिक प्रभावी बना सकता था । तथापि इस नाटक में सभी पीढ़ियों के सन्दर्भ में, नैतिकता के अभाव में उत्पन्न शून्य और उस शून्य को राजनीतिक, धार्मिक, जनतंत्र व समाजवाद और न्याय के पाखण्ड द्वारा भरने की स्थिति का अंकन दृष्टि के व्यापक कैनवास के साथ हुआ है ।

'अब्दुल्ला दीवाना' में परिवेशजन्य वेदना, यातना का कटु बोध और इस बोध से फूटने वाले आन्तरिक, विद्रोह कने से साक्षात्कार प्रस्तुत किया गया है । यह विषय नितान्त मौलिक रूप से स्पर्श किया गया हो- ऐसी बात नहीं है । समकालीन साहित्य में मूल्य-हत्या की प्रस्तुति अनेक प्रकार से हुई है । श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' के चरित्रों की मूल्यविहीनता 'पक्के घड़े की तरह अपने हरामीपन' में पक चुकी है । लेकिन यह मूल्यविहीनता 'अब्दुल्ला दीवाना' से इस अर्थ में भिन्न है कि यहां नाटककार 'राग दरबारी' की भांति भविष्य के प्रति कोई आश्वासन नहीं देता । आश्वासन के अभाव में ही नाटक में मानवीय संवेदना का स्पर्श नहीं प्रत्युत यथार्थ का कटु चित्रण मात्र है । तथ्य का उद्घाटन है, रचनागत सत्य का

१- अब्दुल्ला दीवाना- पृ० १०६

सन्देश नहीं है । तथ्यों के उद्घाटन में पर्याप्त अगाम्भीर्य है लेकिन उसके मूल में गंभीर प्रश्न छिपे हुए हैं । इस प्रकार गम्भीरता को अगाम्भीर्य द्वारा तोड़ा गया है । यही नाटक में निहित विसंगति बोध है ।

`अब्दुल्ला दीवाना` में निष्कर्ष की अपेक्षा अनुभव की स्थिति का ही ऊष्मा ऊष्म चित्रण हुआ है । इस अनुभव की सीमा के मध्य ही विगत, आगत और अनागत के प्रश्नों को एक सूत्र में पिरोया गया है । सन् १९४७ के बाद से लेकर आज तक की मानव-विकास की यात्रा को `विगत` चित्रण के रूप में, `आजादी के गर्भ से पैदा हो रहा तंत्र` आगत चित्रण के रूप में एवं इनमें `अब्दुल्ला` का हस्तक्षेप अनागत के रूप में लक्ष्य किया जासकता है । ये सभी मिलकर एक ऐसे व्यापक यातना-लोक का निर्माण करते हैं जिनमें पागलपन, बनियापन और चालाकी के रूप में समकालीन आदमी का तनाव भरा चेहरा सामने ~~जस्तक-है-~~ आता है । ऐसे चेहरे के ऊपर `अब्दुल्ला` का मुखौटा कितना `मिसफिट` होता है- यह नाटक के चरित्रों के खोखले पन से स्पष्ट होता है । इस खोखलेपन की अति तब होती है जब अपने खोखले व्यक्तित्व को ये चरित्र बेशर्मी के साथ ढंक लेते हैं । इसी बेशर्मी के कारण वे `अब्दुल्ला` की हत्या करने से भी नहीं हिचकते । तात्पर्य यह कि अब्दुल्ला के दीवाने पन का , उसका बेगानों के कार्यों में हस्तक्षेप का दण्ड उसे भुगतना पड़ता है- जैसे यही उसकी नियति बन जाती है । `बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना` की यही व्याख्या उचित है, डा० दयाशंकर शुक्ल के अनुसार यह व्याख्या भ्रामक प्रतीत होती है- `इस कारण हमारी नैतिकता हमारे विकास की यात्रा में पीछे छूट गयी, हमने उसे बेगाना समझकर त्याग दिया, त्याग ही नहीं उसकी हत्या कर दी ।[१]

`अब्दुल्ला दीवाना` का चिन्तन पक्ष बड़ा ही संकुल है । फलत: उसमें जीवन के आन्तरिक और बाह्य संघर्षों और उनसे उत्पन्न विसंगतियों की अभिव्यक्ति के लिये विसंगत भाषा और विसंगत शिल्प का सहारा लिया गया है । हमारे मूल्य

१- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच। डा० दयाशंकर शुक्ल-पृ० १३१

और जीवन के मध्य जो बेमेलता है वही अभिव्यक्त होने के लिये असंगत भाषा की अपेक्षा रखती है । अनुभूति और अभिव्यक्ति में यही समानता ब्रेसडॅ-नाटकों के शिल्प का वैशिष्ट्य है । ब्रेसडॅ नाट्य शिल्प में परम्परागत नाट्य व रंग मूल्यों को निहित चिन्तन पक्ष को प्रेक्षक तक पहुंचाने के लिये तिलांजलि दी जाती है । इसीलिये दृश्य विधान और उसमें पिरोये गये प्रारम्भ, मध्य और अन्त वाले कथानक का `अब्दुल्ला दीवाना` नाटक में निवाहि नहीं किया गया है । चूंकि जीवन की असंगतियों, विडम्बनाओं या निस्सारता को संगत या सार्थक दृश्यों एवं शब्द समुच्चयों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, इसी कारण उसके लिये असंगत `बड़बड़ाहट की भाषा` को अपनाया गया है । ऐसी भाषा के साथ कठिनाई यह आती है कि वह यथार्थ को प्रकाशित मात्र करती है- सम्पूर्ण रूप से उसकी भाषा की अर्थगत सार्थकता नहीं रह जाती । इस कारण भाषा का जो अनावश्यक विस्तार होता है, उससे बचाव का उपाय यही है कि नाटककार भाषा को लघु सम्वादों के माध्यम से अथवा शब्द समुच्चयों द्वारा प्रयुक्त करे । नाटक में जहां यह दृष्टि रही है वहां यथार्थ बोध कराने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है -

पुरुष- सारे मेहमान आ चुके हैं-----तेरी शादी की तैयारी हो चुकी है ।
युवक- उसके सिर पर सींग निकल आया है ।
पुरुष- किसके ?
युवक- उसके ।
पुरुष- ओह । तू उसे सींग कहता है ?
युवक- यहां नहीं, यहां । वह सचमुच जानवर हो जाना चाहती है । जैसे तुम ---।
पुरुष- कहां हैं मेरे सींग ?
युवक- कुछ जानवरों के सींग नहीं होते ।[१]

१- अब्दुल्ला दीवाना- पृ० ७२-७३

दूसरी ओर, जहां ऐसी असंगत भाषा का विस्तार से प्रयोग होता है, वहां एक या दो वाक्य या शब्द को छोड़कर अन्य सभी शब्द या कथन निरर्थक प्रतीत होने लगते हैं और भाषा के० का अनुपयोग होता प्रतीत होता है । नाटक के प्रारंभ में ही चपरासी का स्वगत कथन, और कुत्तों को गोलियां खिलाने का प्रसंग ऐसा ही है । कहीं-कहीं ये ही लम्बे भाषण निहित नाटकीय द्वन्द्व के कारण दर्शक को बांधे रखने का कारण भी बन जाते हैं । कमिटेड जज के पट्टा पहन लेने के बाद उसके द्वारा डायनोसार के कथा प्रसंग की चर्चा, और अब्दुल्ला के मर्डर-केस का फैसला ऐसे ही नाट्यवत अर्थवत्ता रखने वाले भाषण बन जाते हैं । विशेषकर यह कथन जिसकी रेखांकित पंक्तियां उसकी नाटकीय सार्थकता को प्रकट करने वाली हैं । 'पिछले दिनों वह मुझे एक तंग अंधेरी जगह में कुपा हुआ मिला । उसके सारे बदन पर घाव थे जिन पर कीड़े मकोड़े रेंग रहे थे । वह एक पागल कुत्ते को पकड़े हुए बैठा था और उसका मुंह चूम रहा था। मैंने पूछा- क्यों ? क्यों ? क्यों ? वह चिल्लाया- जब चारों और इतना अन्धेरा है, फिर यह बतमीज़ सूरज इतनी रोशनी क्यों फेंकता है? वह मर गया---वह जिन्दा है । उसने आत्महत्या की---वह मौजूद है । उसने गरीबी दूर की---वह बेहद गरीब है । वह प्रजातंत्र में है पर बेहद गुलाम है । वह कपड़ों से लदा है, मगर नंगा है । वह भूखा प्यासा है, खाता पीता है । वह जो नहीं है, वही दीखता है । वह जो है, उससे हर वक्त भागता है । शून्य में और इ--- हवा में और----सुरंगों में और-----नशे में और ------अन्धेरे में और-----और -----[१]

नाटकीय ऊपर के उदाहरण में रेखांकित शब्दों की महत्ता इस कारण भी है कि वे अन्य शब्दों के साथ सापेक्षतः संयुक्त हैं । मरने और जीने, आत्महत्या और मौजूदगी, प्रजातंत्र और गुलामी आदि ऐसे ही परस्पर अन्योन्याश्रित शब्द हैं जो नाटकीय द्वन्द्व को प्रकट करते हैं। यदि ये ही स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुए होते तो नाटकीय प्रभाव अपेक्षाकृत विरल होता । इन शब्दों में बलाघात और उससे उत्पन्न

१- अब्दुल्ला दीवाना-पृ० १०६

अर्थ गम्भीर गाम्भीर्य की भी सम्भावनाएं निहित हैं । कहीं-कहीं ये शब्द ऐसे नाटकीय बिम्बों को भी जन्म देते हैं जो मंच पर प्रस्तुत न किये जाने पर भी प्रेक्षक के मानस में एक नाटकीय कार्य व्यापार की अमूर्त सृष्टि करते हैं । पुरुष द्वारा सनु सुनायी गयी जंगल की कहानी में लंगूरों पर फायर, लाशों का गिरना और उन पर झुके अब्दुल्ला सम्बंधी प्रसंग ऐसे ही नाट्य-बिम्ब हैं जिन्हें शब्दों के विशिष्ट अर्थों में किये गये प्रयोगों में बन्दी किया गया है । डायनोसारकी आदिम कहानी में भी ऐसे ही नाट्य बिम्ब निहित हैं । ऐसो बिम्ब -भाषा तब अधिक सार्थक हो सकती है जब उसका अभिनटन चरित्रों द्वारा किया जाय । ऐसे में नाटक के ये प्रसंग दृश्यत्व का गुण समेटे हुए हैं । 'अब्दुल्ला दीवाना' की भाषा में बिम्बों के साथ कहीं-कहीं अर्थों की अनुगूंज की भी शक्ति देखने को मिलती है । हर शब्द सीमित अर्थबोध से व्यापक होने की मांग करने लगता है । उसमें निहित अर्थ फैलकर व्यापक अर्थ तक प्रसरित हो जाता है । निम्नांकित बेमेल शब्द संयोजना ऐसी ही अनुगूंज उत्पन्न करने वाली है- 'गर्ल फ्रेण्ड्स---होटल---बिस्तर---सिगरट---ड्रिंक्स---फिल्म्स्-----सेक्स----डाक्टर----दीवारें----दवाइयां------डेडी------कजिन ।' प्रकट में ये शब्द बेमेल हैं लेकिन समग्रता में ये ही आन्तरिक रूप से मूल्य विघटन की प्रक्रिया को बताने वाले हैं । जहां जहां चरित्रों की स्थितियों से सामना करने की शक्ति चूक सी गयी प्रतीत होती है वहां शब्दों का स्थान मंच का अंधकार ले लेता है । नाटक में दृश्य- परिवर्तन ऐसे ही स्थानों पर हैं । प्रकाश का बुझना और फिर आना- नाट्य-शिल्प में परंपरागत अंक या दृश्य व्यवस्था का उच्छेदन कर नवीन प्रयोग को जन्म देता है । अवश्य ही नाटक में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक किसी स्पष्ट विभाजन रेखा का अभाव है । इसका कारण सम्भवत: यह है कि नाटककार मूल्य हत्या के सम्बंध में एक निरन्तर एवं गहरी और तीखी मार करना चाहता है जो बिना रुके ही हो सकती है । प्रकाश के बुझने और फिर आने से उत्पन्न अन्तराल के कारण नाटक को एक साथ दो स्तरों पर आगे बढने में सहायता मिली है । प्रथम स्तर है, अब्दुल्ला की हत्या पर इजलास में चल रहा मुकदमा एवं द्वितीय स्तर है, चरित्रों पर लगे हत्या के आरोप की पुष्टि में उन्हीं के जीवन के प्रसंगों का उद्घाटन जिनसे मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया क्रमश: स्पष्ट हो सके । यह दूसरा स्तर फ्लेश बेक के रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्रकाश के फेड-इन और फेड-अप द्वारा इनसे दो स्तरों को

विभक्त किया गया है ।

`अब्दुल्ला दीवाना` की एक शिल्पगत कमजोरी इस रूप में देखी जा सकती है कि वहां मूल्य-विघटन की यात्रा को क्रमि इतिहास-यात्रा के रूप में न देखा जाकर विविध क्षेत्रों(धर्म,नैतिक,राजनीति इत्यादिद) में यत्र-तत्र बिखेर दिया गया है और उसे व्यक्त करने के लिये हर क्षेत्र में चरित्र विशेष को नियुक्त कर दिया गया है, यथा- धार्मिक क्षेत्र में पुरुष, नैतिक क्षेत्र में जज, डायरेक्टर और राजनीतिक क्षेत्र में पुलिस, स०वकील और वकील । इसी कारणमूल्य विघटन और उसकी हत्या की कहानी कतिपय तथ्यों को एकत्र करके पूरी करने की प्रतिबद्धता नाटककार के सामने रही है । चुने हुए तथ्यों द्वारा ही मूल्यों की हत्या के प्रश्न को उजागर करने के लिये भाषा के साथ-साथ अन्य नाट्य स्थितियों यथा- ड्रिल, पागलपन, अदृश्य चरित्रों की भीड़ एवं सूक्ष्म दैवी सत्संग-चित्र का सहारा लेना आवश्यक हुआ है । इन नाट्य स्थितियों ने जीवन की विद्रूपता और बेतुकेपन को प्रकट करने में भाषा के साथ सहयोग किया है । इसीविसंगति बोध के मध्य हास्य के चुटीले और निरर्थक प्रसंगों को भी जोड़ा गया है जो `ब्लेक हयूमर` वाले एब्सर्ड नाट्य-शिल्प का स्मरण दिलाता है । ऐसे प्रसंग प्रेक्षक को चिन्तन की ऊष्मा प्रदान करते हैं और उन्हें अपनी संज्ञा बनाये रखने की प्रेरणा भी देते हैं ।

नाटक में किसी व्यवस्थित कथानक के न होने से इसमें निहित कार्य-व्यापार में क्रमिक विकास को देखना किंचित कठिन है । नाटक का कार्य निरन्तर आन्तरिक तनाव से गुजरता है । उसके केन्द्र में `अब्दुल्ला` है और सभी चरित्र और उनकी क्रियाएं उसी के सम्बंध में अपनी-अपनी बात किसी ना किसी माध्यम से करती हैं । ऐसे में नाटक के कार्य-व्यापार का फैलाव वृत्ताकार दिखायी देता है । चरित्रों के जज की इसी के चारों ओर घूमते खजाने के साथ नाटक के अन्त की बताने के पीछे यही तथ्य है । नाटक के कार्य-व्यापार को अनेक अन्तरालों द्वारा तोड़ा गया है और दृश्य-विभाजन के अभाव को पूर्ति करने का प्रयास किया गया है । लेकिन किसी विशिष्ट सीमा रेखा के अभाव में नाटक का संपूर्ण कथ्य क्रमिक और वर्गीकृत होकर नहीं प्रकट हो पाता ।

इससे नाटक में कहीं-कहीं शिल्पगत शैथिल्य भी देखने को मिलता है । व्यक्ति के आन्तरिक मन की छटपटाहट , उद्वेलन और आन्तरिक शून्य को भरने की अकुलाहट के कारण ही कथ्य के विकास में ऐसा क्रम(फलत: शिल्पगत शैथिल्य) दिखायी देता है।

नैतिकता के हनन और उससे उत्पन्न मूल्यविहीनता वर्तमान रचनाओं के सन्दर्भ में नया विषय नहीं है । समकालीन परिवेश के अन्धकार और खालीपन को हिन्दी की विविध रचनाओं में अभिव्यक्ति भी मिली है । चाहे वह `एक चूहे की मौत`(बदीउज्मा), हो या `सुखान्त`(दूधनाथसिंह), `राग दरबारी(श्रीलाल शुक्ल) हो या `कुचेंगिरी`(महेन्द्र भल्ला),`तांबे के कीड़े`(भुवनेश्वर) हो या `एक और द्रोणाचार्य `(डा० शंकर शेष)- `तिलचट्टा` हो या `तेन्दुआ` । मुद्राराक्षण ), `रस-गन्धर्व` हो या `दरिन्दे`(हृदीपुल्ला) मूल्यविहीनता की स्थिति के साथ `सड़क पर चलते अचानक दीखने वाले अनागत अब्दुल्ला । की कहानी सभी कहते हैं-`इस अनागत को हम करें क्या। जो कि अक्सर। बिना सोचे बिना जाने। सडक पर चलते अचानक दीख जाता है ।`(डा० नामवरसिंह।अनागत) प्रस्तुत नाटक का वैशिष्टय यह है कि यहां उसी नैतिकता के हनन की कथा को क्रुद्म कथानक द्वारा प्रकट नहीं किया गया है बल्कि उस नैतिकता को कथानक का सीधा केन्द्र बिन्दु मानकर उसे मानवीकरण द्वाराप्रकट किया गया है । यह एक रोचक तथ्य है कि यहां अब्दुल्ला केन्द्रीय पात्र होने पर भी कभी प्रत्यक्ष मंच पर नहीं आता- वह तो मरकर और प्रेत बनकर अन्य चरित्रों के मानस को आलोड़ित करता रहता है । प्रथमबार डा० लाल ने नैतिकता को अब्दुल्ला जैसे मौलिक `मिथक` के माध्यम से प्रस्तुत किया है । यह विषय सभी देश और कालों के सन्दर्भ में विचारणीय है, जैसा कि डा० शुक्ल ने भी लिखा है- `अब्दुल्ला दीवाना किसी एकदेशीय अथवा एक समस्या पर आधारित नाटक नहीं है, प्रत्युत मूल्य संघर्षों का एक व्यापक चित्र है जो किसी भी देशकाल से सम्बंधित हो सकता है ।[१]

१- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच-डा० दयाशंकर शुक्ल-पृ० १३७

व्यक्तिगत :

`करफ्यू` और `अब्दुल्ला दीवाना` में विघटित जीवन मूल्यों की प्रतिक्रिया स्वरूप दो भिन्न स्तरों पर क्रमश: `एक सोचे समझे, निर्धारित किये हुए और निश्चित किये हुए `रास्ते और `अब्दुल्ला को मारकर नये अब्दुल्ला के पैदान होने के विकल्पों को प्रकट किया गया था । दोनों ही रूपों में यह एक `मूल्य` ( value ) -यात्रा है जिसमें आत्म साक्षात्कार द्वारा जीवन की विसंगतियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया गया था । `करफ्यू` में अभिव्यक्ति इस कारण मुखर नहीं हो पायी है क्योंकि वहां चरित्रों द्वारा लिये गये निर्णय के सामाजिक स्वीकार में अभी एक लम्बा समय लगेगा, उस निर्णय को सामाजिक औचित्य की कसौटी पर कसा जाना अभी शेष है ।`अब्दुल्ला दीवाना` में मूल्य विघटन पर नवीन मूल्यों को ओढ़ लिये जाने के कारण उस विघटन की भयावहता ढंक सी गयी- फलत: नव मूल्यवादी समाज में मूल्य विघटन की प्रक्रिया को स्पष्ट करना भी टेढ़ी खीर हो गया । दूसरे शब्दों में, दोनों नाटकों में `अभिव्यक्ति का संकट` बना रहा है । यही नहीं, जहां `करफ्यू` में मूल्यों के सम्बंध में विचार करने के लिये चार चरित्रों को अन्योन्याश्रित जोड़ों के रूप में प्रस्तुत किया गया है वहां इस प्रश्न पर विचार करने के लिये `अब्दुल्ला दीवाना` में तो चरित्रों की लम्बी भीड़ ही लगा ली गयी । इस कारण `मूल्य` और `मूल्य-~~विहीनता के मध्य एक~~ विहीनता ` के मध्य का संघर्ष सीधा न होकर अनेक पात्रों के मध्य हो गया । इस पर भी ये चरित्र अन्य से तो उक्त प्रश्न को लेकर जूझ ही रहे थे, अपने अन्दर भी इसी प्रश्न के सन्दर्भ में अन्तर्द्वन्द्व के मध्य पड़े हुए थे । इस दोहरे स्तर के द्वन्द्व के कारण `अभिव्यक्ति का संकट` और गहरा हो गया । इस संकट से मुक्त होने में और मूल्यों के द्वन्द्व को सीधा प्रभावी बनाने की दिशा में `व्यक्तिगत` की रचना और उसमें नाटकीय चरित्रों के सीधे संघर्ष की सृष्टि एक महत्वपूर्ण नाट्य कर्म कहा जा सकता है ।

`व्यक्तिगत` नाटक अपने पुस्तकाकार रूप में सन् १९७५ में प्रकाशित हुआ और सर्वप्रथम `यात्रिक` नयी दिल्ली द्वारा २९ दिसम्बर १९७४ को `अनामिका`, कलकत्ता के अखिल भारतीय नाट्य महोत्सव में कला मंदिर में प्रस्तुत किया गया । दूसरे शब्दों में,

नाटक प्रकाशित रूप में आने से पूर्व ही प्रस्तुत कर लिया जाकर रंग-कर्म के प्राथमिक दायित्व का निर्वाह कर चुका था ।

यह नाटक कथ्य और शिल्प के स्तर पर स्वयं में पूर्ण नहीं है बल्कि अतिरिक्त व्याख्याओं के द्वार खोलता है । कथ्य के स्तर पर यह नाटक 'स्वातंत्र्योत्तर भारत के जीवन नाटक को प्रस्तुत करने का साहस है और इसके लिये 'मैं ' जैसे चरित्र की सृष्टि की गयी है । यह 'मैं ' उक्त सम्पूर्ण नाटक को घनीभूत करता है और विस्तार से केन्द्र की ओर घनीभूत होनेवाले शिल्प को जन्म देता है । यही नहीं, प्रस्तुति के स्वर पर यह नाटक निर्देशक और अभिनेताओं की प्रतिभा को सहभागी बनाकर चलता है । नाटक कार ने अपने पास केवल शब्दों के वहन का अधिकार रखा है और उन्हीं के मध्य वह निहित अवधारणाओं को व्याख्या देने का प्रयास करता है ।

'मैं ' और 'वह ' दो चरित्र हैं । प्रकट में उनका सम्बन्ध पति-पत्नी का है लेकिन व्यापक रूप में वह शोषक और शोषित और पुरुष व स्त्री के आदिम संस्कारों का द्वन्द्व बनकर उभरता है । पहले दृश्य में 'मैं ' और 'वह' के सम्वाद द्वारा 'मैं ' का आत्म विरोधी चरित्र समझा आता है । 'वह ' से स्वयं पीछे पड़कर शादी करके उसी पर अपने कायर पौरुष का प्रदर्शन ' मैं' में निहित अन्तर्विरोधों को व्यक्त करता है । उसमें बाध्य और अन्दर के विरोधी रूपों को देखकर 'करफ्यू' के गौतम का स्मरण होने लगता है । मनीषा की भांति 'वह' भी उसके इस रूप को चुनौती देती है -'आप में हिम्मत है? रोज बाहर से घर में घुसते ही चिल्लायेंगे- पलां ऐसा है---उसने ऐसा किया । उसने उससे ऐसा कहा---वह इता झूठा है ।वह ब इत्ता भ्रष्ट है, अनैतिक है ---कायर है, व्यभिचारी है----उन लोगों के सामने तो खूबसूरत सा मुंह बनाये रखेंगे ।[१] इसी कायर पौरुष का परिणाम है कि'मैं' 'वह' के पीछे पड़कर विवाह करता है- 'चाहने और होने में जो फर्क है 'वही है 'मैं' और'वह' की शादी । इस फर्क को दूसरे दृश्य में व्यक्त किया गया है ।

१- व्यक्तिगत- पृ० १३

दाम्पत्य सम्बंधों में पुरुष वर्ग की अहंता को दर्शाने में यह दृश्य सहायक होता है । इससे आगे 'मैं' के चरित्र के व्यापक होते जाने और 'वह' के चारों ओर एक ~~दम्भरत~~ दायरा खिंचते जाने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । 'वह' इस दायरे के विरुद्ध संघर्ष करती है और उस संघर्ष की परिणति को चिन्तन के स्तर पर फैलती है । यही वह बिन्दु है जहां 'वह' 'मैं' को पराजित करती है और उसे अपने ही फैलाये जाल में फंस जाने का बोध कराती है- नाटक में निहित इस विकास प्रक्रिया को इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -

'मैं' द्वारा 'वह' के चारों ओर अपनी महत्ता
का प्रभामण्डल बनाना-

'मुझे एक से एक बढ़कर लड़की शादी में मिल रही थी । एक से एक मोटे दहेज। एक शादी तो इतनी बढ़िया थी कि मेरे पिता जी का राजनीतिक जीवन एकाएक चमक जाता ।'

'वह' द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को चिन्तन
के स्तर पर फैलना-

'यह मुझे बेहद चाहते हैं- पर क्यों, किस तरह चाहते हैं ? यह हर वक्त मुझे प्रभावित किये रहना चाहते हैं ? पर क्यों? पति-पत्नी के रिश्ते में इसकी क्या जरूरत ? यह मेरे लिये ईमानदार हैं पर लगता है जैसे हर समय कोई चीज मुझसे छिपा रहे हैं । मुझसे इतनी बु चतुराई क्यों ?

'मैं' द्वारा 'वह' के चारों ओर अपनी
महत्ता का प्रभामंडल बनाना-

'ऐसी सड़ी नौकरी को मैंने लात मार दी । अब मैं 'बिजनेस' करूंगा । क्या रखा है इस नौकरी में । ---गुडविल हो तो पूंजी की क्या कमी ? असली चीज़ इच्छा है--- मिस्टर मल्होत्रा मेरे दोस्त थे । उनकी फाइल गुम करके---लोग मुझसे जलते थे । अच्छा हुआ, इसी बहाने इस नौकरी से । मैंने देख लिया- सबसे बड़ी ताकत है पैसा ।'

'वह' द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को
चिन्तन के स्तर पर फैलना-

मैं- यही चारों ओर है ।

वह- चुप रहो ।

(विराम)

मैं- रोज अखबार नहीं देखतीं, कैसी कैसी बातों, घटनाओं से भरा रहता है ।

वह- ऐसा क्यों ?

मैं- हमारी हुकुमत ऐसी है ।

वह- ऐसे तुम नहीं हो ?

मैं- पर यहां हो कुछ और रहा है ?

वह- हम कुछ और नहीं हो रहे हैं ?

\+ + +

वह- निजी विचार ! (हंसती है) जब कोई अपना विश्वास ही न हो, चरित्र हीन न हो तो निजी विचार क्या हो सकता । एक बात और भी तो है- हमें बचपन से ही यह महसूस होता रहता है कि हमारे निजी विचारों और कामों का कोई महत्व नहीं । इसलिये हम दूसरों के काम करते हैं - औरों की जिन्दगी ओढ़ते चले जाते हैं । पता ही नहीं चल पाता कौन क्या था-- कौन क्या है ?

'मैं' द्वारा 'वह' के चारों ओर अपनी महत्ता का प्रभामण्डल बनाना -

'बहुत दिन हुए, चाय पीते हुए, हमारे बीच कोई इण्टलेक्चुअल बातचीत नहीं हो सकी ।

(चाय)

वह- आप सचमुच महान हैं ।

मैं- नहीं, समाज में अपनी इमेज बनानी पड़ती है ।

'वह' द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को चिन्तन के स्तर पर फेंकना-

मैं- सारा दोष राजनीति का है ।

वह- हर्गिज नहीं । जैसा हमारा जीवन होगा, वैसी ही राजनीति होगी ।

मैं यह गलत है ।

वह- हम वहीं हैं ।

\+ + +

वह- कहीं पढ़ा था, आर्थिक स्वतंत्रता ही बुनियादी स्वतंत्रता है । पर कहां है वह स्वतंत्रता ? हमारा रहन-सहन, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, हमारी सारी आदतें उस भूखे गुलाम जैसी हैं जिससे कभी सन्तोष नहीं होता ? हर चीज में नकल, हरकाम में दिखावा । फिर क्या मतलब है इस स्वतंत्रता का ?

'मैं' द्वारा 'वह' के चारों ओर अपनी महत्ता
का प्रभामण्डल बनाना -

'तुम जानती हो, मैं ऐसे जूते पहन कर बाहर नहीं जा सकता । तुम्हें पता नहीं, इसका क्या असर पड़ता है ?'

'वह' द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को
चिन्तन के स्तर पर फैलना -

'हम जितने साफ सुथरे बनने की कोशिश कर रहे हैं, अपने चारों ओर उतनी ही गन्दगी फैला रहे हैं ।

\+ \+ \+

'मैं ऐसी क्यों होती जा रही हूं ? कहां गया मेरी सारी अस्मिता । वह संगीत कहां है? कैसी-कैसी इच्छाएं भी तो हैं ? मैं शान्ति भी चाहती हूं और विद्रोह भी । मतलब और शादी और नौकरी, दोनों ।'

'मैं' द्वारा 'वह' के चारों ओर अपनी
महत्ता का प्रभामण्डल बनाना-

'जब सब लोग यही करते हैं तो मैं क्यों न करूं ? यू एग्री विद मी ?---खैर, तुम्हारे एग्री हम करने ना करने से कोई फर्क नहीं पड़ता । मैं तमाम ऐसे काम करता हूं जिनसे मैं खुद एग्री नहीं करता ।

'वह द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को
चिन्तन के स्तर पर फैलना-

मैं- वक्त बरबाद नहीं करो । बच्चों के लिये नौकर हैं । आया है ।

वह- पर हम कहां हैं ?

मैं- फिर वही बेमतलब की बातें- हमारी अपनी जिन्दगी है, बच्चों की जिन्दगी अलग है ।

वह- अपने बच्चों से ही हम दूसरों से जुड़ने का संस्कार पाते हैं ।

\+ + +

`मुझे भी क्या हो गया ? मेरा सारा विद्रोह, वे सारी विशेषताएं कहां चली गयीं ? मुझे भी क्या हो गया ? मेरा सारा विद्रोह, वे सारी विशेषताएं कहां चली गयीं ? मैं इतनी सारी चीजें एक साथ क्यों चाहती हूं ? जैसे वह मुझे कितने टुकडों में बांटकर देखते हैं । (सहसा) यहां की सारी चीजें बिखरी बिखरी क्यों हैं ? यहां की सारी चीजें मैंने सजायी थीं । एक-एक चीज अपने हाथों से । यह संस्कार मुझे मां से मिला था । कितनी धूल जम आयी है यहां ! हवा में यह उड क्या रहा है ? यह क्या चीज है ? (पकड़ना चाहती है) कुछ पकड़ में नहीं आता (फिर प्रयास) कुछ भी नहीं ।`

`मैं` द्वारा `वह` के चारों ओर अपनी महत्ता का
प्रभामण्डल बनाना-

`देखो, हमने खेल शुरू किया था, हम उसे अधूरा नहीं छोड़ सकते ।---मैंने कहा न, मैं सारा खेल पूरा करूंगा ।`

`वह द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति को
चिन्तन के स्तर पर झेलना-

`यह चुनाव नहीं, बेइमानी है----डाकाजनी ।`

\+ + +

`मैंदेख रही हूं, एक सम्पूर्ण आइना था जो टूटकर असंख्य टुकडों में बिखर गया ।--- अब उसके हर टुकडे में वही मैं दिखता है और अपने आपको सम्पूर्ण कहता है ।--- पर दूसरे को , मुझ को टुकडों में बांटकर देखता है ।`---`हां, सिर्फ आवाज ही तो बदल जाती है । इसके अलावा हमारी जिन्दगी में कुछ घटता ही नहीं । और अगर कुछ नया घटता है तो बस, दूसरों की जिन्दगी में ।`

`मैं` द्वारा `वह` के चारों ओर अपनी महत्ता का
प्रभामण्डल बनाना-

`पता भी है- आज मैंने लोगों को काकटेल-डिनर पर बुलाया है । अब हमें चलना चाहिये । मैं कपड़े बदलने जा रहा हूं । तुम भी कपड़े बदल डालो । किन फजूल के विचारों में पड़ी रहती हो ? सोचो, ये विचार उन लोगों के दिमाग में क्यों नहीं आते जिनके हाथ में ताकत है । टू एक्जीक्यूट ! मनुष्य स्वभाव से आयडियल नहीं है- अब जब तक उसके ऊपर किसी का भय न हो, वह कोई भी अच्छा काम नहीं कर सकता । अच्छे विचार से कहीं बेहतर है अच्छे कपड़े पहनना ।`

`वह द्वारा संघर्ष और इसकी परिणति से को
चिन्तन के स्तर से पर फेलना-

मैं- मैं तो औरों की बातें कर रहा था ।

वह- जिसे तुम औरों की बात कहकर अपने आपको उनसे अलग और स्वतंत्र मानते हो, यही झूठ हमें कुछ नहीं बनने देता ।

मैं- देखो, फिर उन्हीं बातों पर उतर रही हो ।

वह- ऐसा कुछ भी नहीं है हमारे पास । क्योंकि हम हिम्मत हार चुके हैं और हमारा मैं असंख्य टुकड़ों में बिखर रहा है ।

मैं- हम टहलने निकले हैं ।

वह- अपने आप में बंद रहकर टहलने का पाखण्ड । टहलना है तो बाहर निकलो ।

मैं- कहां ?

वह- जहां लोग हैं ।

नाटक के इस अन्त पर पहुंच `वह` का `मैं ` के विरुद्ध संघर्ष अपनी चरम स परिणति पर चिन्तनशील या अन्तर्मुखी नहीं होता प्रत्युत `वह` `मैं` के एकाकी अहं के प्रति दयार्द्र होकर उसे `मूल्य के संसार में लौटने का आह्वान करती है । यह ऐसा संसार है जहां सिर्फ मैं नहीं है, जहां कुछ भी उस मूल्य के बिना संपूर्ण और स्वतंत्र नहीं है ।`वह` का बाहर आने का आह्वान और `मैं `का अपने ही एकत्र समग्र सामान में नीचे दबकर रह जाना- यह नाटक का ऐसा अन्त है जहां जीवन का यथार्थ अपने विद्रूप के साथ समक्ष आता है ।`मैं ` का सामान के नीचे दब जाना ऐसी विसंगत स्थिति है जो नाटक के अभिव्यक्ति के संकट को गहरा देती है ।

प्रारंभ से लेकर अन्त तक नाटक का द्वन्द्व 'मैं' की अहंता और आत्म-रति के 'वह' की मूल्य-दृष्टि के विरुद्ध टकराहट का द्वन्द्व है । इसी कारण नाटकीय कार्य इनके संघर्ष के मध्य ही प्रसार पाता है । इस संघर्ष से ही 'व्यक्तिगत' की शीर्षकगत सार्थकता समझ आती है । मैं और 'वह' के इस सम्वाद में नाटक की यही प्राण-रेखा दिखायी देती है -

मैं- तुम क्या बेसिर पैर की बातें करती हो ? चारों ओर इतनी धांधली है, झूठ,पाखण्ड, अन्याय,भ्रष्टाचार-----

वह- इसी के खिलाफ जो जितना लड़ता है, जिन्दगी से जुड़ता है, वही है उतना व्यक्तिगत उसका ।

मैं- हैलो----हैलो---क्या कहा ? कुछ समझ में नहीं आय ।

वह- अपने चारों ओर के
अन्धकार के खिलाफ जो जितना लड़ता है
जो जितना जुड़ता है जिन्दगी से
उतना ही उसका अपना
वही है उसका सपना ।

'व्यक्तिगत' एकाकी अधिकार भावना का नाम नहीं है प्रत्युत जीवन के प्रति समर्पण पूर्ण उत्तरदायित्व का नाम है । वहां अहम् नहीं प्रत्युत अहम का विगलन और अहम् की सामाजिक स्वीकृति की प्रधानता है ।

'मैं' और 'वह' के द्वन्द्व को प्रेरणास्पद मोड़ देनेवाला चरित्र है श्रीमती आनन्द का । यह चरित्र एक प्रकार से 'मैं' के कार्यों को चुनौती और 'वह' के चरित्र के औचित्य को सिद्ध करता है । वह 'मैं' को दर्पण दिखाकर उसे आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रेरित करता है और 'वह' के मार्ग को जस्टीफाई करता है -

श्रीमती- स्वतंत्रता। व्यक्तिगत लाभ। इच्छाओं का पुरुषार्थ। आखिर निजी जीवन क्या है ?

मैं- अपने लाभ के अतिरिक्त और यहां क्या है ?

श्रीमती- क्यों, निजी जीवन बिताने का अधिकार दूसरों के हाथों में देते जा रहे हो? वे चारुताएं- मानवीय गुण-प्रेम और दया लुप्त हो रही हैं । देवतुल्य तुम-हम रैबत्ड़ के पशु बन रहे हैं ।

मैं- जो मुझे चाहिये, मैं उसे लेकर रहूंगा । यही तो पुरुषार्थ है ।

श्रीमती- किसलिये, बोलो । ओह, अकेले हो।पर किसने किया अकेला।आओ, मेरा हाथ पकड़ो । चलो, मेरे साथ। क्यों हो अकेले ।आओ !

श्रीमती आनन्द वस्तुत: हैं `वह` का ही प्रतिरूप लेकिन `मैं` के लिये `दूसरी` होने के कारणअनुकरणीय ।शोषित की पीड़ा से मुक्त इसी कारण वे जातिवाचक न होकर व्यक्तिगत वाचक संज्ञा हो जाती हैं ।

संवेदना के धरातल पर जैसा कि कहा गया है,`व्यक्तिगत`-`आजादी के बाद की हमारी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक अवस्थाओं की शक्तियों और प्रेरणाओं से उत्पन्न हुआ स्वतंत्र भारत का जीवन नाटक[१] है । स्वतंत्र भारत के इस जीवन नाटक को ही अभिव्यक्ति देने का प्रयास इस नाटक का विषय है । अभिव्यक्ति का संकट तब दिखायी देता है जब अन्तत: `वह` के आह्वान पर भी `मैं `अपने ही सामान के बोझ तले दबकर रह जाता है और बाहर नहीं निकल पाता है । यह बाहर निकलना एक प्रकार से अपने चारों ओर बुने आत्म-वंचना के चक्रव्यूहों को तोड़ना है, आत्म-केन्द्रिता से आगे बढ़कर सामाजिक बनना है । हमारा `सिस्टम` का जाल जिन लोगों को फंसाता है, उनमें से `मैं` भी एक है जबकि `वह` इस जाल से मुक्त होने की अदम्य लालसा रखती है । यह लालसा ही `वह` को सामाजिक दायित्व से जोड़ती और उस चिन्तन की ऊष्मा को प्रदान करती है जो वस्तुत: नाटककार की चिन्ता है, ऐसी चिन्ता जो आज के न्यूक्लियर समाज में विभाजित और उपजीवी मनुष्य(जो एक जाति वाचक सम्बोधन `मैं` द्वारा प्रकट किया जा सकता है।) के कारण उत्पन्न हुई है । अपने एकाकी अहं में बंधे `मैं ` को उसके सामाजिक दायित्व से जोडने की प्रक्रिया बहुत धीमी है -सम्भवत: इसीलिये नाटक की गति भी बहुत धीमी है ।`वह` द्वारा `मैं ` को `बाहर निकलने का आह्वान करना एक प्रकार से संस्कृतीकरण की प्रक्रिया है, बंधने से खुलने की प्रक्रिया है और `रिजर्व` से `रिलेक्स` होने की प्रक्रिया है ।

१- नाटककार लक्ष्मीनारायणलाल की नाट्य-साधना-नरनारायण राय ।

`व्यक्तिगत` का द्वन्द्व उक्त प्रक्रिया के मध्य की अनिवार्य स्थिति है । यह स्त्री और पुरुष या पति और पत्नी के विरुद्ध ही नहीं, अपनी व्यापकता में व्यक्ति और समाज का द्वन्द्व है । के नाटकों में इस द्वन्द्व की एक परम्परा रही है । `अन्धा कुआ` के भगौती और सूका , `मादा कैक्टस` के अरविन्द और मीनाक्षी और `रातरानी` के जयदेव और कुन्तल उक्त द्वन्द्व के विविध सोपान हैं । `अन्धा कुआ` में अन्ततः भगौती द्वारा अपराध की स्वीकृति व्यक्ति के अहम् का दलन प्रदर्शित करता है, `मादा कैक्टस` में `अन्धा कुआ` से विपरीत अरविन्द के अहं के समक्ष कुन्तल को आत्म-समर्पित होना पड़ा है , `रातरानी ` कुन्तल के समर्पण से जयदेव को आत्म-स्वीकृति का मार्ग मिलता है । `व्यक्तिगत` में आकर व्यक्ति को अन्ततः अपने अहं से निकले निकलने की प्रेरणा मिलती है लेकिन उसके द्वारा अब तक भोगा जीवन ही उसके `बाहर निकलने की दिशा` में बाधा बन जाता है ।

`व्यक्तिगत` की चिन्तन प्रकृति का एक पहलू और भी है जहां वह व्यक्तिवाद के दुष्परिणामों की ओर इंगित करता है । हमारे देश में यह प्रवृत्ति स्वतंत्रता के बाद शनैः शनैः अति की सीमा को पारकरने लगी । `हड़पने` और `भोगने ` की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि हमारे यहां `मूल्यों ` के प्रति एक प्रकार की वितृष्णा जन्म लेने लगी- निहित स्वार्थों के आधार पर जीवन-मूल्यों का संघटन होने लगा । हर व्यक्ति हड़पने और भोगने वाला बनकर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में एक `महातंत्र` का निर्माण करने लगा । ऐसे महातंत्र में `वह` की स्थिति धीरे-धीरे कीटभृंग न्याय के समान ` मैं ` के रूप में ढलते जाने की है । `व्यक्तिगत` नाटक में `वह` लड़ती तो है `मैं ` के विरोध में है लेकिन इसी विरोध में वह अपनी इयत्ता खोती जाती है- `मैं ऐसी क्यों होती जा रही हूं ? कहां गयी मेरी सारी अस्मिता । वह संगीत कहां है ? कैसी-कैसी इच्छाएं भी तो हैं? मैं शान्ति ब भी चाहती हूं और विद्रोह भी । मतलब शादी और नौकरी-दोनों ।`

\+ \+ \+

' मेरा सारा विद्रोह, वे सारी विशेषतायें कहां चली गयीं । मैं इतनी सारी चीजें एक साथ क्यों चाहती हूं ? जैसे वह मुझे कितने टुकडों में बांटकर देखते हैं ।'

+ + +

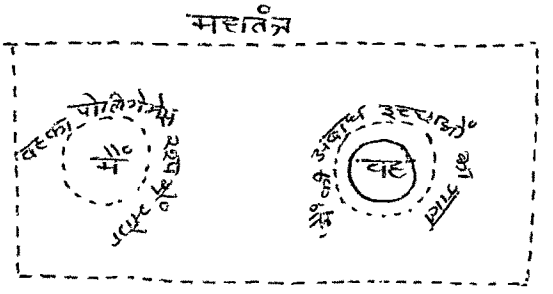
'वह' का 'मैं' के विरुद्ध संघर्ष व्यवस्था के अन्दर लड़ा जा रहा एक अपुंसक संघर्ष सिद्ध होता है । इस युद्ध में 'वह' का 'मैं' के रूप में ढलते जाना 'मैं' के लिये शक्तिशाली होते जाने का सुअवसर है । क्रमश: शक्तिशाली होते जाने की यह प्रक्रिया अन्तत: 'महातंत्र' या 'ग्रेड-सिस्टम' के जन्म का कारण बनती है । इसी 'सिस्टम' में अनेक 'मैं' जन्म लेते हैं और वास्तविक नैतिकता के हनन के साथ नवीन नैतिकता (नये अब्दुल्ला) का जन्म होता है ।

इस 'ग्रेण्ड सिस्टम' में 'मैं' स्वयं को जितना महत्वपूर्ण समझता है वस्तुत: उतना है नहीं क्योंकि उसे भी उसी सिस्टम ने जकड़ रखा है । गुण्डा और मिस्टर मल्होत्रा 'मैं' को जकड रखने वाले ऐसे ही अंकुश हैं । यही अंकुश उसे प्रश्नहीन और यथास्थितिवादी बनाता है । इसीलिये उसमें अपने होने( ) का बोध नहीं - रखकर स्वयं से क्यों और कैसे जैसे प्रश्न पूछने की गुंजायश भी नहीं है ।

प्रश्नहीनता, उपजीविता और यथास्थितिवाद के मध्य यह नाटक एक ऐसी तलाश का प्रयत्न है जो ऐसा क्रान्तिदर्शी चरित्र समक्ष ला सके जो महातंत्र द्वारा चालित जीवन की व्यवस्था और उसके संपूर्ण यथार्थ को देखकर उसे बदलने का व्रत ले सके । 'वह' ऐसा ही चरित्र है । उसके चरित्र में कहीं अभाव है तो यह कि वह प्रश्न तो कर सकता है लेकिन उसके प्रश्न भावावेग जनित अधिक हैं, 'संकल्प' अथवा 'प्रज्ञा' का वहां अभाव है । परिवर्तन तभी संभव है । इस संकल्प या प्रज्ञा शक्ति का समावेश श्रीमती आनन्द जैसे चरित्रों में किया अवश्य गया है । किन्तु वह 'फन्टासी' के स्तर पर होने से यथार्थ स्तर पर सम्प्रेषणीय नहीं बन पाया है । इस चरित्र को यदि नाटक कार्य व्यापार में समान हिस्सेदार बनाया गया होता तो वह 'मैं' को अन्दर से बाहर लाने' के कार्य में अधिक सक्षम सिद्ध होता । निस्सन्देह तब यह चरित्र नाटक में एक तीसरे आयाम की रचना करता -

मैं	वह	श्रीमती आनन्द
↓	↓	↓
अहं बोध	हीनता बोध	मूल्य बोध
↓	↓	↓
आत्म रति के कारण	संकल्प या प्रज्ञा के अभाव में	संकल्प के कारण ।
(प्रथम आयाम)	(द्वितीय आयाम)	(तृतीय आयाम)

नाटक में 'मैं' के लिये 'वह' और 'वह' के लिये 'मैं' का चरित्र क्या है, इसे भी इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -



'मैं' का Polygamous व्यक्तित्व एक ओर उसके खण्डित व्यक्तित्व का परिचायक है तो दूसरी ओर महातंत्र और वह का पूर्ण व्यक्तित्व भी मैं की अबाध इच्छाओं के जाल में फंसकर अकार्य हो जाता है। तिस पर दोनों ही महामंत्र के अंग होने के कारण एक चक्रव्यूह की व्यवस्था की ओर संकेत करता है।

'मैं और वह' पुरुष और स्त्री के आद्यरूप की एक अविरत यात्रा की ओर संकेत करते हैं। यह यात्रा आधुनिक युग में एक चरम सोपान पर पहुंच रही है जहां परस्पर अविश्वास, स्वार्थ और आत्महीनता के कारण उनमें विलगन की प्रक्रिया एक अनिवार्य नियति बनकर समक्ष आ रही है। नाटक के कार्य व्यापार में यही विलगन एक 'लय' उत्पन्न करता है। इस लय का हेतु है परस्पर विरोधी चरित्रों का संघटन और उनके विरोधी कार्योद्घाटन से नाटकीय संघर्ष का सृजन। प्रत्येक दृश्य में एक तरफ 'मैं' का एकान्तिक अहं ऊंचे से ऊंचा चढ़ता जाता है और दूसरी ओर उससे संघर्षरत 'वह' उसी अनुपात में अपनी हीनता में नीचे गिरती जाती है। अंतिम दृश्य 'बाहर' (वह) और 'भीतर' (मैं) के द्वन्द्व की एक निराशाजनक परिणति का संकेत भर करता है। अपने ही एकत्र किये गये सामान के बोझ में दबा 'मैं' युगीन आयनेस्को के

'दि न्यू टेनेन्ट', 'विक्टिम्स आफ ड्यूटी' और 'दि चेयर्स' नाटकों का स्मरण दिलाता है जिनमें नाटक के अन्त में मंच क्रमश: प्यालियों और तश्तरियों खाली कुर्सी व अन्य सामानों से भर जाता है।[1] यह एक प्रकार से 'वस्तु का भाषा पर हावी' होना है और स्वयं आयनेस्को के शब्दों में 'अनाध्यात्मिक शक्तियों की विजय का प्रतीक है'[2]। 'व्यक्तिगत' में भाषा क्रमश: जब चुकती जाती है तो पहले स्थितियां और तब वस्तु उसका स्थान ले लेती है। 'हाइड एण्ड सीक' वाला खेल, आइने का टूटकर टुकड़े टुकड़े हो जाना, 'मैं' की आंखों में बंधी पट्टी और श्रीमती आनन्द का प्राकट्य कपड़े के सिरों को पकड़ कर मैं और 'वह' द्वारा उसे टेलीफोन बनाकर बोलना किन्तु परस्पर बातचीत नहीं कर पाना, खुदकशी के लिये तेजधार वाली चीज का। न मिलना और 'वह' द्वारा स्वयं और 'मैं' को रस्सी से बांधना, बाहरी दरवाजे पर कई हाथों के दस्तक और 'मैं' का इनसे डरकर भीतर भागना और अन्तत: अपने ही सामान के बोझ तले 'मैं' का दब जाना-'मैं और 'वह' के बीच असम्प्रेषण और उससे उत्पन्न वस्तु-वादी दृष्टि द्वारा जीवन की मूल्य-चेतना को ढंक लेने का परिचायक है। 'यहां की चीजें इतनी बिखरी बिखरी क्यों हैं और एक सम्पूर्ण आइना था जो टूट गया' कहकर 'वह' आधुनिक जीवन के बिखराव और टूटन को एक पूर्ण नाट्य बिम्ब में बांधती है। इन स्थितियों के अंकन में भाषा का वह स्वरूप देखने में आता है जो दृश्यत्व की प्रतिष्ठा करता है। भाषा के दृश्यत्व बोध में ही वह गुण निहित है जो 'जीवन के गहरे और तिक्त प्रश्नों को शक्कर में लिपटी 'क्विनाइन की गोली'[3] के रूप में अभिव्यक्ति देता है। जहां 'अब्दुल्ला दीवाना' में भाषा की एब्सर्ड प्रकृति द्वारा जीवन की विसंगतियों को प्रकट किया गया था वहां 'व्यक्तिगत' में भाषा की एब्सर्डिटी एबसर्डिटी न रहकर दृश्यत्व को प्रकट करने हेतु लुकाछिपी का खेल बन जाती है। यहीं से डा० लाल के फार्म में एक आधारभूत संक्रमण की भूमिका प्रारम्भ होती है जो आगे चलकर 'लीला नाटकों' के रूप में एक नाट्य-दर्शन की स्थापक बनती है।

1- एब्सर्ड नाट्य-परंपरा पृ० 62-63

2- वही- पृ० 64

3- लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच- पृ०

नरसिंह कथा :

सन् 1971 से 1975 के मध्य रचे गये नाटकों में एक ओर महानगरीय परिवेश में ध्वस्त हो रहे जीवन मूल्यों, उनके स्थानापन्न नवधनाढ्य वर्ग के नवीन जीवन मूल्यों और इनके हमारे बहुआयामी जीवन पर पड़े प्रभावों का चित्रण हुआ है। (कफ्यू और अब्दुल्ला दीवाना) तो दूसरी ओर हमारे व्यक्तिगत जीवन में उस मूल्य-विघटन से उत्पन्न आत्मकेन्द्रिता और उसमें दम तोड़ती हमारी सामाजिक अपेक्षाओं को भी केन्द्र बनाया गया है (व्यक्तिगत) डा0 लाल के इस प्रकार के नाट्य चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में दिल्ली का वह महानगरीय परिवेश है जो उनके चारों ओर फैला हुआ है (एक सीमा तक वेभी उस परिवेश के भोक्ता हैं)। दिल्ली के इस परिवेश का सबसे महत्वपूर्ण अंग है उसका राजनीतिक मंच। राजधानी होने के कारण वहां का हर जन-साधारण भी राजनीतिक गतिविधियों से असम्पृक्त रह जाय- यह आश्चर्यजनक हो सकता है। तब प्रबुद्ध रचनाकार द्वारा उसकी उपेक्षा होना तो और भी आश्चर्यजनक तथ्य होगा। राजनीतिक मंच की गतिविधियों के प्रति एक समीक्षापूर्ण दृष्टि और उससे नाटकीय उष्मा से सम्पृक्त कार्य-व्यापार की खोज- नाटककार लाल की मनीषा ने दिल्ली के राजनीतिक मंच से अपनी रचनाओं के लिये व्यापक विषय-सामग्री प्राप्त की है। 'नरसिंह कथा' इसपरम्परा की प्रथम कड़ी है। इसका रचनाकाल सन् 1975 है और प्रथम संस्करण दि मेकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लि0 द्वारा प्रकाशित हुआ है।

सन् 1975 का वर्ष भारतीय राजनीति के मंच पर लोकतंत्रीय मूल्यों की एक नयी व्याख्या (जिसे विरोध पक्ष ने लोकतंत्रीय मूल्यों की बुनियाद पर चोट कहा) का वर्ष कहा जा सकता है। तत्कालीन कांग्रेस प्रशासन द्वारा लगाया गया आपातकाल शासन का आत्म-भय था अथवा विरोध की अराजकता और प्रतिक्रियावादी नीतियों पर प्रतिबंध- यह एक स्वतंत्र प्रश्न है। ~~जहां विरोध की अराजकता और प्रति~~ चिन्ता बात यह थी कि उस आपातकालीन प्रतिबंध का प्रभाव साधारण जनता, बुद्धिजीवी और अराजनैयिक व्यक्तियों पर पड़ा। यही वह बिन्दु था जहां राजशक्ति द्वारा लोक शक्ति को अपने प्रभाव में लेकर 'राज्य के लोक के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त'

की उपेक्षा की जाने लगी । लोक के प्रति अपने उत्तरदायित्व से च्युत होने के कारण ही भारतीय राजनीति में एक सत्ता की उपासना और एकलवादी मनीषा का प्रारंभ हुआ । लोकतंत्रीय मूल्यों पर होनेवाली चोट, फलत: एकलवादी प्रवृत्ति के प्रतिक्रिया स्वरूप जो आन्दोलन समग्र क्रान्ति के स्तर पर छेड़ा गया, उसी की रचनात्मक अभिव्यक्ति है डा० लाल की 'नरसिंह कथा' । आपात्कालीन परिस्थितियों के मध्य रची गयी यह कृति क्या केवल समसामयिक है- यह प्रश्न कृति की उपादेयता से सम्बंधित प्रश्न है । वस्तुत: देश में पनपती आलोकतंत्रीय पद्धति के विरुद्ध दी गयी चुनौती विश्व के किसी भी देश में, किसी भी काल और परिस्थिति के सन्दर्भ में एक लोकतंत्रीय समाधान प्रस्तुत करती है । ऐसी स्थिति में डा० लाल का यह चिन्तन किसी व्यक्ति या शासन विशेष के विरुद्ध मात्र वामपंथी स्वर न होकर एक सार्वभौमिक सन्दर्भ लिये हुए है ।

यह नाटक आत्म-साक्षात्कार से अभिव्यक्ति या आत्म प्राप्ति की ओर संक्रमण कहा जा सकता है । जो अभिव्यक्ति का संकट 'करफ्यू' 'अब्दुल्लादीवाना' और 'व्यक्तिगत' में अनुभव किया जाता रहा था, वह 'नरसिंह कथा' में क्रमश: विरल होता गया है । नाटक के अंतिम दृश्यों में (जहाँ हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद सम्वाद के मध्य हुताशन नरसिंह रूप में प्रकट होता है।) लीला-भाव और अनुष्ठान के मध्य यह संकथ समाप्त हुआ है । मिथक के साथ-साथ नाटक के अंतिम दृश्य में जब नरसिंह के रूप में हुताशन का परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है तब यह मिथक मिथक मात्र न रहकर लीला सम्पृक्त मिथक बन जाता है और अभिव्यक्ति का एक सुगम माध्यम हो जाता है । अंतिम दृश्य में दिखायी देने वाला यह संक्रमण दूसरे शब्दों में 'लिखे जाने वाली भाषा' से 'खेले जानेवाली भाषा' की ओर का संक्रमण भी कहा जा सकता है । प्रारम्भ में नाटक के चरित्र आत्म-साक्षात्कार या अनुभूति के स्तर से गुजरते हैं । अन्तिम दृश्य में नरसिंहावतार के रूप में हिरण्यकशिपु को उसके कर्मों के योग की स्थिति की ओर ले जाया गया है। यह प्रक्रिया चरित्रों को अनुभूति के स्तर से भोगने के स्तर तक उठाने की प्रक्रिया का ही एक रूप है । मानव-विकासवाद की प्रक्रिया में हुताशन का जो विभक्त-चरित्र है, उसके अन्दर जो एकाकी नर व पशु का तत्व है- नाटक के अन्त में वही संयुक्त

होकर नरसिंह बन जाता है। अन्य शब्दों में यह विभक्त बोध से जुड़ने की प्रक्रिया की ओर संक्रमण है। यही एक अन्य दृष्टि से मूल्यहीनता से मूल्य की ओर एक यात्रा है जिसे नाटक के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्रह्लाद द्वारा हुताशन के चरित्र बिखराव को एक सूत्र में बांधने के प्रयत्न के रूप में दिखाया गया है। परिणाम स्वरूप आत्म-निर्वासित और हीनता बोध से भरा अनास्थावादी हुताशन अन्त में जाकर नरसिंह रूप में आस्था और विश्वास का अर्जन करता है।

नरसिंहावतार की पौराणिक कथा को आधुनिक राजनीतिक सन्दर्भों के साथ प्रकट करने में नाटककार ने मौलिक व्याख्या का अधिकार सुरक्षित रखा है- इस प्रकार पौराणिक चरित्रों को मानव-विकास के सन्दर्भों में परिवर्तन शील बनाया है। प्रह्लाद हमारे राष्ट्र की मनीषा और प्रजातंत्रीय महिमा का प्रतीक है। वह राजनीतिक दर्शन का मूर्त रूप बनकर समक्ष आता है। हमारी राष्ट्रीय मनीषा का पर्याय है महात्मागांधी और प्रह्लाद का हर वक्तव्य गांधी-दर्शन का बायस बन राजनीति में मूल्यों की प्रतिष्ठा पर करता है। और उसे ईश्वरीय आस्था से जोड़ता है। हिरण्य-कशिपु हमारी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं का प्रतीक है।वह हमारी पाशविक मनो-वृत्तियों का प्रतीक है जिसका राजनीतिक रूपान्तरण होता है तानाशाह शासक के रूप में। प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु का युद्ध एक प्रकार से मनुष्य के स्वभाव में निहित सद् और असद् वृत्तियों का युद्ध है। यही युद्ध एक ओर निरंकुशता को प्यार से जीतने वाली शक्ति बुद्ध,ईसामसीह और गांधी के रूप में और दूसरी ओर प्रजा की दुर्बलता, आत्मकेन्द्रिता ,आपसी वैमनस्य और सुखवादी मनोवांछाओं से भरी शक्ति रावण, जार निकोलस, हिटलर, मुसोलिनी और याह्याखां के रूप में देखने में आता है। युगों से मानव इतिहास इसी द्वन्द्वात्मक-विकास द्वारा बनता रहा है और बनता जायेगा। यह युद्ध हर व्यक्ति के अन्दर चलता है क्योंकि हर व्यक्ति के अन्दर पाशव और ईश्वरीय-दोनों ही शक्तियां हैं। उपरिवर्णित 'निरंकुशता को प्यार से जीतनेवाली शक्ति' व्यक्ति के अन्दर निहित दोनों ही प्रकार शक्तियों को मूल्य बोध द्वारा समन्वित करती है। यही समन्वित शक्ति नरसिंह है- मूल्यहीन शक्ति ही पशु है, मूल्यों से जुड़कर मनुष्य नरसिंह बनता है। मूल्यों के अभाव में मनुष्य अपने ही अन्तर्विरोधों में पड़ा आत्म-निर्वासन की स्थिति को भोगता रहता है। इस निर्वासन के कारण

एक ओर प्रहलाद का चिन्तन आधारहीन हो जाता है और दूसरी ओर हुताशन जैसी जन-शक्ति की निर्वासित बौद्धिकता से उत्पन्न अन शून्य में हिरण्यकशिपु जैसी तानाशाह शक्तियां सिर उठाती हैं । तानाशाही शक्तियों का जवान देने के लिये हुताशन में अस्तित्व-बोध की जागृतिआवश्यक है और प्रहलाद जैसी शक्ति का यही कार्य है ।। आत्म निर्वासित बौद्धिकता को तानाशाही शक्तियों के विरुद्ध तैयार करने के लिये एक मूल्य संयुक्त समग्र क्रान्ति कासन्देश ही 'नरसिंह कथा' में प्रहलाद का सन्देश बनकर उभरा है-'एक बार स्वीकार करो । देश के लिये पूजा का नैवेद्य हम प्रतिदिन उत्सर्ग करेंगे । प्रतिज्ञा करो, जन्मभूमि के हाथ बेचकर हम निश्चित मन से पतन की सीढ़ियां उतरते-उतरते चरम लांछन के गढ़े में नहीं पहुंचेंगे ।[१] प्रहलाद की क्रान्ति तानाशाही भोगने की वृत्ति के विरुद्ध जनशक्ति को खड़ा करने वाली क्रान्ति है । इस युद्ध में प्रहलाद औरहिरण्यकशिपु जितना आमने-सामने नहीं हैं, उतने हुताशन और हिरण्यकशिपु है । इसीलिये नाटक में प्रहलाद की तुलना में हुताशन प्रमुख चरित्र के रूप में सामने आता है । हुताशन(और उसके सहायक पात्र जय, विजय व महासुन्दरी) को नरसिंह रूप में परिणत करने के पीछे प्रहलाद कारण तत्व है और दूसरी ओर हिरण्यकशिपु (और सहायक पात्र के रूप में वज्रदन्त,डुण्डा) को तानाशाह बनाने में कारणतत्व शुक्राचार्य हैं । शुक्राचार्य प्रहलाद की तुलना में स्वतंत्र भी नहीं हैं । उनकी आचार संहिता हिरण्यकशिपु के स्व: धर्म द्वारा संचालित होने से प्रतिबद्ध है । वर्तमान राजनीति में शासन और संविधान की आचार संहिता का तानाशाही शक्ति के हाथ का खिलौना बन जाना ही प्रकारान्तर से नाटक में शुक्राचार्य की नियति के रूप में प्रकट हुआ है । तानाशाह के हाथों बिके संविधान का मौन ही प्रहलाद ब के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-

'मैं आज कहता हूं, आपके अन्त:करण पर आपका यह मौन हमेशा भार बना रहेगा ।'

\+ \+ \+

धर्म को प्रत्येक प्रकार के अन्याय की निन्दा करनी चाहिये ।

\+ \+ \+

१- नरसिंह कथा- पृ० १२८

मूल्यहीनता से मूल्य-बोध की ओर यह संक्रमण मानव विकासवाद की गाथा और उस गाथा में निहित मनुष्य की अच्छी और बुरी प्रकृति के द्वन्द्व और समन्वय की एक क्रमिक कहानी है जिसे हुताशन जैसे चरित्र में ढालकर नाटककार डा० लाल ने प्रकट किया है। पौराणिक चरित्रों की इस भीड़में हुताशन और उसका नरसिंह रूप ही नाटक की प्राण रेखा सिद्ध हुई है। प्रहलाद का चरित्र उसका कारण तत्व होने के कारण हुताशन के समक्ष गौण हो जाता है।

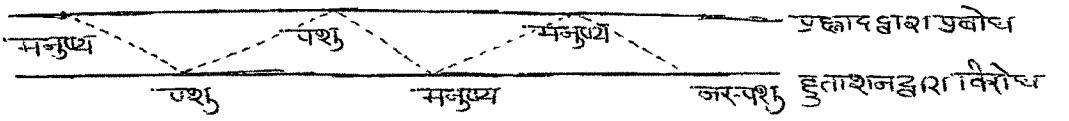
'नरसिंह कथा' की पौराणिकता में नरसिंह-अवतार की घटना ऐसे-बिन्दु ऐसा बिन्दु है जो अपनी गतिशील क्रियाओं के सन्दर्भ में नाटकीय अर्थवत्ता की सृष्टि करता है। हिरण्यकशिपु के चरित्र में भी नाट्य-गतियों अथवा आंगिक अभिनय की सम्भावनाएं हैं क्योंकि उसकी उग्रता व हिंसकता उसके सम्वादों में मुखर हो तदनुरूप अभिनय को लय-संयोजित करती है। प्रहलाद के चरित्र की सपाटबयानी के कारण उसके चरित्र में अभिनय और अंग-गतियों की सम्भावनाएं कम प्रतीत होती हैं। नाटक के वे प्रसंग जहां हुताशन जैसे आत्म निर्वासित किन्तु मूकदर्शक चरित्रों की कार्य व्यापार में उपस्थिति रही है- नाटक के दृश्यत्व-बोध वाले अंश सिद्ध होते हैं। ऐसे प्रसंग हैं -

१- प्रहलाद के समक्ष हुताशन द्वारा स्वयं में निहित मूल्यविहीन विद्रोह को अभिव्यक्ति देना। इसके कारण सम्वादों में अभिनयात्मक ऊर्जा भी उत्पन्न होती है सम्वाद इस ऊर्जा का एक उल्लेखनीय उदाहरण है -

प्रहलाद- सुनो, तुम मनुष्य हो।
हुताशन- नहीं, मैं पशु हूं।
प्रहलाद- अच्छा, तुम पशु हो।
हुताशन- नहीं, मैं मनुष्य हूं।
प्रहलाद- अच्छा तुम मनुष्य हो।
हुताशन- नहीं, मैं केवल नर हूं। नर-पशु-----।[१]

१- नरसिंह कथा- पृ० २६

इस सम्वाद में हुताशन की मूल्यविहीनता उसके आत्म स्वरूप के बोध के अभाव में प्रकट हुई है । इसी कारण प्रहलाद द्वारा उसे मनुष्य कहे जाने पर वह उसके विरोध में स्वयं को 'पशु' करार करता है और पशु कहे जाने पर 'मनुष्य' । प्रहलाद और हुताशन का यह द्वन्द्व 'मनुष्य' और 'पशु' शब्दों द्वारा इस प्रकार नाटकीय लय उत्पन्न करता है-



२- घड़े को लेकर हिरण्यकशिपु और कयाधू का सम्वाद । घड़े से विवाह का प्रसंग और उसमें प्रच्छन्न निरीह प्रजा के गूंगेपन का रूपक नाटकीय कार्यव्यापार का वह अंश है जो नाटक के चिन्तन पक्ष को दृश्यत्व प्रदान करता है । इसी विवाह-प्रसंग में कयाधू द्वारा हिरण्यकशिपु को घड़ा नष्ट न करने का अनुरोध नाटक की उस 'ईहा' का निदर्शन है जो नाटककार के लोकतंत्रीय चरित्र की बोधक है -

कयाधू- नहीं, यह घड़ा नहीं, नयी रानी हैं । मैं इस राजमहल में क्या हूं, यह रानी मेरी निशानी है ।

हिरण्यकशिपु- ओह ! तो यह घड़ा क्या है ?

कयाधू- यह घड़ा गूंगी प्रजा है, जिसे तुम जो चाहो नाम देते हो । जैसा चाहो वैसा काम लेते हो । काम के बाद इसे नष्ट कर देते हो ताकि कहीं उस कर्म का कोई निशान न रहे ।[१]

घड़े से विवाह कर उसे नष्ट करने का प्रसंग कार्य और अवधारणा दोनों ही स्तरों पर महत्वपूर्ण होने से 'अनिवार्य दृश्य' (सार्त्र के शब्दों में)[२] कहा जा सकता है ।

३- हिरण्यकशिपु व भगवती सम्वाद - भगवती द्वारा हिरण्यकशिपु के समक्ष ईश्वरीय शक्ति के अस्तित्व के प्रमाण स्वरूप जलते अंवे में बन्दाविल्ली के बच्चों के सुरक्षित बच जाने की

१- नरसिंह कथा- पृ० ६८

२- नाटक साहित्य का अध्ययन (ब्रेण्डर मेथ्यूज) पृ०

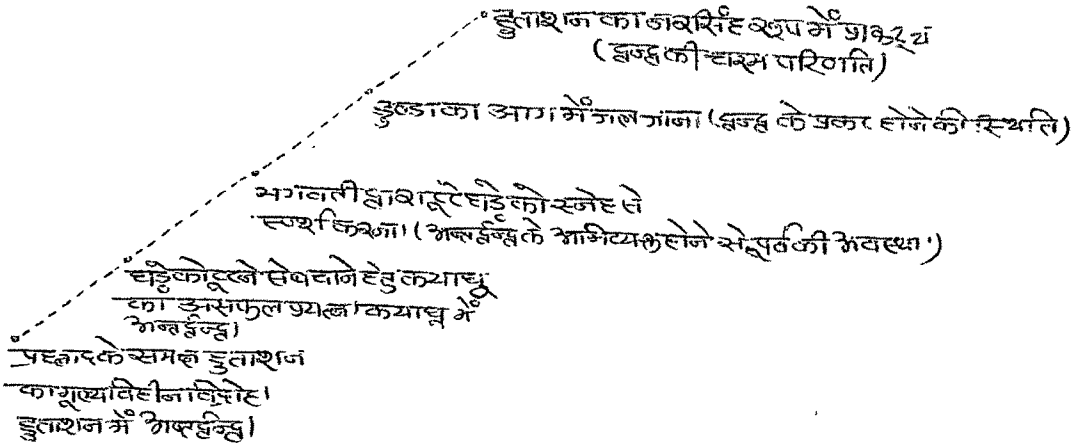
घटना का वर्णन इस किंवदन्ती को सामयिक अर्थ प्रदान करती है -'हे ईश्वर । ज्यों-ज्यों अविश्वास और अहंकार का अंवा ठण्डा होता है त्यों- त्यों विश्वास का घड़ा पककर लाल हो जाता है ।---सुनो राजा ! महाराजा !! तुम्हारे राजभवन के बाहर क्या क्या हो रहा है । तुम्हें क्या पता ? तुम्हें कोई सच नहीं बताता, प्रजा कैसी हैं? कहां- कहां, किस-किस के भीतर कैसा अंवा जल रहा है ! किन किन जलते घड़ों में बिल्ली ने बच्चे जने हैं ?[१] लोक व्याप्त इस किंवदन्ती ने नाटक कार द्वारा सामयिक व्याख्या पाकर नाटकीय कार्य के लिये भूमि तैयार की है । हिरण्यकशिपु द्वारा घड़े को नष्ट करने के उपरान्त बाहर से दौड़ती हुई भगवती का आकर टूटे घड़े का स्पर्श सा नाटकीय कार्य है जो निरीह लोक की, तानाशाह द्वारा छीनी गयी भाषा(अभिव्यक्ति) का मौन स्थानापन्न बनकर प्रकट होता है ।

४- विषाय की अग्नि में जल रही डुण्डा का महारक्षक के साथ सम्वाद । यह प्रसंग नाटक में दृश्यत्व की जिज्ञासा को शब्दों द्वारा प्रकट करता है । आग लगने की सूचना विदूषक द्वारा सूच्य सम्वाद द्वारा दी जाती है । डुण्डा का भागते हुए आना और महारक्षक से लिपटकर प्राणों की भिक्षा मांगना- गतिशील कार्य व्यापार का हेतु है- मानस-रंगमंच पर सम्वादों का परस्पर गुंथाव दृश्य खड़ा करता है । तिस पर यह जलना अन्योक्ति रूप से प्रशासन द्वारा लगायी अपनी ही आग में जलकर मस्त हो जाने का दूरगामी अर्थ भी ध्वनित करने लगता है ।

५- आभिनेताओं के अंग-संचलन, संगीत की लय पर नृत्यवत गति लेने और नाटक को चरम अवस्था पर पहुंचाने की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक का वह प्रसंग महत्वपूर्ण है जहां हिरण्यकशिपु और प्रहलाद के सम्वादों से प्रेरित होता हुताशन 'खम्भे के पीछे से नरसिंह के रूप में 'प्रकट होने की तैयारी करने लगता है ।सम्वाद और सुरताल के मध्य अभिनेता को नृत्य और अभिनय के कौशल को प्रकट करने के प्रचुर अवसर प्राप्त होते हैं ।

१- नरसिंह कथा- पृ० ७५

उपर्युक्त कार्य-व्यापार प्रेक्षकों के मानस पर उत्तरोत्तर छाप छोड़ता चलता है और अन्ततः नरसिंह के प्रकट होने के साथ-साथ वह व मंच के गतिशील कार्य व्यापार में जैसे डूब जाता है । प्रेक्षकों की बि इस क्रमिक विकासशील रुचि को इस प्रकार समझा जा सकता है -



'नरसिंह कथा' वस्तुतः प्रबुद्ध रचनाकार की उस प्रतिक्रिया का परिणाम है जो उसे अपने आस पास के परिवेश और व्यक्तियों में व्याप्त 'अभिव्यक्ति के संकट' को देखकर होती है । इसी कारण इस रचना में चिन्तन के साथ आवेग और विवेक दृष्टि के साथ आक्रोश देखने को मिलता है । इस आक्रोश द्वारा नाटककार जो सन्देश देना चाहता है उसका सारांश यह है कि स्वस्थ लोकतंत्र की स्थापना के लिये प्रथम प्रयत्न जन साधारण के मध्य से होना चाहिये क्योंकि लोकतंत्र की रक्षा के लिये वही सच्ची आवाज ह उठा सकता है । सक्रिय राजनीतिज्ञ इस दिशा में आगे बढने के लिये केवल प्रेरणा दे सकता है और भ्रान्त जनता के शास्ता के प्रति हो आये मोह का भंग कर सकता है । आगे का रास्ता तो 'हुताशन' को स्वयं बनाना है ।

राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक जीवन में व्याप्त अवमूल्यन को अभिव्यक्ति के संकट से गुजरना पड़ा था। यह संकट धीरे-धीरे विरल होने के स्थान पर गहरा होता गया। राजनीतिक स्तर पर चल रहे सत्ता-युद्ध की छाया धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में भी पड़ने लगी। ऐसे में रचनाकार को जब प्रतिबद्ध लेखन अथवा शासन की इच्छाओं की नकेल पर चले जाने की दिशा में प्रत्यक्ष परोक्ष रूप से बाध्य किया जाने लगा तो प्रबुद्ध रचनाकार के लिये यह एक बहुत बड़ी चुनौती बन गयी। इसके दो ही विकल्प हो सकते थे- या तो रचनाकार चारणी परम्परा का वाहक बनकर अपनी अस्मिता का समर्पण कर ले। यह एक सुरक्षित मार्ग था। दूसरा विकल्प यह था कि रचनाकार आसन्न समस्याओं से आत्म निर्वासित होकर युग-बोध और समकालीनता के प्रति अपना दायित्व त्याग दे। यह एक प्रकार की कायरता थी। इन विकल्पों के मध्य एक रास्ता था जिसमें रचनाकार अपनी बात के पाठक या प्रेक्षक तक पहुंचने के प्रति आश्वस्त न था। समकालीन सत्य को एक विशेष प्रकार के झीने पर्दे में रख वह प्रस्तुत कर सकता था। ऐसी प्रस्तुति में रचनाकार के कौशल की अत्यावश्यकता थी क्योंकि वह झीना पर्दा यदि प्रेक्षक या पाठक खोलकर न देख पाया तो रचनाकार का प्रयत्न निरर्थक हो सकता था। अपने सही दायित्व का निरन्तर निर्वाह करते रहने के लिये यही मार्ग उपयुक्त था और अभिव्यक्ति को बिना किसी बाधा के प्रेक्षक या पाठक तक पहुंचाने का यह एक सुगम उपाय था। लाल ने यही किया। उन्होंने रचना में जिस झीने पर्दे का प्रयोग किया वह था- इतिहास-पुराण की घटनाओं व चरित्रों को आधुनिक सन्दर्भों में प्रकट करने के साथ-साथ उसमें एक ऐसा लचीलापन भरने की शक्ति जो प्राय: लोक जीवन में देखा जाता है। इस लचीलेपन की अभिव्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है हमारा लोक नाट्य -जिसके पात्र प्रेक्षक की रुचि के अनुसार गढ़े गये होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किसी भी प्रकार की व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया जाता है। जब इस लोक प्रकृति को अपने नाटकों के लिये अपनाया जाने लगा तो समकालीन जीवन के व्यंग्य को मुखर करने के उपरान्त वे चरित्र और घटनाएं किसी एक तंत्र पर व्यंग्य किये जाने के दोष से बच रहीं।

लाल ने अपने नाट्य साहित्य के लिये अपनी ही परंपराओं की उक्त लचीली प्रकृति को एक सश माध्यम के रूप में अपनाया जिसे उन्होंने `लीला-नाट्य` नाम से पहिचान दी।

`लीला-नाट्य` शिल्प के धरातल पर, अपनी परम्पराओं से जुड़ने की एक सहज प्रक्रिया है । यहाँ यह `जुड़ना` अपने पारंपरिक रूप की खोज करना है । हमारे अब तक के साहित्य के साथ यह विडम्बना रही कि वह आयातित परंपराओं की बुनियाद पर खडा होने से कभी भी अपने यहां के पाठक और दर्शकों के प्रति न्याय नहीं कर पाया । अपने यहां के प्रश्नों के समाधान के लिये पश्चिम से उठाये गये जीवन मूल्य उपादेय नहीं हो सकते थे । परिणाम यह हुआ कि अपनी दृष्टि पर पश्चिम का चश्मा चढाकर हमने पश्चिम अनेक भ्रामक मान्यताओं और स्थापनाओं को अपना मानकर स्वीकार कर लिया । ये भ्रम मूलत: `धर्म` और `आधुनिकता` शब्द की गलत व्याख्या से उत्पन्न हुए हैं । हमने `धर्म ` का पर्याय `रिलिजन` मानकर `धर्म` की परिभाषा इस रूप में स्वीकार की कि यह एक ऐसी संगठित और शक्तिशाली संस्था है जो मनुष्य व ईश्वर के मध्य एजेण्ट का कार्य करती है । यह परिभाषा वस्तुत: `रिलिजन` की है जिसे पाश्चात्य चिन्तन के आधार पर हमने स्वीकार कर लिया । जिसे हमारी भारतीय परंपरा में `धर्म` नाम दिया जाता है वह तो जीवन का ऐसा भाव है जो हमारे बोध, कर्म, आचरण को प्रेरणा देता है । यह मनुष्य के अन्दर सदैव विद्यमान रहते हैं । फलत: वह न प्राचीन है न ही आधुनिक । लाल इसे केवल `है`- क्रिया से सम्बोधित करते हैं । चूंकि यह एक भाव है, अतएव इसका कोई इतिहास नहीं लिखा जा सकता । जो सदैव विद्यमान है, उसका क्या इतिहास लिखा जाय ? इसीलिये हमारे यहां धर्म का कोई इतिहास नहीं है । तथाकथित धर्म ग्रन्थ भी बोलेगये संवाद हैं- कहीं परीक्षित-शुकदेव के रूप में तो कहीं कृष्ण-अर्जुन के रूप में । धर्म का यह व्यापक अर्थ मालूम होने पर हमारे अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है । भारतीय रंगमंच के लिखित इतिहास न होने के पीछे उक्त अवधारणा ही कार्य करती प्रतीत होती है । रंगमंच तो मनुष्य की विधायिका-वृत्ति का प्रकाशन है । अतएव उसकी लोक के मध्य व्याप्ति ही उसकी सार्थकता है । वह हमारी परंपरा का अंग बनकर हमारे लोक जीवन के मध्य समा गया है । इसीलिये जब रंगमंच शून्य की बात उठायी जाती है तो लोक जीवन में व्याप्त अनेक रंग रूपों को जैसे विस्मृत कर यह गलत धारणा बनायी जाती है । ये लोक नाट्य रूप मनुष्य की विधायिका शक्ति

का प्रकाशन हैं- फलत: उनका उपयोग अपने `धर्म` से जुड़ना है, अथव अपनी परंपराओं से जुड़ना है ।

लोक जीवन में व्याप्त इस `धर्म` तत्व को न समझ पाने के कारण ~~पश्चिमी~~ या पश्चिमी चिन्तन से प्रभावित विचारकों ने सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में प्राचीनता और आधुनिकता की भ्रान्त व्याख्याएं कर दीं। उन्होंने यह माना कि जो पश्चिम का है, वह आधुनिक है और जो हमने अपनी परम्पराओं से प्राप्त किया है वह प्राचीन है । नाटकों के क्षेत्र में भी इसी मान्यता को अपनाने के कारण हमारे सम्पूर्ण लोक नाटक `प्राचीन` या `प्रिमिटिव` के नाम से पहिचाना जाने लगा । लाल ने इस मान्यता का खण्डन किया है । उनका कहना है कि दूसरों की आधुनिकता हमारे लिये भी वही हो- ऐसा आवश्यक नहीं । आधुनिकता देश-काल परिस्थिति से वलयित परंपराओं द्वारा अपना रूप निर्माण करती है । ऐसे में दूसरों की परंपराओं और जीवन पद्धतियों को अपनाकर उसे ~~अप~~ अपनी आधुनिकता का मानदण्ड मानना भी उस गुलाम मानसिकता का परिणाम है जो अंग्रेजों की इस देश को देन है ।लाल ने अपनी परंपराओं को अपने नाटकों में स्थान देकर तथाकथित आधुनिकता बोध को चुनौती दी है । लाल के इस चिन्तन में निःसंदेह उनका भारतीय परम्परा से जुडे व्यक्तित्व का बोध होता है । लेकिन अपने नाटकों में लोक रंगों के विविध रूपों के आयोजन कर उसे प्रेक्षकों द्वारा `आधुनिक` कहलाने में वे कब तक सफल होंगे- यह कहना किंचित कठिन है । किसी शब्दविशेष में निहित बिम्ब को तोडकर नये बिम्ब की स्थापना करना और उसकी सामाजिक स्वीकृति कराना एक लम्बी अवधि की अपेक्षा रखती है । फिर `आधुनिकता` बोध के इस आयाम से प्रेक्षकों का परिचय कराना कि उनके नाटकों में `व्यक्ति` (Individual) से `मनुष्य` बनने की प्रक्रिया का लेखा जोखा है और इस बदलाव में तथाकथित आधुनिक समाज कैसी बाधाएं उत्पन्न करता है- प्रेक्षकों और पाठकों के प्रबुद्ध व चिन्तनशील होने की अपेक्षा भी करता है ।

लाल के लीला नाटकों में परंपरा के निर्वाह का जो आग्रह है, उसके मूल में `अपनी जड़, अपनी मिट्टी, अपने परिवेश` के प्रति आत्मीयता का वह भाव भी है जिसके प्रति वे `अन्धा कुआ` की रचना के समय से प्रयत्नशील रहे हैं । ऐसे में लाल का

यह चिन्तन सन् १९७६ और उसके बाद के नाटकों की देन हो- ऐसी बात नहीं है । इस काल खण्ड के नाटकों में यह लीला दृष्टि एक समग्र दर्शन का रूप लेकर सामने आयी है । लाल द्वारा दिया गया `परम्परा` शब्द इतना व्यापक है कि उसमें भूत, वर्तमान और भविष्य अलग-अलग काल खण्डों के प्रतीक न होकर समग्र काल-बोध में समाहित हो जाते हैं । ये काल खण्ड तो पश्चिमी दृष्टि के कारण हैं । हमारे यहां तो जीवन को कभी बांटकर देखने की परम्परा ही नहीं रही । इस प्रकार जब भूत, वर्तमान और भविष्य के सम्बंध में हमारी दृष्टि व्यापक हो जाती है तो ऐतिहासिक और पौराणिक सन्दर्भ कथानक और चरित्र- सभी एक समग्र काल के अन्दर होने से सदैव वर्तमान ही रहेंगे। काल के सम्बंध में इस दृष्टि से सभी विद्वेषों का अन्त हो जाता है तटस्थ दृष्टि का उदय होता है जीवन के प्रत्येक कर्म के प्रति एक प्रकार का पूजा भाव, विश्व-भाव और लीला भाव उत्पन्न होता है ।

काल के सम्बंध में बदल गयी अवधारणा के कारण ही लाल की दृष्टि में लोक नाट्य रूप जो कहने को आदिम हैं, एक ही समग्र काल के अंग होने के कारण सदैव विद्यमान, वर्तमान अथवा आधुनिक हैं । इस ऐक्य या समग्रता को मान लेने पर `परिवर्तन` के अर्थ भी बदल जाते हैं । तब परिवर्तन किसी एक को नष्ट कर दूसरे को प्रतिष्ठित करने के रूप में नहीं प्रत्युत एक प्रकार की जीवन चर्या या पद्धति के दूसरे रूप में समोये जाने के रूप में समझा आता है । यही भाव जीवन को संघर्ष नहीं प्रत्युत लीला और आनन्द के भाव से जीने की प्रेरणा देने वाला है, सभी प्रकार की वर्जनाओं से मुक्त कर मनुष्य को `रिलेक्स` करने वाला है ।

गुरू :

लीला नाटकों की परम्परा में `व्यक्तिगत` और `नरसिंह कथा` से जो रचनात्मक संक्रमण प्रारम्भ हुआ वह एक सम्पूर्ण बसु बसु- दर्शन की व्याख्या के साथ सर्वप्रथम `गुरू`` में अभिव्यक्त हुआ है । इस नाटक का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १९७६ में शिप्रा प्रकाशन, आगरा से हुआ । परम्परागत मान्यताओं को एक विशेष नाट्यानुभूति के साथ प्रकट कर उनसे आधुनिक जीवन-दर्शन की प्राप्ति इस नाटक का अभिप्रेत है ।

'गुरु' आधुनिक शिक्षा-पद्धति के स्वरूप पर एक प्रश्नचिन्ह खडा करता है । आज की शिक्षा विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास का माध्यम न हो, उसमें इस भ्रम को जागृत करने का हेतु बनती है कि वह पूर्ण है । पूर्ण होने का यह भ्रम विद्यार्थी में आत्म रति की भावना को जन्म देता है, फलतः वह इसी भ्रम में स्वयं को संपूर्ण समाज का नियामक मान बैठता है । उसमें उत्पन्न यह अहंकार उसके राष्ट्र और समाज के प्रति दायित्व को तो समाप्त करता ही है, साथ ही वह अपने परिवेश से प्राप्त वह ज्ञान को अपने अहं के कारण ठुकरा देता है । परिणाम होता है एक ऐसा बौद्धिक एकाकीपन जिसमें विद्यार्थी परिवेश का अंग न होकर उससे निहित स्वार्थों के कारण संयुक्त अपूर्ण व्यक्ति मात्र रह जाता है । अपनी परंपराओं से कटा, अपने परिवेश को सही रूप में ग्रहण कर पाने की अयोग्यता विद्यार्थी होने की शर्तों को पूरा नहीं करता । यही विद्यार्थी कालान्तर में गुरु-पद ग्रहण करता है और उसका अधूरापन गुरु- पद तक पहुंचकर भी समाप्त नहीं हो पाता । गुरु व शिष्य में व्याप्त परिवेश-दर्शन का अभाव, अपनी परंपरा, जड़ और मिट्टी से कट जाने की वेदना ही इस नाटक में चिन्तन के धरातल पर अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई है । नाटक की उक्त मूल संवेदना को नाटककार ने इन शब्दों में प्रकट किया है-'आधुनिक शिक्षा की करुणा क्या है ? इसकी सीमा और दुर्भाग्य क्या है? छात्र अपनी शिक्षा की परिधि में अपने बाहर से कट जाता है । वह टूट जाता है अपने परिवेश, देश और समाज के यथार्थ से। और इससे भी ज्यादा गम्भीर बात यह कि वह बाहर जाकर बाहर को नहीं देख पाता, वह अपने आपको ही बाहर पर आरोपित कर अहम् को ही देखता है।[१]

शिक्षा की प्राप्ति एक लम्बी यात्रा है और इस यात्रा में अपने परिवेश को देखना, देखकर उसे आत्मसात करना और उससे अपने जीवन में 'मूल्यों' की प्रतिष्ठा करना- यही वह भूमि है जिस पर खडे होकर हमारे आर्ष ऋषियों ने स्वयं को 'द्रष्टा'

१- स्वगत(गुरु) पृ० ३

की संज्ञा प्राप्त करायी थी । परिवेश-दर्शन की इस क्रमिका यात्रा में अनेक पड़ाव हैं जिन्हें लाल के इस नाटक में इस प्रकार विवेचित किया है -

(i) देखना अर्थात् भोगना- परिवेश-दर्शन की शोध में निकले विद्यार्थी की शिक्षा यात्रा की यह प्रथम सीढ़ी है । यहां उस परिवेश की चुनौतियों और समस्याओं से साक्षात्कार करना और उनसे जूझना ही सच्चे शिष्य की पहिचान है । आज के तथाकथित शिष्य परिवेश-दर्शन की इस प्रक्रिया में उन चुनौतियों व समस्याओं का सामना कर उनसे समझौता करते हैं और एक सुविधाभोगी जीवन की तलाश में देखने या भोगने की स्थिति को ही पूरी तरह से नहीं जी पाते । परिवेश में बिखरी-चुनौतियों से इस प्रकार कायरतापूर्वक किनारा कर लेने के उपरान्त अपनी सामर्थ्य व शक्ति को परिवेश पर आरोपित करने का दम्भ आज की शिक्षा-प्रणाली की करुणाजन्य स्थिति है । दूसरी ओर, जब वास्तव में शिष्य समाज या परिवेश की कठिनाइयों को भोगता है जो उसे यह 'बोध' होता है कि उसका अहं इतने बड़े परिवेश के समक्ष कितना नगण्य है? वह यह भी जान लेता है कि उसका मनोबल ही छिन्न-भिन्न है जिसके कारण वह परिवेश को भोगने और उस पर विजय प्राप्त करने में असफल रहा । उसे अपने थोथे बुद्धि गर्व का भी ज्ञान होता है । यही बोध 'गुरु' नाटक में चाणक्य के शिष्यों को होता है जब वे यह पाते हैं कि परम्परा, संस्कृति, राजनीति, धर्म जो सम्पूर्ण समाज में फैला है- को उन्होंने तटस्थ होकर नहीं देखा प्रत्युत मन के पूर्व संस्कारों के कारण उत्पन्न एकांगी धारणाओं के चश्मे में देखा है । इसी कारण ये शिष्य परिवेश को देखने के नाम पर 'प्रतिक्रियाओं' का संचय मात्र करके आते हैं । बंधुल इसी प्रतिक्रिया स्वरूप पिप्पली कानन के मेले में जनगण की विविध जीवन-धाराएं देखकर केवल आश्चर्य चकित होता है, माहालि 'बहुरंगी मणियों की मीनाकारी और चित्र सारी से रचित कक्ष में बजती वीणा के आरोहा-वरोहों की उसके मन पर पड़ी प्रतिक्रिया (जो उसके मन के पूर्व संस्कारों के कारण है) को लेकर लौटता है, चन्द्रगुप्त तो राज्य में व्याप्त स्वेच्छाचार को देखकर प्रतिक्रिया प्रतिक्रिया स्वरूप मन पर आतंक की छाप लेकर लौटा है । और प्रियंवदक राष्ट्र में व्याप्त धार्मिक ~~विद्वेष~~ विखण्डन की प्रतिक्रिया संचित किये लौटा है । चाणक्य द्वारा शिष्यों को परिवेश-दर्शन की आज्ञा भी अन्तर्निरोध से ग्रस्त है । चन्द्रगुप्त द्वारा परिवेश दर्शन में पकड़कर लाये चाणक्य के गुरु शीलबन्धु को देखकर चाणक्य को भी

अपने अन्दर के मूल संस्कारों में निहित अपमान, दंश आदि का बोध होता है । अन्य शब्दों में चाणक्य अपने ही शिष्यों द्वारा अपने मन के दबे दंशों से साक्षात्कार पाता है । `देखने` का अर्थ यहां भोगना न होकर परिवेश इन से स्वयं को असम्पृक्त रखना होता है । इसीलिये चाणक्य और उसके शिष्यों की दृष्टि अधूरी सिद्ध होती है ।

`बोध` से जीवन के प्रति अभिनव दृष्टि की प्राप्ति होती है जिसे प्रज्ञा कहा जाता है । इस दृष्टि को पाकर कर्म में प्रवृत्त होनेवाला शिक्षार्थी ही दूसरों को गुरु-ज्ञान देने वाला होता है । बोध से प्राप्त दृष्टि के कारण परिवेश-दर्शन की यात्रा पुन: प्रारम्भ होती है लेकिन अब उस `दर्शन` में सोपानों पर एक के बाद एक कदम रखने की स्थितियां होती हैं जिन्हें इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -

(i) प्रथम स्वयं को `देखना`(भोगना अथवा पकड़ना)- यह `स्व` दर्शन स्वयं के प्रति तटस्थ होकर, अपने ही राग-द्वेषों का समालोचक बनकर और अपने सम्बंध में सही निर्णय देकर होता है । यह `स्व` दर्शन योगी की ध्यानावस्था से तुलनीय है । जैसे योगी पुरुष समभाव से सम्पूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्प के आधार पर देखता है[१], वैसे ही अपने आपको देखने वाला मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति के बल पर स्वयं के गुण-दोषों का आकलन व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में करता है । स्वयं के सम्बन्ध में व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में निर्णय देने का यह संकल्प चाणक्य के इन शब्दों में प्रकट होता है -`जो वह है वह, वही हो नहीं पाता । वह उसे पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार नहीं लेता । वह दूसरे के कारण वही दूसरा बनना चाहता है । पर वह दूसरा क्या है? दूसरा भय है? नहीं । जो अपने-आपसे अलग है उसी के लिये दूसरा भय है । मेरा ही विस्तार है दूसरा । वह दूसरा मैं ही हूं । मैं ही अपने आपको मारता हूं। मैं ही अपने आपको प्रेम करता हूं । मैं ही छलता हूं। मैं ही छला जाता है ।`[२] स्वयं को जान लेने पर ही परिवेश के `स्व` के विस्तार होने का रहस्य स्पष्ट होता है ।

१- देखिये- सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:।।२९।।अध्याय-६ गीता

२- गुरु- पृ० ४०

(ii) अपने से बाहर निकलकर, बाहर में 'स्वयं' को डुबोकर बाहर को देखना- स्वयं को तटस्थ होकर देख लेने के पश्चात समाज के मध्य स्वयं को रखकर समाज को देखने या भोगकर निर्णय लेने की यह दूसरी स्थिति है । समाज को देखते समय भी 'स्व' की तटस्था आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में पुन: व्यक्तिगत प्रभावों के समाज-दर्शन पर आरोपित हो जाने का भय होता है । बाहर में 'स्वयं' को डुबोने से तात्पर्य केवल इतना है कि जिज्ञासु सामाजिक क्षेत्र में उसके प्रभावों को ग्रहण करने के लिये उतरे। 'स्व' का 'परिवेश से सम्बंधित होना ही 'देखना' है ।[1] चाणक्य के ये शब्द 'बाहर' में स्वयं को डुबोकर देखने से प्राप्त दृष्टि की ओर संकेत करते हैं- 'अगर मेरे कोमल पैरों में वह कुश न गड़ा होता तो मैं इतना कठोर न होता । अगर नन्द की श्राद्ध शाला में मेरा वह घोर अपमान न हुआ होता तो मैं कौटिल्य न होता । चन्द्रगुप्त को सब शूद्र मुरा दासी का पुत्र कहकर इसे घायल न किया गया होता तो यहां इतनी हिंसा, कुचक्र, विश्वासघात न हुआ होता ।[2] चाणक्य को ये दंश स्वयं को 'बाहर' में डुबोने पर ही प्राप्त हुए हैं । यहीं 'स्व' और 'परिवेश' का परस्पर अन्योन्याश्रय प्रकट होता है जो चाणक्य के शब्दों में इस प्रकार प्रकट हुआ है-'स्थूल देह से जो कुछ कर्म भोगकिया जाता है, सबका संस्कार सूक्ष्म देह में संचित रहता है । इसे भोगकर ही समाप्त करना पडता है । भोग अर्थात् देखना ।'[3]

'स्व' और 'परिवेश ' के उक्त अन्योन्याश्रय और इस प्रकार परिवेश दर्शन करने की प्रक्रिया अन्य शब्दों में शिष्य के 'रिजर्व' से 'रिलेक्स' होते जानेकी प्रक्रिया कही जा सकती है । सूक्ष्म देह में स्थित कर्म का संस्कार जब तक संचित रहता है तब तक 'अहं' व 'इदं ' की स्थिति बनी रहती है, फलस्वरूप दृष्टि में अलगाव बना रहता है । ऐसे में व्यक्ति की भुक्त प्रवृत्ति असन्तुष्ट बनी रहती है और वह कर्मों का भोग करने की अदम्य लालसा रखता है । जब उसका भोग पूर्ण हो जाता है तो उसमें

१- गुरु- पृ० ६३

२- वही- " "

३- वही- " "

मानसिक स्तर पर एक प्रकार का `विरेचन` होता है और वह अपने संस्कारों से मोक्ष पा लेता है । नाटककार लाल ने इस स्थिति तक की यात्रा को `व्यक्ति` से `मनुष्य` और `अभिनेता` से `चरित्र` हो जाने की यात्रा के रूप में देखा है ।

`देखने` अर्थात् `भोगने` की क्रिया वास्तव में जीवन सत्य की शोध-प्रक्रिया का दूसरा नाम है । ऐसे में यह प्रक्रिया दृष्टि के कैनवास को भी त्रिआयामीय बनाने की अपेक्षा रखती है । तभी जीवन के समग्र अनुभवों को इस `देखने` की सीमा में पिरोया जा सकता है । `देखने` की प्रक्रिया की एक महत्वपूर्ण शर्त यह है कि संसार की प्रत्येक क्रिया को मनुष्य किसी घटना या वस्तु मात्र के रूप में न देखकर उसे एक गतिशील सदैव वर्तमान बोध के रूप में देखे, वैसे ही जैसे लीला का प्रेक्षक लीला के कथ्य को अतीत की जड़ वस्तु न मानकर वर्तमान का गतिशील व्यापार मानता है और उसे `वर्तमान` के रूप में ही अंगीकार करता है । ऐसा करने पर `देखने ` वाला न तो विगत के अभाव से पीड़ित हो पायेगा और न ही आगत के आतंक से भयभीत । वह केवल वर्तमान का भोक्ता बनकर जियेगा और उसमें विगत और आगत के पात्र व घटनाएं भी पूरक व अविलग होकर प्रकट होंगी । यहीं काल के प्रति उस स अखण्ड दृष्टि का निर्माण होता है, जहां भूत, भविष्य व वर्तमान-सभी एक समग्रकाल के अन्दर समाहित हो जाते हैं । प्रस्तुत नाटक में जब `देखने` की वास्तविक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है तो यही समग्रता देखने को मिलती है । इस सन्दर्भ में निम्नांकित दो उद्धरण पर्याप्त होंगे -

शीलबन्धु- अपने से अभय हो ।

चाणक्य- अपने को देखा नहीं जाता ।

शीलबन्धु- डर लगता है ? देखो । देखो । और गहरे जाओ । पैर बढाओ । मैं तुम्हारे साथ हूं । देखो, वह कौन है? देखो । (जैसे चाणक्य बालक हो गया है। उसके सामने उसके पिता लपलपाती हुई बेंत लिये खड़े हैं । बालक डर से कांप रहा है ।)

चाणक्य- नहीं, नहीं । मुझे मत मारो पिता जी। पढूंगा, पढूंगा । समस्त अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करूंगा । पाणिनी को अब नहीं भूलूंगा । आह! आह! आह! ब्रह्मसूत्र नहीं पढ़ा जाता । आह ।

(चाणक्य पर मानों कितनी चोटें बरस रही हैं । वह दर्द से छटपटा रहा है । शीलबंधु मां की तरह उसे सम्भालते हैं । उसके आंसू पोछते हैं ।)[१]

\+ + +

चन्द्रगुप्त- हम सब भाई बचपन में एक साथ गंगा-तट पर शरद पूर्णिमा के दिन चन्द्रिकोत्सव मना रहे थे । अदृश्य कुंजों से वाद्य यंत्र बज रहे थे । हम सब राजकुमार ज्योत्सना -स्नान कर रहे थे ।

(सब नृत्यवत गतियों से लीला स्नान करने लगते हैं । वाद्य यंत्र क्रमशः उभरता चलता है । चरम सीमा पर पहुंचकर चन्द्रगुप्त चीखता है।)

चन्द्रगुप्त- सावधान । तुम सब मिलकर मुझे गंगा में डुबोना चाहते थे । यह किसकी कपट चाल थी ? यह विश्वासघात क्यों? मैं तुम्हारा सबसे बड़ा भाई-----

---------(कृपाण खींचकर सबको आतंकित करने का अभिनय।)

चाणक्य- सिंहरण---बंधुल-----माहालि-----सारंग-----प्रियंवदक-----।

(चन्द्रगुप्त अलग खड़ा रह गया है । ये सब चाणक्य के पास आते हैं।)[२]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में मंच पर वर्तमान और अतीत की घटनाओं को एक साथ प्रस्तुत कर कालगत आयामों में ऐक्य स्थापित किया गया है ।

'देखने' के की क्रिया आत्मानुभूति की क्रिया है, आत्म-साक्षात्कार से आत्म प्राप्ति की ओर कदम है ।लेकिन इसके लिये प्रेमानुभूति होना एक आवश्यक शर्त है । जीवन में जिसे प्रेम की अनुभूति नहीं हुई वह आत्मानुभूति से वंचित रहा है। दूसरे शब्दों में उसके भोग अधूरे हैं, उसका 'देखना' एकांगी रहा है । बुद्धि बल से देखने के कारण यथार्थ भी निरपेक्ष न रहकर दृष्टि कोण विशेष के चश्मे में परिभाषित होने लगता है। इसी कारण में तत्व का विकास होता है। इस में '

१- गुरु- पृष्ठ-१६

२- वही- पृ० २४-२५

के घेरे से निकलने और आत्मानुभूति करने के लिये प्रेम की अनिवार्यता होती है । तभी 'मैं' अन्धकार से निकलकर प्रकाश में आता है । लाल के उपन्यास 'मन वृन्दावन वन' का नायक सुबन्धु प्रेमानुभूति की ही तलाश में ब्रज-यात्रा पर निकलता है और इस लीला भूमि में अन्ततः प्रेमानुभूति की प्राप्ति करता है 'वसन्त की प्रतीक्षा' की मीनाक्षी इसी अनुभूति के अभाव में अनुपम जैसे कोमल कान्त प्रेमी के हृदय को तोड़ती है- फलतः जीवन भर उस अनुभूति की प्रतीक्षा में तड़पती है । प्रेमानुभूति लीला-भावना के मूल में है जिसके अभाव में चाणक्य जैसा कूटनीतिज्ञ भी दंश, अपमान व आत्म पीड़ा में जलता रहता है । सुवासिनी से मिलकर ही चाणक्य की प्रतिक्रियाएं समाप्त होती हैं और वह पूर्णकाम पुरुष बन जाता है-'तुम्हीं हो मुझे पूर्णकाम पुरुष बनानेवाली । अब जहां तक तुम चाहोगी, चला जायेगा यह पुरुष । कूद जाऊंगा इस अन्धकार से पार । उस अन्धकार में भी वह तुम्हीं हो । पार के तट पर भी तुम्हीं हो नये सूर्योदय में ।[१] यही अनुभूति चन्द्रगुप्त और माहालि को भी परिवेश-दर्शन में सहायता देती है । कार्नेलिया के चन्द्रगुप्त के प्रति कहे गये ये शब्द इसी अनुभूति के महत्व को प्रकटकरने वाले हैं-'हम एक दूसरे की मुक्ति में सहायक हों । घर,समाज, देश,राष्ट्र, मानव सम्बंधों का यही मूल है ।[२]

'देखने' की प्रक्रिया में जिज्ञासा और प्रश्न करने की शक्ति एक अन्य महत्वपूर्ण विधायक वृत्ति है । जिस देखने में प्रश्न की स्थितियां नहीं बनतीं हों वह वास्तव में देखना न होकर प्राप्त अनुभवों का संकलन मात्र होगा । ऐसे अनुभवों का अन्धानुकरण किया जा सकता है, उनसे दृष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती । अनुभूतियों को गहन धरातल पर प्रतिष्ठित करके उन्हें विवेक की कसौटी पर तीक्ष्ण करना ही 'देखने' और उसे भोगने की सही पहिचान है । 'गुरु' में शीलबन्धु का चाणक्य से, चाणक्य का शिष्यों से और चन्द्रगुप्त,चाणक्य आदि का अपने आपसे प्रश्न करते रहना उनके जीवनानुभवों के विस्तार के साथ-साथ 'देखने' के कर्म को परस्पर नियंत्रित कर उसे स्वेच्छानुसार से बनाना है ।

१- गुरु- पृ० ८०

२- वही- पृ० १००

`देखना` अथवा `भोगना`, `बोध`, ज्ञान और उससे `मुक्ति`- इस क्रमिक शिक्षा यात्रा को ही नाटककार लाल ने अपने नाटक गुरु में अभिव्यक्ति प्रदान की है। नाटक तीन अंकों व और उनमें निहित विविध दृश्यों के कार्य व्यापार के मध्य विकास प्राप्त करता है।

पहले अंक का पहला दृश्य तक्षशिला में खुलता है जहां चाणक्य के शिष्य प्रियंवदक सारंग, बन्धुल, माहालि, सिंहरण एवं चन्द्रगुप्त परिवेश-दर्शन कर लौटते हैं और भ्रमण के अनुभवों को सुनाते हैं। वास्तव में वे परिवेश-दर्शन के नाम पर अपने ही अहं को समाज में प्रतिष्ठित कर उसी अहं दृष्टि से समाज को देखकर उस अनुभव की चर्चा करते हैं। शिष्यों के आत्म केन्द्रित हो जाने के परिणाम स्वरूप गुरु चाणक्य द्वारा उन्हें परिवेश भ्रमण की प्रेरणा दी गयी थी किन्तु परिवेश के दर्शन से व्यापक जीवनानुभवों के अभाव में उनकी दृष्टि अधूरी रहती है। इस भ्रमण में चन्द्रगुप्त चाणक्य के गुरु शीलबन्धु को पकड़ कर लाता है। यहीं शीलबन्धु चाणक्य के शिष्यों की उस भ्रांति को दूर करता है जिसके अनुसार वे अपनी अहं -दृष्टि को परिवेश मान बैठे हैं -

`तुम लोग बाहर देखने निकले हो ?---यह सब तुम्हारी आंखों ने देखा, तुमने कहां देखा? जिसे प्यास लगेगी वह जल ढूंग लेगा। जिसे जो खोज होगी, उसे वही मिलेगा।`[१]

परिवेश भ्रमण में शिष्यों को हुई भ्रांति का बोध कराने के साथ-साथ चाणक्य को भी उसके गुरु होने की भ्रांति का बोध कराने का कार्य शीलबन्धु करता है। पहले अंक के दूसरे दृश्य में शीलबन्धु चाणक्य को उसके जीवन की प्रतिक्रियाओं का बोध कराता है और परिवेश-दर्शन में `बोध की तपस्या` के महत्व को स्पष्ट करता है। उसकी प्रेरणाओं से चाणक्य को अभिज्ञान होता है कि ~~अपने~~ शिष्यों को परिवेश -दर्शन की शिक्षा देने से पूर्व स्वयं को उस परिवेश को `देखने` या `भोगने` की आवश्यकता है। -

`वह ज्ञान अर्थहीन है जो जिया, भोगा न जा सके सका।---तुम क्रोध से जल रहे हो- प्रतिक्रिया के दावानल में।`[२]

\+ \+ \+

१- गुरु- पृ० ६
२- वही- पृ० २१

'भोगने के लिये समाज में जाओ । करो । भोगो ।बंधो।जाओ। बंधो। भोगो। फिर देखो, तुम चाहते क्या हो । तुम क्या हो? यह सारा जगत,सारा परिवेश क्या है ? वह क्या है- जाओ ।'[१]

प्रथम अंक के दोनों दृश्यों में चाणक्य को स्वयं में निहित संकल्प शक्ति को सामाजिक जीवन में प्रयुक्त करने की दृष्टि प्राप्त होती है और तब 'देखने' की वह क्रमिक यात्रा प्रारंभ होती है जिसमें संकल्प और आस्था की दृष्टि प्रधान रूप से समक्ष आती है । दूसरे अंक का पहला दृश्य उक्त संकल्प दृष्टि का पहला सोपान कहा जा सकता है ।'भारत वर्ष को अभी एक देश, एक राष्ट्र होना है । मैं बनाऊंगा ।इसे एक राष्ट्र । मैं इससे एक आर्यावर्त की रचना करूंगा ।'[२]-'चाणक्य का यह संकल्प ही उसकी कूटनीति में फलीभूत होता है । नन्द को नगर से निकल जाने का आदेश दिलाकर प्रत्यक्ष में वह जनता की स्वयं के प्रति आस्था जगाना चाहता है किन्तु गुप्त रूप से नन्द की हत्या भी करा देता है । इस नीति के पीछे विषस्य विषगौषधम का सिद्धान्त कार्यकरता दिखायी देता है । आर्यावर्त के निर्माण की दिशा में यह चाणक्य के संकल्प का पहला सोपान है ।

संकल्प के दूसरे सोपान पर आर्यावर्त निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने में चाणक्य की कूटनीति का एक और रूप उभरकर सामने आता है । खड्ग परीक्षा की अग्नि से आर्यावर्त निर्माणका उसका संकल्प इन शब्दों में उभरता है-'तो भी क्रोध से मुक्ति क्रोध ही दिला सकता है । वह क्रोध जो कर्म को अग्नि बनाकर स्वत: भस्म हो । अग्नि तभी होगी जब कर्म, यज्ञ हो ।'[३] चाणक्य के समक्ष कर्म-यज्ञ का इस समय सबसे बड़ा क्षेत्र है पंचनद जहां सिकन्दर की शक्ति से प्रत्यक्ष लोहा लेने के लिये वह चन्द्रगुप्त एवं अन्य को प्रेरित करता है । यहां भी वह माहालि को युद्ध क्षेत्र में जाने से रोक देता है क्योंकि वह जानता है कि माहालि सिन्धुतरी के प्रति प्रेम की

१- गुरु- पृ० २६

२- वही- पृ० ३२

३- वही- पृ० ३५

एकांतिकता में इतना ग्रस्त है कि उसकी राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पूर्ति में पूर्ण आस्था नहीं है । माहालि को युद्ध से वंचित कर वह उसे उसके प्रेम की एकांतिकता का बोध करा व्यापक प्रेमानुभूति कराना चाहता है ।

दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में चाणक्य के आर्यावर्त निर्माण के संकल्प का तीसरा चरण देखने को मिलता है । अपने चारों ओर के देश और समाज से जुडने के लिये व्यापक प्रेमानुभूति की अनिवार्यता का बोध चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञ को भी होता है, और अपने व्यक्तिश: प्रेम को विराट दशा में बंधकर प्राप्त करने का बोध उसे प्रेरणा देता है । वह कहता भी है-'प्रेम ही प्रेम से मुक्ति दिला सकता है । जैसे संसार के प्रश्नों को संसार ही हल कर सकता है ।[१]' प्रेम की इस व्यापकता का बोध चाणक्य की प्रेरणा पर माहालि और सिन्धुतरी को होता है और ये युगल प्रेमी राष्ट्र निर्माण के महान कार्य में स्वयं को समर्पित करने का प्रण लेते हैं ।

इसी अंक के चौथे दृश्य में आर्यावर्त निर्माण के संकल्प का एक और प्रतिफलन होता है जब चन्द्रगुप्त सिकन्दर पर विजय प्राप्त करता है और नन्द के मंत्री राक्षस को बन्दी बनाने के उपरान्त छोड़ दिया जाता है । राक्षस को नन्दी बनाकर छोडने के पीछे चाणक्य की नीति यह है कि राक्षस को अपनी ही प्रतिक्रिया को भोगने का पूरा अवसर मिले, हिंसा की मानसिकता में डूबने का अवसर मिले जिससे उसकी प्रतिक्रिया और हिंसा का स्वत: नाश हो जाय । इसी मान्यता के अनुसार सिकन्दर पर विजय प्राप्त करने पर भी चन्द्रगुप्त द्वारा उसे छोड़ दिया जाता है । चाणक्य की इस प्रेरणा में दूरदृष्टि है । भारतीय वीरता में विश्वास रखते हैं, हिंसा में नहीं -चन्द्रगुप्त का यह कथन कार्नेलिया के मन में उसके प्रति आकर्षण जगाने का कार्य करता है । विजातीय संस्कृतियों को भावना के सूत्रों में जोडने की यह प्रक्रिया मानवीय सम्बंधों के ऐक्य की प्रक्रिया है और चाणक्य इस ऐक्य-स्थापना में सूत्रधार का कार्य करता है ।

१- गुप्त- पृ० ४७

दूसरे दृश्य- अंक के पांचवें दृश्य में शत्रुकों मित्र बनाकर समस्त विग्रहों को समाप्त करने के संकल्प के साथ चाणक्य की नीति दो रूपों में विस्तार पाती है - प्रथम, अपने ही एक अनुचर सिंहरण को वह जीव सिद्धि के रूप में राक्षस के पास उसका विश्वास पात्र बनाकर भेजता है और द्वितीय, बन्धुत्व को सिद्धार्थक बनाकर राक्षस के मित्र मित्र शकरदास कायस्थ के पास विश्वसनीय अनुचर बनाकर भेज देता है । चाणक्य के ये दोनों कार्य अन्ततः राक्षस के विरोध को समाप्त कर उसे अपने साथ मिलाने में समर्थ होते हैं । चाणक्य के आर्यावर्त निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने का यह पांचवा सोपान है ।

तीसरे अंक के पहले दृश्य में चाणक्य जनता के मानस को कुछ इस तरह से नियंत्रित करता है कि राक्षस के प्रति जनता में स्वतः ही विद्रोह जाग जाता है और परिणाम स्वरूप चन्द्रगुप्त को मगध का साम्राज्य सहज ही प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार चाणक्य के संकल्प की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि होती है ।

इसी अंक के दूसरे दृश्य में एक साथ तीन कार्य-व्यापारों में चाणक्य के आर्यावर्त निर्माण के प्रयत्नों को फलीभूत होते हम देखते है । ये कार्य हैं-(१) विष-कन्या द्वारा पांचाल नरेश को मरवाकर चाणक्य द्वारा राक्षस के प्रयत्न(चन्द्रगुप्त की हत्या) विफल करना । इस प्रकार चाणक्य जनमत को अपने पक्ष में करने में सफल हो जाता है ।

(२) पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को सेनापति भागुरायण द्वारा भ्रमित कर राज्य छोड़कर भाग जाने को बाध्य करना ।

(३) मगध से भाग खड़े हुए राक्षस को पकड़ने हेतु गुप्तचर सिद्धार्थक के हाथों शकटदास के हाथ का, राक्षस के नाम लिखा पत्र लाने का प्रबन्ध करना । साथ ही, जीवसिद्धि से राक्षस की मुद्रा बनवाने का प्रबंध करना ।

आर्यावर्त को विग्रहों से मुक्त करने और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करने हेतु शत्रुकों मित्र बनाने के लिये चाणक्य का राक्षस की बहिन सुवासिनी के प्रति प्रेम भी एक कूटनीतिपूर्ण घटक बनता है । इससे राक्षस को अपनी ओर मिलाने में चाणक्य को सफलता प्राप्त होती है । तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में इसी कार्य-व्यापार का चित्रण है ।

इस अंक का चौथा दृश्य चाणक्य के आर्यावर्त निर्माण के प्रयत्नों का नवां च रण है । इस दृश्य में भी तीन महत्वपूर्ण कार्य-व्यापार हैं- (१) शकटदास को फांसी से बचाने के लिये सिद्धार्थक का शकटदास के पास पहुंचना और अमात्य राक्षस के पास उसे भगा ले चलना ।

(२) मलयकेतु (पर्वतक के पुत्र) और राक्षस में वैर कराने के लिये जीवसिद्धि के हाथ राक्षस का जाली पत्र और पर्वतक के आभूषण लेकर मलयकेतु के पास भेजना । इस प्रकार पर्वतक की हत्या को राक्षस के सिर मढ़कर मलयकेतु से उसका वैर कराने का षडयंत्र ।

(३) मलयकेतु से राक्षस को अलग कर चन्द्रगुप्त से जोड़ने हेतु चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त से अपनी खटपट का आयोजन ।

चाणक्य की उक्त नीतियों का लक्ष्य सम्पूर्ण राष्ट्र की एकता के सूत्र में आबद्ध करना है- अतएव उसके सभी कार्यों में निहित भव्य 'ईहा' को देखा जा सकता है ।

चौथे दृश्य में मलयकेतु और राक्षस के मध्य वैर कराने का षडयंत्र पांचवें दृश्य में फलित होता है जब मलयकेतु द्वारा राक्षस को विश्वासघाती और पितृ-हत्यारा कहकर अपने राज्य से निकाल दिया जाता है ।

तृतीय अंक के छठे म दृश्य में चाणक्य के संकल्प-भोग और अनुभव से मुक्ति प्राप्त करने की यात्रा पूर्ण होती है । यात्रा की इस पूर्णता को अनेक सोपानों में लक्ष्य किया जा सकता है-

(१) कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का मिलन- इस अवसर पर कार्नेलिया का यह कथन चाणक्य के संकल्प के फल के रूप में दिखायी देता है -' हम एक दूसरे की मुक्ति में सहायक हों । घर, समाज, देश, राष्ट्र, मानव सम्बंधों का यही मूल है ।'[१]

१- गुरु- पृ० १००

(२) चन्द्रगुप्त द्वारा चन्दनदास को फांसी से बचाने की स्वज में राक्षस को चन्द्रगुप्त के प्रति सेवार्पण करने को तैयार करना । इस प्रकार चन्द्रगुप्त और नन्दवंश के मध्य चली आ रही शत्रुता का अन्त हो जाता है ।

(३) चाणक्य द्वारा वास्तविक परिवेश दर्शन के अनुभवों को अभिव्यक्ति देना और इस प्रकार मुक्ति का अनुभव करना-'केवल मगध देश नहीं है । लिच्छवि, मल्ल, मालव, सिन्धु, पंचाल, पारस, कुलूत, मलय, किरात, कांबोज, वाह्लीक- इस देश के अलग-अलग टुकड़े थे । इन सबको मिलाकर अब एक देश हुआ है ।- आर्यावर्त । भारतमाता । हम सब मिलकर इसे प्रणाम करें ।[१]

\+ \+ \+

'यह सब मेरा परिवेश है । इसी के भीतर से मैंने जाना मैं क्या हूं । इसी ने मुझे मेरी रचना की । सब मेरे शिष्य हैं । सारे शिष्य मेरे गुरु हैं ।[२]

(४) परिवेश-दर्शन की यात्रा और उसमें भोगने का कर्म पूर्ण हो जाने पर चाणक्य द्वारा मुक्त हो जाना-

'जब फल पूरी तरह से पक जाता है तो वृक्ष के बन्धन से स्वत: मुक्त हो जाता है ।'[३]

\+ \+ \+

'जब तक फल पूरी तरह से पक नहीं जाता, वृक्ष से अपने आप अलग नहीं हो सकपाता।'[४]

\+ \+ \+

नाटक के उपर्युक्त कार्य व्यापार में-दर्शन- दर्शन का संगुम्फन इतना अधिक है कि कार्य(Action)गौण हो जाता है । इसी कारण नाटक अपने रंग-मूल्यों के

१- गुरु- पृ० १०२

२- वही- पृ० १०३

३- वही- पृ० १०४

४- वही- पृ० १०४

धरातल पर खरा नहीं उतरता । भाषा भी नाट्य-भाषा न होकर दर्शन की भाषा ही बनी रहती है । इस नाटक में शिल्प की दृष्टि कतिपय प्रयोग देखने मिलते हैं जिन्हें इस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है -

(१) पहले अंक के दूसरे दृश्य में शीलबन्धु चाणक्य द्वारा स्वयं को देखने की प्रेरणा देते हैं । अचानक चाणक्य की आंखों के सामने उनका बचपन नाच उठता है । वर्तमान और भूत को एक करने वाला यह दृश्य संस्कृत शैली के मंच-विधान की अपेक्षा करता है जिसमें रंग शीर्ष और रंग पीठ पर दो दृश्यों को एक साथ प्रस्तुत किया जा सकता है । यहीं चाणक्य का दौड़ना, शीलबन्धु द्वारा पीछा करना और चाणक्य व शिष्यों का कुछ खोदने का अभिनय करना (पृ० १८) संस्कृत मंच के अयथार्थ प्रयोग हैं ।

(२) संस्कृत नाटक और हमारा संपूर्ण लोक नाट्य गतियों और पंक्तिबद्ध अभिनय की विशेष शैली से युक्त है । `गुरु` में चाणक्य के शिष्यों के एक स्थान पर एकत्र होकर सम्वाद बोलने में पंक्तिबद्ध अभिनय की सम्भावनाएं निहित हैं । प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में ही चन्द्रगुप्त अपने आठ भाइयों के साथ गंगा तट पर शरदपूर्णिमा में ज्योत्सना स्नान करने के प्रसंग का वर्णन करता है । यहीं लीला-नाट्य की शैली में सभी भाइयों के नृत्यवत गतियों के साथ स्नान का कार्य सम्पन्न होता है । यहीं भाइयों द्वारा चन्द्रगुप्त के `मौर्य` और `वृषल` कहकर चिढ़ाने के प्रसंग में यह शब्द बार-बार असंख्य स्तरों में चन्द्रगुप्त के कानों में पड़ता है । यह एक प्रभावी रंग-प्रयोग है ।

(३) इस नाटक में प्राय: हर दृश्य में प्रथम चरित्रों द्वारा घटनाओं को `सूक्ष्म` रूप में प्रस्तुत किया गया है और तब उससे आगे की घटनाओं को प्रत्यक्ष क्रिया-व्यापार के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इससे नाटक में प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार के अनावश्यक विस्तार से बचा जा सका है ।

(४) तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में सड़क मंच की सम्भावनाएं देखने को मिलती हैं। नागरिकों के मध्य मदारी और जमूरे का खेल लोक नाट्य-शिल्प का स्मरण दिला देता है ।

(५) तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में चाणक्य और सुवासिनी के प्रेम प्रसंगों के मध्य सुवासिनी के गीत वातावरण को संगीतमय बनाने का कार्य करते हैं, यद्यपि ये गीत स्वयं इतने उत्कृष्ट नहीं हैं कि प्रसाद जी के नाटकों के गीतों के स्तर पर रखे जा सकें। इन गीतों का महत्व इतना अवश्य है कि ये चाणक्य ~~अ~~ और सुवासिनी के सम्वादों को संगीतमय बनाते हैं। सुवासिनी का यह सम्वाद तो 'सूर्यमुख' की वेनुरती के प्रेम निवेदन का स्मरण दिलाता है -

'देशकाल के जाने कितने संकुचित यात्रा पथों में तुम्हें पुकारती खोजती भटक रही थी। उस भटकन में आज तुमने पहली बार पुकारा और मैं पहुंच गयी अपने पास। मुझे अपने प्रेम तट पर खींच लो समूची।'[१] चाणक्य और सुवासिनी का मिलन-प्रसंग काव्य और संगीतमय अभिगम का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सुवासिनी का आनन्दमग्न कीर्तन कभी चाणक्य के पास आना व कभी दूर हो जाना, कभी राग-अभिनय तो कभी मान अभिनय, चाणक्य द्वारा सुवासिनी को अपनी बांहों में भर लेने की आतुरता और एक बिन्दु पर आकर दोनों का मिल जाना काव्य और दृश्यत्व की संभावनाओं से पूर्ण है।

'गुरु' नाटक अपनी समग्रता में एक नाट्य-बिम्ब का सर्जन करता है। एक ऐसा बिम्ब जिसकी व्याख्या नाटककार स्वयं चाणक्य के शब्दों में करता है-'गुरु आंख है। केवल आंख। ना तन है ना मन है, केवल आंख है। सब कुछ उसी में है। सब वही है। देखना सम्बंधित होना है।'[२]

एक सत्य हरिश्चन्द्र :

पूर्णतः मौलिक, अपनी मिट्टी से, अपनी नाट्य-परंपरा और रंग संस्कारों से उपजा आज की परिवर्तन शील राजनीतिक परिस्थितियों में जन शक्ति को जागृति

१- गुरु- पृ० ७८

२- वही- पृ० ९३

का सन्देश देनेवाला यह नाटक अपने प्रथम संस्करण के रूप में सन् १९७६ में राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ और इससे पूर्व ही १५ नवम्बर १९७५ को नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, नयी दिल्ली द्वारा रवीन्द्र भवन के खुले मंच पर श्री एम० के० रैणा के निर्देशन में खेला जा चुका है था ।

समसामयिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नाटक की पौराणिक कथा का आधुनिक सन्दर्भ महत्वपूर्ण अर्थ रखता है । यह आधुनिक सन्दर्भ रचनात्मक धरातल पर हमारी पारम्परिक मान्यताओं के मध्य एक नवीन जीवन दृष्टि को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है । हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी विडम्बना स्वतंत्रता के पश्चात विशेष रूप से देखने में आती है कि यहां मानसिक और जन्मत जातिगत धरातल पर दो कर्म पारस्परिक द्वेष के जन्म का कारण बन रहे हैं । एक वर्ग वह है जो सदियों से शोषित, दण्डित और अनुशासित होने की नियति को आज तक भोग रहा है । यह वर्ग देश की भोली, गंवार किन्तु विश्वास और श्रद्धा की आधारभूमि पर खड़ी जनता के रूप में देखा जा सकता है । दूसरा वर्ग वह है जो हमेशा धर्म, राजनीति और परंपराओं के भय की नंगी तलवार लिये शोषित वर्ग पर प्रत्यक्ष या परोक्ष शासन कर रहा है । पहला वर्ग अपनी शोषितावस्था को भाग्य का खेल मानकर भोगता है और समर्पण, सेवा व सत्य के आदर्श से कभी डिगता नहीं । इस वर्ग की एक सम्पूर्ण पहिचान देना चाहें तो वह राजा हरिश्चन्द्र के पौराणिक सन्दर्भ द्वारा दी जा सकती है- यह वर्ग ऐसा सत्यवादी हरिश्चन्द्र है जो शोषण का अनुभव किये बिना केवल सत्य की रक्षार्थ बिक जाता है । पौराणिक कथा के अनुसार हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का पारितोषिक उसे इन्द्र द्वारा स्वर्ग का राज्य देने के रूप में देखने को मिलता है । हमारे समाज का दूसरा वर्ग वही इन्द्र है जो `हरिश्चन्द्र` को आदर्श की गठरी से लाद-लादकर उसे कभी न आनेवाले सुनहरे कल की स्वर्गिक स्थितियों में पटक देता है । `हरिश्चन्द्र` की सत्यवादिता का लाभ अवसरवादी नेता निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिये उठाते हैं और इस प्रकार जनता को थोथे आदर्शों में बहलाकर अपनी सत्ता लोलुपता की पूर्ति करते हैं । यह नाटक ऐसे ही `इन्द्र` द्वारा शोषित हरिश्चन्द्रों ` को उनकी वस्तुस्थिति स्पष्ट करने का एक प्रयत्न है और पुरुष की स्थापित मान्यताओं को चुनौती देकर अपने

अन्दर ऐसे हरिश्चन्द्र का चरित्र उत्पन्न करने का आह्वान है जो शोषक 'इन्द्र' के प्रति विद्रोह और क्रांति का स्वर मुखर कर सके- 'हरिश्चन्द्र सदा अपने सत्य की परीक्षा देता रहे और तुम परीक्षा लेते रहो । मैंने इस नाटक में राजा बनकर देख लिया, जब तक तुम हो, हम केवल बनाये ही जा सकते हैं, अपने आप कुछ नहीं हो सकते । पर अब बनने और होने का मर्म हमें मिल गया । चुप रह जाना हमारा विरोध था । पर तुम उस भाषा को नहीं समझ सके । सत्ता है तुम्हारे पास, हम सब तुम्हारे हाथों के सिर्फ कठपुतले थे । यह सारा नाटक तुम्हारा रचा हुआ था और तुम्हीं इसके सूत्रधार थे । चलो। अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की ।'[१] यही सत्यवादी हरिश्चन्द्र का वह आधुनिक सन्दर्भ है जो इस नाटक में जनशक्ति की क्रान्ति के आह्वान के रूप में उभरा है । यह नाटक परोक्षत: भारत-वर्ष की स्वातंत्र्योत्तर राजनीति का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है । हमारे देश में स्वतंत्रता के बाद कभी कोई विशेष ~~म~~ व्यक्ति या विशेष दल ही शासन का नियामक बनता चला आ रहा है । इसी कारण राजनीति के क्षेत्र में एकलवादी मनीषा का उदय होता गया है । इस मनीषा का एक दुष्परिणाम यह होता है कि जनता वर्षों से एक ही प्रकार के आदर्श, एक ही प्रकार के नारों और एक ही प्रकार के स्वप्नों की बु दुनियां में रहने को अभिशप्त हो गयी है । जनता को शास्ता द्वारा महत् आदर्शों के लिये मर मिटने का सन्देश दिया जाता है । उसे ऐसे 'काल्पनिक समाज' का स्वप्न दिखाया जाता है जिसमें वह सुखी और सम्पन्न होगी । ऐसे स्वप्न दिखाकर शासन जनता का ध्यान यथार्थ समस्याओं से हटाना चाहता है, अपनी अकुशलता और निकम्मेपन से जनता को अनभिज्ञ बनाये रखने का षडयंत्र करता है । यह नाटक ऐसे षडयंत्र के प्रति जनता को जागरूक बनाने का आह्वान करता है और इस प्रकार एक व्यक्ति या दल की निरंकुशलता पर नियंत्रण रखने के लिये जनता के मानस को तैयार करने के लिये यह नाटक एक दृष्टि प्रदान करता है ।

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ७७

लीला नाटकों के अनुरूप यह नाटक भी `देखने` अथवा `भोगने` की प्रक्रिया से चलकर अभिव्यक्ति का धरातल मुखर करता है । `गुरु` में जैसे चाणक्य ने अपने परिवेश को `देखा` अथवा `भोगा` है वैसे ही यहां लौंका ने अपने परिवेश को भोगा है । इस भोग की प्रक्रिया से गुजरकर ही लौंका पाता है कि राजनीति के महत्त महातंत्र में प्रतिस्पर्द्धी ,असन्तुष्ट, स्वार्थरत नेता के रूप में देवधर `हड़पने` वाली अहं वृत्ति का ही दूसरा नाम है । देवधर की लालसा, मांग, हिंसा और भय पर आधारित शक्ति की राजनीति ही उसे अहंग्रस्त करती है जिसके कारण वह कहता है- `इधर या उधर होना तुम्हारी किस्मत है । मैं हूं बस। लोग होते हैं । मैं हूं ।`[१] महातंत्र के रूप में सब पर छा जाने वाली देवधर की राजनीति अपने आपको बनाये रखने के लिये पक्षहीनता की स्थिति उत्पन्न करना चाहती है । इसके लिये वह धर्म-भय को सबसे बड़े हथियार के रूप में काम लाता है-`शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति में कहा है- अब्राह्मण और शूद्र ब्रह्म विद्या के अधिकारी नहीं । शूद्र को वेद के पढ़ने सुनने की मनाही है । शूनब शूद्र श्मशान समान है । यदि वो धर्मग्रन्थ पढ़ते-पढते पाया जाय तो उसकी जवान काट देनी चाहिये । उसके कान को पिघले शीशे और लाख से भर देना चाहिये । जिन्ह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेद: ।`[२] समाज में बुनियादी परिवर्तन की सम्भावना ही समाप्त हो जायें- इसके लिये अनपढ़ जनता पर अप्रासंगिक आदर्शों की गठरी लादकर उसे भविष्य के अनिश्चयपूर्ण गर्त में डाल देने का षडयंत्र किया जाता है जिससे उसका (देवधर) वर्तमान निरापद हो जाय । सत्यनारायण और हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथायें और उनके आधार पर लौंका जैसी उभरती जनचेतना को `सत्य की परीक्षा में डालकर बर्बाद करने`[३] के षडयंत्र के पीछे देवधर का यथास्थितिवादी दृष्टिकोण ही प्रकट होता है ।

लौंका द्वारा उक्त स्थिति के `दर्शन` से रचनात्मक परिवर्तन की अनिवार्यता प्रकट हो जाती है । इस परिवर्तन के दो रूप हो सकते हैं -

---

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ६३

२- वही- पृ० २३

३- वही- पृ० २७

१- एक व्यवस्था के विकल्प में दूसरी व्यवस्था का आगमन- इस प्रकार के परिवर्तन में व्यक्ति का परिवर्तन हो जाता है लेकिन व्यवस्था वही रखती है ।

२- व्यवस्था में `प्रज्ञा` या `संकल्प` गत परिवर्तन- इस प्रकार के परिवर्तन में प्रथम परिवर्तन का संकल्प होता है और इसके बाद अपने देश, काल और समाज की परिस्थितियों के भीतर से जीवन के यथार्थ सत्य (केवल कोरा सत्य नहीं) को देखना। लोका का परिवर्तन संकल्प-प्रसूत यथार्थ-सत्य को समझ- प्राप्त करने वाला परिवर्तन ही है । इस संकल्प के कारण वह भारतीय राजनीति के चरित्र को समझने में सफल होता है ।

यहां देवधर उसी भारतीय राजनीति का प्रतिनिधित्व करता है । देवधर का राजनीतिक चरित्र भी नीति से युक्त है लेकिन वे नीतियां उसके द्वारा ही सर्जित हैं, उन्हें किसी प्रकार की सामाजिक स्वीकृति नहीं है । उसकी राजनीति में धर्म का पुट भी है किन्तु वह धर्म जीवन का भाव न होकर शोषितों के प्रश्नों से बचने का एक रक्षा कवच मात्र है । लोका ऐसे ही राजनीतिक चरित्र के विरुद्ध प्रज्ञा या संकल्प के बल पर प्रथम जनता में निष्ठा और विश्वास का जागरण करता है और फिर उसे क्रान्ति के लिये आह्वान करता है । उसकी क्रान्ति व्यक्ति से समष्टि होकर सोचने वाली क्रान्ति है- `क्योंकि ऐसा आप सोच रहे हैं । यह डोम-यह पतुरिया । ये लोग कहां- कहां के हैं ? कैसे आये ? मेरी तरह एक क्षण इनके भी जीवन में आया होगा- जहां इन्हें बिक जाना पड़ा होगा । जब तक खरीदने वाला रहेगा, कभी न कभी सबको बिकना पड़ेगा । उसे भी, जो खरीद रहा है । मैं ही एक हूं । मैं ही हरिश्चन्द्र हूं । मैं ही शैव्या हूं । मैं ही पतुरिया हूं ।`[१]

लोका द्वारा `यथार्थ सत्य` की शोध नाटक में सातत्य के साथ प्रकट होती है । इस सातत्य को इस प्रकार देखा जा सकता है -

---

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ५४

यथार्थ बोध-> सत्य की प्राप्ति -> पुन: भौतिक धरातल पर जीवन-यथार्थ का स्वर ।

प्रारंभ में देवधर के कार्यों का दर्शक बन लौका यथार्थ स्थिति का बोध करता है । तत्पश्चात स्वयं हरिश्चन्द्र कथा की नौटंकी में भाग लेकर वह सत्य की प्राप्ति करता है । उसी के समान्तर जीवन भी विश्वामित्र बनकर सत्य का सन्धान करता है । जीवन के शब्दों में यह सत्य इस प्रकार प्रकट होता है-`वह बर्फ पिघल रही है । चोटियां ढह रही हैं । अब तक मैं समझता था, जब तक राज्य है तब तक राजनीति रहेगी । पर अब पता चला, जब तक मनुष्य है- छोटा-बड़ा,ऊंचा-नीचा, तब तक रहेगी यह राजनीति जिस दिन एक असहाय ने घुटने टेककर आंखों में आंसू भरकर दृश्य से अदृश्य की ओर देखा, उसी दिनजन्म हुआ ईश्वर का, और वहीं से पनपी पहली राजनीति धर्म की । इसी में एक हुआ इन्द्र, बाकी सब हुए हरिश्चन्द्र ।`[१] यहसत्य भौतिक धरातल पर एक व्यावहारिक किन्तु क्रान्तिकारी स्वर का आह्वान करता है और इस प्रकार विषम सामाजिक व्यवस्था को सम पर लाने का निर्णय लेता है -`चलो । अब तुम्हें देनी होगी परीक्षा अपने सत्य की ।`[२]

नाटक की उक्त यात्रा भोगने के स्तर से प्रारंभ होकर आत्म-प्राप्ति पर समाप्त होती है । अनुभवों से प्राप्त बोध ही लौका, जीतन,मिस पद्मा को उनके चरित्र हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और शैव्या के साथ एकमेक करता है । यहां ध्यातव्य है कि जहां लौका जीतन व पद्मा को क्रमश: हरिश्चन्द्र, और विश्वामित्र और शैव्या बनकर आत्म प्राप्ति होती है वहां देवधर इन्द्र बनकर आत्म-प्राप्ति नहीं कर पाता । इसका कारण देवधर का वह अहं है जो उसे कथा चरित्र में डूबने नहीं देता । इसी कारण वह व्यक्ति से मनुष्य होने की यात्रा पूर्ण नहीं कर पाता । `भोगने` की इस

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ६२

२- वही- पृ० ७७

प्रक्रिया में रोहित की भूमिका को विस्मृत नहीं किया जा सकता । यह एक ऐसा चरित्र है जिसकी पौराणिक आख्यान में उपेक्षा हुई है । लाल ने इस चरित्र को मौलिक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया है । रोहित लौका की क्रान्ति का भविष्य है- सहज ही 'रक्त कमल' के अगस्त्य का स्मरण दिलाता है । उसमें विद्रोह भी है, यथास्थितिवाद को स्वीकार करने की मूक विद्रोहपूर्ण स्वीकृति भी है और बलिदान की सीमा तक प्रसरित मूल्य-बोध भी । उसके चरित्र में यथास्थितिवाद के हाथों पिस रही युवा पीढ़ी का आक्रोश झलकने लगता है । रोहित का बलिदान हरिश्चन्द्र की क्रान्ति को मुखर कर देने में एक अहम भूमिका का निर्वाह करता है । रोहित और हरिश्चन्द्र की विद्रोह संचलयित पीडा के शैव्या के चरित्र में करुणा बनकर उभरी है । शैव्या का मातृत्व से भरा चरित्र इस नाटक का सर्वाधिक कोमल पक्ष, विशेषकर उसका यह सम्वाद- 'तो बिकती हूं । अपने हृदय से समस्त संकोच और दुराव को हटाकर बिकती हूं । सुनो, जब तक खरीदना धर्म है, बिकना धर्म बना रहेगा । यदि एक के प्रति धर्म करने के लिये दूसरे के प्रति अधर्म करना पडे तो जिसे स्वधर्म समझते हैं, वह अधर्म है । मुझे वह भी स्वीकार है ।[१]

कथ्य के स्तर पर यह नाटक जितना विचारोत्तेजक है उससे इस नाटक में निहित कार्य व्यापार की गतिशीलता नितान्त आवश्यक हो जाती है । अन्ततः नाटक का कार्य व्यापार वस्तु तत्व की वैचारिक उत्तेजना के समानुपातिक ही प्रेक्षक या पाठक की रुचि को नियंत्रित करता है । प्रस्तुत नाटक का कार्य व्यापार पाठक या प्रेक्षक की बढती घटती रुचि किस प्रकार नियंत्रित करता है- इसे इस नाटक के क्रमशः विकासशील कार्य तत्व के सन्दर्भ में देखा जा सकता है- नाटक के प्रति यह रुचि निदर्शन एक प्रकार से उसके कार्य व्यापार और चरित्र के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं का आदर्शन कहा जा सकता है । कार्य व्यापार द्वारा प्रेक्षकों की रुचि के विश्लेषण से परोक्षतः नाटक के रूपबन्ध का परीक्षण भी हो जाता है । -

---

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र-पृ० ६०

प्रस्तावना- १) गांव का दृश्य- बायीं ओर हरिजनों का कच्चा कुआ । दायीं ओर सवर्णों का कुआ । इस दृश्य संकेत से सहज ही नाटकीय संघर्ष की अभिव्यक्ति हो जाती है । निम्नवर्ग के घुमन्त को पुरोहित द्वारा दुत्कारना । यहां भी नाटक संघर्ष का धरातल मुखर होता है । पुरोहित द्वारा दुत्कारने के उपरान्त घुमन्त उस अपमान की प्रतिक्रिया को चुपचाप पी जाता है । ऐसी स्थिति में संघर्ष प्रेक्षक को आन्तरिक तनाव के धरातल पर ही पहुंचा पाता है ।

२) देवघर और पुरोहित के मध्य रहस्यमय बातें, पुरोहित को रूपये देकर खाना, लौका का इस दृश्य को मूक दर्शक बने देखते रहने से नाटक का कार्य-व्यापार पूर्ववत आन्तरिक तनाव की स्थिति से गुजरता रहता है ।

३) गरीब स्त्री- पुरुषों का गीत- का काफाहीं भयो - कार्य व्यापार में करुणा का प्रसार होता है लेकिन कार्य-व्यापार में तनाव पूर्ववत बना रहता है ।

४) पुरोहित द्वारा सत्यनारायण की कथा का प्रारंभ और इसी के समानान्तर लौका- देवघर का तर्क-वितर्क पूर्ण सम्वाद । इस प्रकार नाटक का थीम सामने आने लगता है । इस पारस्परिक सम्वाद में पर्याप्त पैनापन है लेकिन यहां भी लीला अथवा खेल का भाव होने से यह पैनापन दर्शकों या पाठकों पर सीधा प्रभाव नहीं डाल पाता । इसीलिये यहां आकर दर्शक या पाठक की रुचि सामान्य धरातल पर उतर आती है ।

५) लौका द्वारा दिये गये प्रसाद को देवघर द्वारा अस्वीकार किया जाना । लौका की अनुपस्थिति में ब्राह्मणों को शूद्रों के विरुद्ध भड़का देने का षडयंत्र और पुरोहित द्वारा लौका की अमंगल-कामना इन शब्दों में किया जाना- 'उसका सर्व सत्यानाश होगा । बिना आरती लिये, यज्ञ होम पूर्ण हुए, बिना प्रसाद पाये लौका चला गया । उसने जघन्य पाप किया । उस पर पाप का वज्र गिरेगा । [१] इस अमंगल कामना और सवर्णों की षडयंत्र

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र-पृ०२५.

योजना के साथ नाटक का कार्य व्यापार चरम पर पहुंच जाता है और यहीं इस नाटक की प्रस्तावना समाप्त होती है ।

पहला दृश्य :

१) गपोले द्वारा देवघर को हरिजन -ब्राह्मण दंगे की सूचना देना, घायल लोगों का कराहते हुए कच्चे कुए पर बैठना । यहां नाटकीय कार्य-व्यापार में आन्तरिक तनाव का प्रसार होने लगता है- मूक होकर शोषण सहने की स्थिति प्रेक्षकों में विद्रोह के पूर्व की कुटपटाहट भर देती है ।

२) लौंका आदि द्वारा हरिश्चन्द्र की कथा की नौटंकी प्रारंभ- गांव के लोगों का गीत- 'हरिचन्द कहो तुम कब तक कहां बिकोगे ।'- यहां नाटक का कार्य व्यापार दो स्तरों पर आगे बढता है, गीत के साथ-साथ नाटक का वातावरण एक अन्तहीन निराशा और पीडा के कोहासे से भरने लगता है । फलत: संघर्ष के मुखर होने से पूर्व की पीड़ा और कुटपटाहट नाटकीय तनाव को गहन करती है ।

दूसरा दृश्य :

१- रोहित -हरिश्चन्द्र सम्वाद- इससे नाटकीय तनाव उत्पन्न होता है । किन्तु लीला-शैली के कारण पाठक या प्रेक्षक पर उसका प्रभाव विरल रहता है ।

२) विश्वामित्र के रूप में जीवन को सत्य-ज्ञान की अनुभूति-'हां मैंने सुना- जो शब्द जीवन में ~~बिना~~ जिया गया है, यह सारा जीवन उसी पर टिका है । वही जीवन है धरती । शब्द है आकाश । और जो शब्द हम बिना जिये बोलते हैं वह मात्र प्रतिध्वनि है । तो विश्वामित्र केवल शब्द है और जो जी रहा है वही सत्य हरिश्चन्द्र है ? नहीं यह असत्य है ।'[१] 'यहां से

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ३८-३९

से नाटक में क्रान्ति का प्रारंभ संकेतित होता है ।

तीसरा दृश्य :

१) जीतन- देवधर सम्वाद ।- जीतन का आत्म साक्षात्कार और आत्म प्राप्ति । देवधर से प्रतिवाद । इस प्रतिवाद में जीतन का आत्म संयम देवधर पर विजय प्राप्त करता है । फलस्वरूप नाटक का कार्य-व्यापार सामान्य धरातल पर ही स्थित रहता है ।

२०

चौथा दृश्य :

१- नाटककार द्वारा प्रेक्षक या पाठक को लोक नाट्यकी भूमि में ले जाने का प्रयत्न । इसके लिये नौटंकी का आयोजन किया गया है । इस कारण तुकान्त सम्वादों की योजना हुई है । इससे कार्य व्यापार में लय व गति का संचार हुआ है । प्रेक्षकों की रुचि इस लोक शिल्प में रमने का पर्याप्त अवसर पाती है । काशी के बाजार का दृश्य नाटक के मुख्य कार्य-व्यापार (हरिश्चन्द्र के बिकने से लेकर मरघट तक पहुंचने तक) के प्रारंभ होने से पूर्व का हल्का-फुल्का मनोरंजन सिद्ध होता है ।

२) काशी के बाजार में हरिश्चन्द्र, शैव्या और रोहित का बिकना । इस दृश्य को देखकर और पढ़कर प्रेक्षक और पाठक के अन्दर एक साथ क्षोभ, पीडा और सहानुभूति के भाव जागृत होते हैं- फलत: नाटक आन्तरिक तनाव के मध्य गुजरता है । शैव्या के इस सम्वाद से नाटक में गहन करुणा का प्रसार भी होता है-`यदि दोनों के बीच आज विरोध की स्थिति है तो इसका उत्तर दान नहीं, बलिदान होगा ।`१

पांचवा दृश्य :

१) देवधर -जीतन सम्वाद- यहां संघर्ष अपनी चरम परिणति पर पहुंच जाता है।

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ५०

जीतन द्वारा 'देखने' अथवा 'भोगने' की प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी होती है। फलस्वरूप उसके स्वर में संकल्प और विश्वास का स्वर बड़ी दृढ़ता से उभरता है -'वह बर्फ पिघल रही है। चोटियां ढह रही हैं। अब तक मैं समझता था, जब तक राज्य है तब तक राजनीति रहेगी। पर अब पता चला, जब तक मनुष्य है- छोटा-बड़ा, ऊंचा-नीचा तब तक रहेगी यह राजनीति।'[१]

छठा दृश्य :

१) रंगा और गांव के लोगों का समवेत गान-'हम परिवर्तन लायेंगे' और 'विध्वंस गाता है'- जीतन की क्रांति का प्रसार यहां शनैः शनैः ग्राम-पर्यन्त तक हो चला है- संघर्ष की यहां भी चरम परिणति है।

सातवां दृश्य :

१) पतुरिया के कोठे का प्रसंग, लोक-नाट्य के प्रयोग। आगे आने वाले संघर्षपूर्ण दृश्यों के लिये प्रेक्षक व पाठक के मानस को तैयार करने हेतु यह प्रसंग अब तक के समस्त मानसिक तनावों को दूर करने के उद्देश्य से रखा गया है।

२) छैला और रोहित का युद्ध, शैव्या द्वारा छैला के समक्ष अपने सतीत्व का प्रदर्शन, रोहित की छैला द्वारा हत्या, मरते हुए रोहित का सम्वाद, स्वयं के बलिदान द्वारा क्रान्ति की नयी रोशनी जगाना, शैव्या का विलाप और हरिश्चन्द्र द्वारा कर मांगने के प्रसंग गतिशील कार्य-व्यापार वाले प्रसंग हैं - यहां नाटक में 'पेथोस' का तत्व उभरकर सामने आता है और नाटक अपने कार्य व्यापार की चरमावस्था में पहुंच जाता है।

१- एक सत्य हरिश्चन्द्र- पृ० ६२

३) इन्द्र द्वारा हरिश्चन्द्र से स्वर्ग-दान की बात कहते ही हरिश्चन्द्र का विद्रोह अन्दर से बाहर आ जाना और हरिश्चन्द्र के परम्परागत आदर्श के लबादे को छोड़कर लौंका के एक नये(सत्य) हरिश्चन्द्र के रूप में सामने आने से नाटक का कार्य व्यापार चरमावस्था पर पहुंचकर जैसे वहीं टंगा रह जाता है। लौंका की क्रांति कम से नवजीवन को प्राप्त कर उठ खड़े हुए रोहित से नाटक के अभीष्ट की सफलता का संकेत मिलता है ।

उक्त कार्य-व्यापार को लक्ष्य करने के उपरांत एक तथ्य (जिसका संकेत ऊपर भी किया जा चुका है) सम्यक स्पष्ट होता है कि सर्वत्र लीला अथवा 'खेल' होने के कारण नाटक में वह गति नहीं आ पाती जो पूर्ववर्ती नाटकों में दिखायी देती है और जिसके कारण उन नाटकों का एक स्पष्ट रूप-रेखा चित्र खींचा जा सकता है । इस नाटक और ऐसे ही अन्य लीला नाटकों में रचनागत प्रतिबद्धता के कारण यह शिल्पगत सीमा देखने को मिलती है ।

'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का यह एक आश्चर्यजनक विरोधाभास है कि यहां नाटक कथ्य के स्तर पर जितने समसामयिक और आधुनिक सन्दर्भों को लेकर आगे बढ़ता है, 'फार्म' के स्तर पर वहीं यह नाटक अपने ठेठ लोक अथवा संस्कृत नाट्य-रूप को लेकर वस्तु और शिल्प के इस वैविध्य से नाटकअपने समग्र रूप में रचनागत वैशिष्ट्य लिये चलता है । इस नाटक के रंग-रूप को तीन प्रमुख दृष्टियों के साथ लक्ष्य किया जा सकता है -

१- सम्वाद और कार्य का अन्योन्याश्रय- संस्कृत नाटकों में संवाद और कार्य-व्यापार परस्पर अन्योन्याश्रित होकर आगे बढ़ते हैं । एक बात को सम्वाद में अनेक बार दोहराकर फिर उसी को कार्य रूप में परिणत किया जाता है । बाद में वही कार्य पुनः चरित्रों के लिये वैचारिक सामग्री प्रदान करने का हेतु बन जाता है । इस प्रकार नाटक में सम्वाद और कार्य वृत्ताकार रूप में आगे बढ़ते हैं । प्रस्तुत नाटक में हरिश्चन्द्र कथा की नौटंकी खेलने से पूर्व और बाद में चरित्र उसकी प्रतिक्रियाओं की व्याख्या करते हैं । परिणामस्वरूप नाटक का कथ्य दो स्तरों पर एक साथ अपनी बात कहते में समक्ष सक्षम होता है ।'नाटक के भीतर नाटक' वाली इस शैली का उद्देश्य ही यह है

कि नाटककार का अभीष्ट अर्थ सघन रूप में पाठकों व प्रेक्षकों तक पहुंच सके ।

२- नाटक के उक्त वृत्ताकार चालन में गीत व संगीत का संयोजन नाटक को लय में बांधने का कार्य करता है । लोक नाटकों में गीत -संगीत के समायोजन के पीछे यही कारण है । ये गीत नाटक की कथा में सूच्य अंश बनकर भी प्रयुक्त होते हैं ।कथानक को सीधे कार्य व्यापार की ओर खींच लाने और इस प्रकार कथानक के अनावश्यक विस्तार को रोकने में इन गीतों की भूमिका है । इस नाटक का रंग । अपने गीतों द्वारा पूर्व कथ्य को वर्णनात्मक रूप से कहकर नाटक में प्रत्यक्ष कार्य-व्यापार की अधिकाधिक सम्भावनाएं उजागर करता है । रंगा के गीत नाटक के विचार-तत्व को मुखर करने वाले और मंच को लोक-वातावरण प्रदान करने वाले हैं ।

३- नाटक को चौथा दृश्य- उसका कार्य व्यापार और पात्रों द्वारा बोले गये लयात्मक सम्वाद इस नाटक का प्राण-तत्व हैं । इन्हीं के द्वारा यह नाटक `पूर्णत: मौलिक, अपनी मिट्टी से, अपनी नाट्य-परम्परा और रंग संस्कारों से उपजा हुआ एक अप्रतिम नाटक` होने की शर्त पूरी करता है । यहीं नाटककार द्वारा अपनी परंपराओं से आधुनिकता की खोज का आग्रह फलीभूत होता दृष्टिगोचर होता है । यहां भावालोक रंगों में डूबी होने के साथ-साथ बीच-बीच में जब शैव्या, रोहित और हरिश्चन्द्र की करुणा, विद्रोह और संयम की वाहक बनकर समक्ष आती है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों भाषा रेलगाड़ी की भांति पटरियां बदलती हुई प्रेक्षक को सम्प्रेषण के धरातल पर एक साथ विविध `मूड` में तालमेल बनाने का अवसर देती है ।

`एक सत्य हरिश्चन्द्र` लोका जैसे चरित्र के माध्यम से आज के अनुक युवाओं को रोहित के समान अपने जीवन से जीने और दूसरों कम के दिये अनुभवों को छोड़कर अपने अनुभवों से आगे बढ़ने का मार्ग दिखाने का एक आदर्श प्रस्तुत करता है । लोका द्वारा सर्जित इस क्रांति को अक्षुण्ण बनाये रखने के मार्ग में अपार सम्भावनाएं हैं । फलत: लोका जैसा चरित्र सम्पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रारम्भ है ।`अथ` से `इति` तक पहुंचने में लाल का यह चरित्र अपने आप में एक ऐसा खोल है जिसके अन्दर पैठकर

संपूर्ण चरित्र को पाया जा सकता है । लाल के चरित्रों के सम्बंध में शिल्प के सन्दर्भ में कहा गया कथन उपर्युक्त तथ्य को ही स्पष्ट करता है-`नाटक कार लक्ष्मीनारायण लाल ने जान-बूझकर अपने पात्रों (और उनके सम्वादों) को चुस्त दुरस्त और सवाँग-पूर्ण ठोस चारित्र्य प्रदान नहीं किया है । इनके चरित्रों में एक खोल है जिससे अभिनेता उसमें घुसकर इन्हें जीवन्त और सम्पूर्ण बनाता है ।[१] ऐसे चरित्र के निर्माण के कारण ही नाटक की रचनागत और निर्देशकीय व्याख्या की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं ।

उत्तर युद्ध : यक्ष प्रश्न :

लीला नाटकों की परम्परा में `उत्तर युद्ध : यक्ष प्रश्न` एक ऐसा सोपान है जहां नाटककार द्वारा यथास्थितिवाद को चुनौती देकर प्रश्न करने के लिये अपने समाज को सीधे आह्वान किया गया है । `कलंकी`, `सूर्यमुख`, `नरसिंह कथा` जैसे नाटकों और `दूसरादरवाजा` एवं `खेल नहीं नाटक` जैसे एकांकी नाटकों में प्रश्न करने की बात प्रासंगिक रूप में कही ही गयी है लेकिन `उत्तर युद्ध: यक्ष प्रश्न` में तो एकमात्र यही बिन्दु है जो अपने सम्पूर्ण प्रभाव के साथ पाठकों एवं प्रेक्षकों के सामने रखा गया है । अपने प्रकाशन काल(सन् १९७६) की समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में तो इस नाटक की द्रौपदी की चीख और भी चिन्ता का विषय बन जाती है । इस `चीख` का मर्म समझने के लिये और इस हेतु स्वयं को तैयार करने के लिये, समय की मांग के अनुरूप यह नाटक प्रासंगिक अर्थों को समेटे हुए है । इस नाटक के प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली हैं और प्रकाशन के साथ-साथ इसका प्रथम प्रदर्शन `नान ग्रुप` द्वारा रवीन्द्र भवन, नयी दिल्ली के खुले मंच पर २१ जून १९७६ को हुआ था ।

` उत्तर युद्ध` और `यक्ष प्रश्न` एक ही सम्पूर्ण नाटक के दो भाग कहे जा सकते हैं । `उत्तर युद्ध` नाटक के चरित्रों की यथास्थिति का चित्रण करने के उपरान्त उन्हें युद्ध का आह्वान करता है और `यक्ष प्रश्न` इन चरित्रों द्वारा युद्ध की प्रक्रिया से गुजरकर दर्शन की प्राप्ति करता है । परिस्थितियों से जूझकर और प्राप्त सफलता

१- कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल-आत्म -साक्षात्कार करते चरित्रों का संसार-सम्पादक- डा० रघुवंश, पृ० ८५

विफलता को भोगकर दर्शन की स्थिति तक पहुंचने की इस संपूर्ण प्रक्रिया की प्रस्तावना ही 'उत्तर युद्ध' है । दोनों को एक दूसरे से अलग कर उनकी सम्पूर्णता की कल्पना भी नहीं की जा सकती क्योंकि 'उत्तर युद्ध' से लेकर 'यक्ष प्रश्न' तक की यात्रा यथास्थितिवाद से प्रश्न करने की स्थिति की यात्रा है । फलत: वे अन्योन्य हैं, 'अन्तरा' और 'स्थायी' के रूप में आज के मनुष्य के जीवन में चलने वाला सतत संगीत हैं ।

सम-सामयिक मनुष्य जीवन पर दृष्टिपात करने से एक कठोरसत्य देखने में आता है कि तथाकथित बुद्धिजीवी मनुष्य दो स्तरों पर अपना जीवन व्यतीत कर रहा है- एक स्तर है, उसका कार्य विहीन, नपुंसक वैचारिक चिन्तन और दूसरा स्तर है, उसका एकांतिक अहं जिसके कारण वह सामाजिक दायित्व से कटा हुआ है । प्रस्तुत नाटक अपने प्रथम खण्ड 'उत्तर युद्ध' में आत्म निर्वासित पाण्डवों के थोथे वैचारिक चिन्तन के विविध रूप बताकर आधुनिक मनुष्य की बुद्धिजीविता पर पैना व्यंग्य करता है । अर्जुन ने द्रौपदी को स्वयंवर में जीता लेकिन भ्रान्तिवश माता कुन्ती के यह कहने पर कि जो भी चीज लाये हो, पांचों भाई बराबर बांट लो- द्रौपदी पांचों पाण्डवों के उपभोग की 'चीज' बन गयी । द्रौपदी को 'चीज' समझकर उसका उपभोग करने का एकांतिक अहं और इस उपभोग वृत्ति के कारण उन्हें अपनी एकता और पारस्परिक विश्वास के टूट जाने का भय- दो ऐसी मानसिक स्थितियां हैं जिनके मध्य संघर्षरत पाण्डव अपनी निर्णय-शक्ति को ही खो बैठते हैं । वे द्रौपदी से सलाह लेने जाते हैं लेकिन द्रौपदी के आकर्षण का प्रभामण्डल उन्हें विवेकशून्य बनाकर बार-बार उसी एकाकी भोग की ओर खींचने लगता है । नाटक का यह पौराणिक सन्दर्भ समसामयिक राजनीतिक व्यंग्य को सहज ही प्रकट कर देता है । स्वतंत्रता के लगभग बीस वर्षों बाद भारतीय राजनीति के इतिहास में एक ऐसा भी समय आया जब एक सशक्त राजनीतिक विकल्प की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी । जनमत और प्रजातंत्रीय न्याय की तुला पर ऐसे राजनीतिक विकल्प की सम्भावनाएं भी प्रबल होने लगीं लेकिन सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों के षडयंत्र से सशक्त विकल्प के रूप में एक नयी शक्ति के उदय की सम्भावनाएं शीघ्र ही धूमिल हो गयीं । इसके स्थान पर स्वतंत्रता के उपरांत एक छत्र शासन करती चली आयी पार्टी की जड़ें और भी मजबूत होने लगीं । एक समय तो ऐसा आया कि राष्ट्र की संपूर्ण शक्ति

इसी एक सत्ता के हाथ केन्द्रित होती प्रतीत होने लगीं । राजनीति में दु:शासनीय सत्ता द्वारा वास्तविक मूल्य संयुक्त शक्ति का चीर हरण किया + जाने लगा । ऐसी परिस्थिति में विरोध करने वालों के पास वैकल्पिक क्रान्ति दर्शन तो था लेकिन वह आस्था नहीं थी जिसके बल पर वे 'उत्सर्ग की राजनीति' का आदर्श ग्रहण करते । वे तो स्वयं अप्राप्य सत्ता को प्राप्त कर लेने के अपने भगीरथ प्रयत्नों के मार्ग में उक्त वैकल्पिक क्रान्ति दर्शन को एक माध्यम मात्र मानते थे । इनके अतिरिक्त राष्ट्र में एक ऐसा वर्ग भी था जो बुद्धिजीवी था और प्रजातंत्रीय मूल्यों की स्थापना के लिये उत्सुक था ।लेकिन उसके पास क्रियान्वयन की शक्ति नहीं थी, वह तो सत्ता-लोलुप राजनीतिज्ञों द्वारा छीन ली गयी थी । परिणाम यह हुआ कि शक्ति और उसमें निहित मूल्यों के चीर हरण को देख पाने की असामर्थ्य ने इस प्रजातंत्रीय बुद्धिजीवी वर्ग को आत्म-निर्वासन के जंगल में ले जाकर पटक दिया । अब उसके पास कार्य के स्थान पर केवल शब्द थे और परिवर्तन के स्थान पर केवल परिवर्तन के दिवा-स्वप्न थे । पाण्डवों का बनवास वही आत्म निर्वासन है और द्रौपदी को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेने की उहापोह वही कार्यविहीन केवल शब्दों की आयोजना है । यह स्थिति हमारे देश के राजनीति के किसी विशेष कालखण्ड के संदर्भ में जितनी सही है उतनी ही किसी भी देश की राजनीति के सन्दर्भ में भी सही है । इस राजनीति की नियति ही यह रही है कि दुर्दमनीय सत्तालोलुपों द्वारा 'शक्ति' को अनेक बार मुक्त कराये जाने के उपरान्त वह विविध वादों और मतामतान्तरों का शिकार बनने को अभिशप्त हुई है । ऐसे में राजनीतिक शक्ति का अपहरण बार-बार दु:शासनों द्वारा होता रहा है और हम उसे बचाने के लिये केवल वाचिक शब्दों का सहारा लेते रहे हैं ।'उत्तर युद्ध' के अन्त में पाण्डवों का हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना और पृष्ठभूमि से आती द्रौपदी की चीख शक्ति के अपहरण की करुणा की ही अभिव्यक्ति करती है ।

'उत्तर-युद्ध' में शक्ति और उसके मूल्य की जिस नियति की ओर अन्तत: संकेत किया गया है, उसे असुरक्षित छोड देने का दायित्व पाण्डवों पर ही आता है । वे चिन्तन के धरातल पर शक्ति संगठन की बात तो कहते हैं लेकिन जैसे ही वे उस शक्ति से संयुक्त होते हैं कि वे उसका उपभोग करना चाहने लगते हैं और इसके लिये शक्ति का उपयोग बांटकर करना चाहते हैं । यही कारण है कि शक्ति कमजोर हो जाती है और

असुरक्षित भी हो जाती है । एक ओर, दुःशासन द्वारा शक्ति को बलात्कार की सीमा तक भी प्राप्त करने की हठधर्मिता है तो दूसरी ओर पाण्डवों द्वारा उसे विखण्डित करके प्राप्त करने की स्वार्थपरक ईहा है । दोनों ही अतियों के मध्य आज की राजनीति मूल्यविहीनता की ओर बढ़ती जा रही है । राजनीतिक विकल्प के रूप में प्रजातंत्रीय मनीषा के नाम पर प्रबुद्ध रत्नजनि राजनेताओं ने जब आत्म-निर्वासन की अवस्था में ही एक राष्ट्रीय दल में अपने आपको विलय कर दिया तो ऐसा प्रतीत हुआ कि भारतीय राजनीति में 'मूल्य' और 'शक्ति' का एक अभिनव संगम हुआ है । लेकिन शीघ्र ही निहित स्वार्थों ने उस महिमामयी राजनीतिक और आचारिक परिकल्पना को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया । तब एक तथ्य उभरकर सामने आया कि किसी भी गैर कांग्रेसीय विकल्प का तात्पर्य यह नहीं कि वह श्रेष्ठ है । विकल्प क्रिया के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हो सकता है । पाण्डवों द्वारा द्रौपदी को प्राप्त करने के लिये एक होने के ढोंग पर अंगुली रखते हुए विदूषक का यह कथन 'विकल्प की राजनीति' के वास्तविक चरित्र पर सटीक व्यंग्य है -'अभी तक मैं आप सबका विश्वासपात्र था, अब कोई नहीं रह गया ? तुम वनवास में हो, इसके माने यह नहीं कि तुम सब कौरवों से बेहतर हो । याद रखो, तुम्हें वनवास दिया गया है । इसका कारण कोई और है । जो कारण है वही है क्रिया । तुम सब प्रतिक्रिया हो । तुम वनवास में हो, तुम्हारे लिये सारा प्रश्न यहीं खत्म हो गया । चाहते हो तुम पर दया की जाय ? श्रेष्ठ हो, क्योंकि वनवास में हो ? वनवास एक परिस्थिति है जिसमें तुम्हें डाला गया है । मूल वही है, जो पांच पतियों का पत्नी द्रौपदी को खींचे लिये जा रहा है ।'[१] आज से चार वर्ष पूर्व रचे गये इस नाटक का यह चिन्तन क्या आज के छिन्न-भिन्न तथाकथित राजनीतिक विकल्प को नियति सन्दर्भ में सटीक नहीं उतरता । पाण्डवों के सम्बंध में परम्पराओं से बने उदात्त मुखौटों को तोड़कर उनके मानवीय चरित्र को यथार्थ धरातल पर उभार कर लाल ने रचनात्मक साहस का परिचय दिया है । यही नहीं, नाटक के इस प्रकार के चिन्तन की ऊष्मा देने वाले अंशों में लाल द्वारा भारतीय राजनीति में 'विरोध' की रचनागत मूल्यवत्ता को तटस्थ रूप से देखने की दृष्टि भी मिलती है ।

१- उत्तर युद्ध : किं यदा प्रश्न- पृ० ५१

राजनीति के उक्त चरित्र को 'देखने' के पश्चात् (कथ्य के स्तर पर दु:शासन द्वारा द्रौपदी को खींच ले जाने और द्रौपदी की चीख सुनकर भी पाण्डवों का यथास्थिति होकर बैठे रह जाना) नाटककार देश की राजनीति में सक्रिय होकर भाग लेने वाले राजनेताओं से कतिपय अपेक्षाएं करता है जिससे हमारे स्वप्नद्रष्टा मनीषियों की समग्र क्रान्ति का स्वप्न साकार हो सके । शक्ति का विभाजन न हो पाये और विकल्प एकनिष्ठ होकर देश को प्रजातंत्रीय व्यक्तित्व देने में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करे- इसके लिये नाटककार का एक ही उत्तर है - युद्ध- रचनात्मक-युद्ध, निर्वासन के जंगल से लौटकर संघर्षरत होना, जूझना और प्रश्न करना । दूसरे शब्दों में उत्तर युद्ध है और युद्ध से तात्पर्य है प्रश्न करना । प्रश्न करके और संघर्षों से जूझकर ही शक्ति को संगठित किया जा सकता है, एकांकी अहं से मुक्त करा मनुष्यों को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है । इस रचनात्मक युद्ध की प्रेरणा ~~देनेवाले~~ देनेवाला नाटक का विदूषक है , वास्तविक अर्थों में वही 'गुरु' है जो पाण्डवों को अपने समय से प्रश्न करने और समय के प्रश्नों का उत्तर देने(अर्थात् समय से संघर्ष करने) का आह्वान करता है, उन्हें संघर्ष के मोर्चे की ओर लगा वही परिवेश-दर्शन कराना चाहता है जो नाटक 'गुरु' में शीलबन्धु चाणक्य को और चाणक्य अपने शिष्यों को कराता है । निर्वासन से मुक्त होने का यही उपाय है । विदूषक द्वारा पाण्डवों को कराया गया यह बोध 'समय के प्रश्नों से जूझने की' पूर्व-पीठिका कही जा सकती है -

विदूषक- स्वीकार ने नहीं, बांटने चले थे - स्वयं बंटे हुए ।

(चारों भाइयों ने उसे घेर लिया है।)

विदूषक- शत्रु को पता था, तुम सब एक नहीं हो ।

युधिष्ठिर- नहीं ।---इधर आओ । यहां बैठो । क्या हम सचमुच एक नहीं हैं ?

विदूषक- हम हैं भी ?

(सब फिर उसी तरह चुपचाप बैठते हैं । द्रौपदी का आर्तनाद पृष्ठभूमि में सुनायी पड़ता है ।)

विदूषक- हमारे पास शब्द हैं । शक्ति, एकता, निष्ठा,भक्ति,प्रेम। हम केवल इस पर विचार कर सकते हैं । द्रौपदी का दु:शासन अपहरण करता चला जा रहा है।[१]

१- उत्तर युद्ध-पृ० ५१-५२

शब्दों में को क्रियात्मक सन्दर्भ देने में ही व्यक्तित्व की कसौटी है । इस कसौटी का ही एक रूप है अहं मुक्ति जहां दूसरा भी अपना होकर आत्मीय हो जाता है, वैसे ही जैसे नाटक में सहदेव दूसरी मां का होने पर भीयुद्धिष्ठिर की दृष्टि के विशाल केनवास पर उसका आत्मीय हो जाता है । प्रश्नों से जूझने पर युद्धिष्ठिर को यही दर्शन प्राप्त होता है । 'उत्तर युद्ध' का विदूषक ही 'यक्ष प्रश्न' में यक्ष बनकर सामने आता है और व्यक्तिगत अहं में डूबे पाण्डवों से प्रश्न करता है । युद्धिष्ठिर में मानव धर्म के प्रति आस्था होने और समय की मांग को पहिचानने की शक्ति होने के कारण ही वे समय को अपने प्रश्नों द्वारा चुनौती मे दे सकते हैं और उसके प्रश्नों का उत्तर भी दे सकते हैं । फलत: वे स्वयं भी धर्म,भय,काल-भय, मृत्यु-भय आदि से मुक्त होते हैं और दूसरों को भी मुक्ति दिला पाने में समर्थ होते हैं । समय के प्रासंगिक होकर ही वे भोग के सुख को प्राप्त करते हैं । युद्धिष्ठिर का यह चरित्र 'इण्डिविड्युअल' से 'मनुष्य' हो जाना ही है । समय के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए ही वे 'क्रिया-त्मक मार्ग' को प्राप्त करते हैं । जबकि अन्य भाई केवल प्रतिक्रियाओं में ही जीते हैं, शेष भाइयों द्वारा यक्ष के समक्ष प्रकट प्रतिक्रिया वास्तव में उत्तर नहीं है क्योंकि समय की उपेक्षा कर आगे बढने की उनकी इच्छा प्रासंगिक नहीं रही है । ये चारों भाई केवल इतिहास और परम्पराओं की वैशाखियों के सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं । और इस प्रकार अतीत के रेगिस्तान में सिर गडाने वाले शुतुमुर्ग बन जाना चाहते हैं । भारतीय जनमानस की अतीत जीवी रोमांटिक प्रवृत्ति पर यहां तीखा व्यंग्य किया गया है । शक्ति और श्री से विहीन 'सूर्यमुख' के अर्जुन को वभ्रु और उसके साथियों द्वारा दिखाया गया परम्परा और स्वर्णिम अतीत का नृत्य[1] इन चार पाण्डवों की भी नियति है जो यक्ष के साथ उनके सम्वाद में इस प्रकार प्रकट हुई है -

सहदेव- चुप रह । नहीं तो तेरा गला घोंट दूंगा । तू नहीं जानता मेरी शक्ति। मैं पाण्डव पुत्र हूं ।

यक्ष- कब तक पुत्र कर बने रहोगे ? पुरुष कब होगे ?[2] दूसरी ओर, युद्धिष्ठिर वर्तमान में जीकर समय और स्वयं- दोनों की प्यास को सन्तुष्ट करते हैं ।

१- देखिये- सूर्यमुख, पृ० ७६

२- यक्ष प्रश्न- पृ० ६०

और इस प्रकार अपने परिवेश से जुड़ते हैं । यक्ष द्वारा युधिष्ठिर को पूछे गये प्रश्नों और उनके उत्तरों में वही `देखने`,`भोगने` और `जुड़ने` का लीला-दर्शन प्रच्छन्न है ।

कथ्य के धरातल पर जिस प्रकार यह नाटक शब्द को केवल विचार करने का माध्यम न बनाकर उसे अपने आस-पास घट रही घटनाओं के सन्दर्भ में कार्य-रूप देने का आह्वान करता है, वैसे ही शिल्प के धरातल पर शब्द को केवल निरर्थक फैलाव बन देकर उसमें प्रेक्षकों व पाठकों पर सीधा प्रहार करने वाली शक्ति भरने की भी सम्भावनाएं देता है । शब्दों के की मार से चरित्रों और उन चरित्रों के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार करते पाठकों व प्रेक्षकों को भी तिलमला देने की शक्ति कतिपय स्थानों पर देखने को मिलती है । `उत्तर-युद्ध` में युधिष्ठिर द्वारा विदूषक से यह पूछा जाने पर कि `क्या हम सचमुच रुक नहीं हैं - विदूषक उत्तर देता है -`हम हैं भी ? - विदूषक के उत्तर में क्षिप्त प्रश्न चरित्रों और पाठक-प्रेक्षक वर्ग को मार्मिक व्यंग्य के साथ स्पर्श करता है और रचनाकार के अभीष्ट चिन्तन को भी प्रकाशित कर देता है । एक अन्य स्थान पर ये ही शब्द अपने विशिष्ट अर्थ के कारण प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं -`पर जुए का पासा तुम्हारे हाथ में था । तुम हारे, ये सब क्यों हार गये ? तुम्हारी हार उसी क्षण हो गयी जब तुम शत्रु के साथ जुआरी बने । तुम्हें अपने शत्रु का पता नहीं । ये तुम्हारी ललकार से जुए के युद्ध में शामिल हुए, पर वह जुआ दो पराजित बुद्धों का था । वह खेल इनका नहीं, तुम्हारा और दुर्योधन का था जिन्हें राजसिंहासन के अलावा और कुछ नहीं दीख रहा था ।` रेखांकित शब्द नाट्य-शब्द हैं जो युधिष्ठिर के प्रति यक्ष की भर्त्सना को सम्पूर्ण अभिनयगत ऊष्मा के साथ प्रकट करते हैं । ऐसे शब्द वहां अधिक सार्थक अर्थ प्रदान करते हैं जहां वे आस-पास के लम्बे वाक्य-विन्यास से न घिरे हों । तब नाटकीय लय का नियोजन भी कुशलतापूर्वक हो पाता है, यथा-

यक्ष- ये मरे क्यों ?
युधिष्ठिर-अपनी मृत्यु से ।
यक्ष- मृत्यु क्या है ?
युधिष्ठिर- उत्तर न दे पाना ।

यक्ष- उत्तर क्या है ?

युद्धिष्ठिर- प्रश्न करना ।

यक्ष- प्रश्न कौन करता है ?

युद्धिष्ठिर- जो देखता है ।

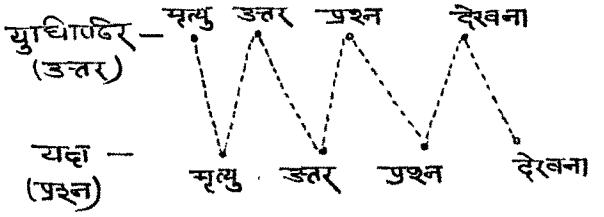
यक्ष- देखना क्या है ?

युद्धिष्ठिर- सम्बंधित होना ।

यक्ष- किससे ?

युद्धिष्ठिर- सम्पूर्ण से ।

ये सम्वाद लघु होने पर भी पर्याप्त कसावट लिये हुए हैं । इसका कारण है एक के शब्द को दूसरे द्वारा सम्वाद आगे बढाने के लिये ग्रहण कर लेना । इससे एक सतत लय बनती है जो सम्वादों में काव्य को अनुस्यूत करती है । मानस- रंगमंच पर इस लय का रूप इस प्रकार बनता प्रतीत होता है । शब्दों को नाद धर्मा कहा जाता है और इस प्रकार शब्द संयोजन ऐसा ही नाद-धर्मा आरोहा-वरोह उत्पन्न करता है :-



यह लय सार्थक इस कारण भी है कि इसमें परस्पर अर्थ संगति है । बिना अर्थ संगति के ये ही शब्द पुनरावृत्ति मात्र लगने लगते हैं ?

शब्दों की परस्पर निर्भरता, अर्थ-संगति और नाद धर्मा प्रवृत्ति ही नाटक के कार्य-तत्व को सक्रिय बनाती है और सम्वादों की पटरी पर दौडता कार्य व्यापार ही नाटक में रंगमंचीय काव्य का सर्जक होता है । `यक्ष प्रश्न` और `उत्तर युद्ध` का संयुक्त कार्य व्यापार प्रारंभ में बहुत धीमा है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे युद्धिष्ठिर प्रभृति पाण्डवों के नपुंसक चिन्तन से उत्पन्न नाटक की स्करसता को विदूषक ही जैसे-तैसे

तोड़ने का प्रयत्न कर रहा है । कार्य-व्यापार की यह एकतानता तब टूटती है जब ~~पाण्डवगण~~ पाण्डव द्रौपदी से मिलकर अपने-अपने व्यक्तिगत अहं में डूबे लौटते हैं और विदूषक से अपने अपने अनुभवों को बड़े चाव के साथ अभिव्यक्त करते हैं । इस गति को चरम तब मिलता है जब पाण्डवों को पृष्ठभूमि से द्रौपदी की चीख और आर्तनाद सुनायी देता है । एक क्षण के लिये उनमें चेतना आती है लेकिन उनकी भीरुता शीघ्र ही उनको चेतना पर हावी हो जाती है और फिर से उस चीख के सुनायी देने पर तो जैसे उनकी चेतना ही लुप्त हो जाती है- फलत: 'उत्तर युद्ध' का समापन एक प्रकार के नाटकीय तनाव, के मध्य हो जाता है। कार्य-व्यापार के विकास का यह रूप नाटक के कथ्य की अनिवार्य शर्त भी है क्योंकि बिना इसके 'यक्ष प्रश्न' की भूमिका ही नहीं बनती है ।

यक्ष के प्रश्न और युद्धिष्ठिर के उत्तर नाटक के वे अंश हैं जहां कार्य-व्यापार निरन्तर एक सीधी रेखा पर बिना किसी व्यवधान के दौड़ता चला जाता है । बीच बीच में विराम की स्थिति का संकेत भी संगीत के बीच गायक द्वारा यति के प्रयोग के समान प्रतीत होता है । तब यह विराम भी उस सतत संगीत का अंग बन जाता है। यक्ष और युद्धिष्ठिर के मध्य के ये सम्वाद नाटक के विचार-दर्शन को प्रकट करने के साथ -साथ तत्कालीन परिस्थितियों में युद्धिष्ठिर द्वारा यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देने की विवशता को भी प्रकट करते हैं, क्योंकि ये उत्तर ही युद्धिष्ठिर के भाइयों को जीवित कर सकते हैं । दूसरे अर्थ में, यहां गतिशील सम्वादों में नाटक के विचार-दर्शन के समकक्ष चरित्रा विशेष की परिस्थिति सापेक्ष अनिवार्यता(जिसके बिना नाटक आगे ही नहीं बढ़ सकता है।) का पुट होने से नाटक के कार्य-व्यापार की क्षिप्रता दोहरे स्तर पर बढ़ जाती है।स्टेनिसल वस्की ने नाटक के मूल विचार-दर्शन(ruling-idea) और प्रवृत्यात्मक या स्थिति-धर्मा विचार(tendentious idea) के कार्य-व्यापार में एक साथ प्रयुक्त होने से कार्य के सातत्य की जो बात कही है, वह 'यक्ष-प्रश्न' के प्रश्नोत्तर प्रसंग में सटीक बैठती है -'The task of defining the ruling-idea of a play and so making sure that the through action follows the course the author had intended for it, becomes even more tricky than it is if the producer wishes to introduce some-tendentiousness in general... If on the otherhand, the tendentious idea corresponds to the ruling idea,then the creative process will take its normal course thus-

——→——→——→——→ ruling idea tendency.[1]

1. The theory of modern stage (Edi by Eric Benlley)-'stanislavsky'

यहां प्रत्येक तीर स्वयं में एक स्वतंत्र कार्य व्यापार है जो अन्य कार्य-व्यापारों की संगति पाकर और ruling idea व tendentious-idea को समाविष्ट कर नाटक को सबल गति देता है। 'उत्तर युद्ध' में द्रौपदी की चीख वाला प्रसंग और 'यक्ष प्रश्न' में यक्ष व युद्धिष्ठिर के परस्पर पश्नोत्तर एवं सहदेव के जीवित होकर गा पडने के साथ नगाडों की ध्वनि के बीच अन्य पाण्डवों के जाग जाने का प्रसंग ऐसे ही बिखरे हुए कार्य व्यापार हैं जो संयुक्त होकर उपर्युक्त प्रकार से सातत्य की स्थापना करते हैं। कार्य-व्यापार में ruling व tendentious ideas के प्रयोग उस प्रसंग में अधिक सावधानी की अपेक्षा करते हैं जब नाटककार किसी शास्त्रीय या पौराणिक या पारम्परिक नाटक में नयी मान्यताओं को अनुस्यूत करना चाहता है। ऐसी स्थिति में नाटककार का प्रवृत्यात्मक और समय की मांग को लेकर चला विचार दर्शन नाटक के मूल और परम्परा द्वारा मान्य विचार दर्शन को खंडित भी कर सकता है। लाल के प्रस्तुत नाटक में यक्ष-क यक्ष के प्रश्न और युद्धिष्ठिर के उत्तर रचनात्मक होने के कारण किसी स्थापित मान्यता को समूल नष्ट न करके उसमें नयी अर्थवत्ता ही उत्पन्न करते हैं। नाटकीय कार्य-व्यापार में इस कारण एक प्रकार रचनात्मक सन्तुलन और अनुशासन बन सका है।

'उत्तर युद्ध' और 'यक्ष प्रश्न' उस लम्बी चिन्तन प्रक्रिया को एक स्थान पर केन्द्रीकृत करने का प्रयत्न है जिसके लिये लाल 'अन्धा कुआ' से लेकर 'सगुन पंछी' तक निरन्तर प्रयत्नशील रहे हैं। इस नाटक का प्रश्न ऐसा प्रश्न है ' जो समय की अर्थवत्ता और व्यक्ति व समष्टि के अस्तित्व के प्रति हमारे रक्त बिन्दुओं को जागृति देता है। उस प्रश्न की गहराई में डूबने का एक ही मार्ग है- अपने-समकालीन- समय की मांग को पहिचानते हुए अपना अस्तित्व अथवा 'होने' को सही अर्थ देने के लिये युद्ध करना। ऐसा युद्ध जो कभी हेरूप ने अकुलक्षोम के विरुद्ध लडा था, प्रद्युम्न ने काल समुद्र के विरुद्ध लड़ा था और प्रहलाद ने हिरण्यकशिपु के विरुद्ध लडा था।'[१] प्रश्न-यक्ष की इस अन्तर्यात्रा[२] का ही परिणाम है कि लाल के ये चुनौतीपूर्ण शब्द हमारे 'कृषि-पूर्वजों

१- लक्ष्मीनारायणलाल के नाटक और रंगमंच- डा० दयाशंकर शुक्ल, पृ० १७०-१७१

२- देखिये- कृतिकार लक्ष्मीनारायणलाल-सं० डा० रघुवंश-नरनारायण के शब्दों में।

की कृतम्परा प्रज्ञा[1] का स्मरण दिलाते हैं -

कब तक रहोगे वनवासी तुम, यह कैसा वनवास हमारा
जब से प्रश्न बड़ा है, उत्तर देना होगा ।[2]

सब रंग मोह भंग :

परंपराओं के प्रति आग्रह रखते हुए उनके बीच से आधुनिकता के निजी सन्दर्भों की खोज की दिशा में लाल का नाटक 'सब रंग मोह भंग' एक अन्य उल्लेखनीय नाट्य-कृति है । इसका प्रथम प्रदर्शन नेशनल स्कूल आफ ड्रामा, नयीदिल्ली द्वारा दो दिसम्बर उन्नीस सौ छिहत्तर को श्री ज्योतिस्वरूप और जमील अहमद के निर्देशन में स्ट्रडियो थियेटर, रवीन्द्र भवन में हुआ था और सन् १९७७ में सरस्वती बिहार प्रकाशन, नयी दिल्ली ने इसे सर्वप्रथम प्रकाशित किया था । समसामयिक राजनीतिक सन्दर्भों की सीमा से हटकर सांस्कृतिक मूल्यों के विखण्डन की प्रक्रिया को यह नाटक लाल की मौलिक चिन्तन प्रक्रिया के सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का एक प्रयास है । सांस्कृतिक मूल्यों के दर्शन का आग्रह नाटक के इस कथन में केन्द्रीभूत होकर प्रकट हुआ है - 'प्रत्यक्ष प्रश्न क्या है- खासकर वर्तमान नाटक के सन्दर्भ में ? मतलब हमारा समाज और दर्शक वर्ग क्या है ? यह वह है जिसके संस्कारों में धर्म विश्वास । इसकी प्रकृति में है मौज-मस्ती, इत्मीनान से रिलेक्स्ड रहने की इच्छा । यह जब कुछ देखता है तो बंधा-बंधा, घुटता हुआ नहीं रहना चाहता । यह बुद्धि से परे हटकर शुद्ध राग, लालित्य, भावना, विश्वास में जीता रहना चाहता है । एक शब्द में कहें तो यह समाज लीला दर्शन का भूखा है । वह लीला देखना चाहता है । वह लीला का अंग होना चाहता है ।[3] अपने समय के प्रेक्षकों को उपर्युक्त दृष्टि से जोड़कर पश्चिम के प्रति हो आये मोह को भंग करना ही इस नाटक का अभीष्ट है ।

१- वही- सूर्यमुख अन्धकार- वीरेन्द्रकुमार जैन, पृ० ३०

२- यक्ष प्रश्न- पृ० ८४

३-

नाटक में पश्चिम के प्रति हो रहे- आये मोह की चर्चा एक ज्वलन्त प्रश्न के रूप में हुई है । अतएव नाटककार की दृष्टि में यह मोह क्या है, वह हमारे समाज में किस प्रकार व्याप्त है और इस पश्चिमी अन्धानुकरण से बचने के लिये अपने प्रेक्षकों से नाटककार क्या अपेक्षाएं रखता है- इस पर विचार करना समीचीन होगा ।

पश्चिम के प्रति हो आये मोह के मूल में पश्चिमी कृत चिन्तन का वह मोड़ है जहां से बन भारतीय जनमानस में आधुनिकता और प्राचीन के सम्बंध में भ्रान्त प्रतिमान उत्पन्न हो गये थे । इस भ्रांति के परिणामस्वरूप हमने पश्चिम से आयातित हर विचार और वस्तु को आधुनिक माना और अपने यहां की परंपराओं और वस्तुओं को प्राचीन अथवा बिछुड़ा हुआ समझा । इससे हमारे सामाजिक जीवन में एक प्रकार के सांस्कृतिक विखण्डन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी और हमारा भारतीय समाज अपनी ही परंपराओं को हेय समझकर उसे त्यागने और पश्चिम की हर वस्तु (चाहे वह वहां अपने समय से अप्रासांगिक हो गयी हो) `डिकेडेण्ट` होने पर भी गर्व के साथ स्वीकार करने की प्रथा चल निकली । प्रस्तुत नाटक में हमारे सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में उत्पन्न विभक्तिकरण को आगन्तुक नामक चरित्रों के इन शब्दों में प्रकट किया गया है -` मैं देवता नहीं, सुपरमेन हूं । राक्षस नहीं, शैतान हूं । मैं धरती नहीं, पाताल हूं । तुम स्वतंत्र हो, मैं आजाद हूं । तुम काले, मैं सफेद हूं । तुम दीवार, मैं रंग हूं । मैं हवा तुम पलंग हो । मैं वर्षा हूं, अकाल हूं, लीला हूं, मैं पीला हूं । मैं उदास हूं । तुम दास हो । मैं सोचता हूं तुम्हारे लिये । मैं करता हूं तुम्हारे लिये । मैं मंत्र हूं, तुम स्वतंत्र हो । मैं तंत्र हूं, तुम यंत्र हो । मैं हूं, तुम बनते हो । मैं हूं, तुम होते हो ।[१] आगन्तुक के रूप में पश्चिम का इण्डिविड्-अल हमारे यहां की समष्टि-भावना को किस प्रकार कीड़ा बनकर समाप्त कर रहा है- यह तथ्य ही दूसरे शब्दों में पश्चिमी जीवन दर्शन हमारे ब द्वारा हमारे समाज को खण्ड-खण्ड करने की प्रक्रिया की करुण त्रासदी बन जाता है । यह आगन्तुक चरित्र ही हमें अपने नियंत्रण में बांधे हुए हैं और विगत अनेक वर्षों की गुलामी के कारण हम उसी के द्वारा और उसी के मस्तिष्क से सोचने को अभिशप्त हैं । हमारे

१- सब रंग मोहभंग- पृ०४५

सांस्कृतिक जीवन की इस परामुखोपेक्षिता को नाटककार ने चुनौती दी है और इस प्रकार सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर की मानसिक गुलामी से मुक्त होने की प्रेरणा दी है-'तोड दो अपने घेरे को । रुककर देखो, कौन दौड़ा रहा है ? बीच में कौन है ? इस खेल का अन्त कहां है ? अपने आपसे प्रश्न करो । जाना कहां था? ऐसा क्यों है ? यह हो क्या रहा है ? हमसे कराया क्यों जा रहा है ? हे मां ! हमें शिव का मस्तिष्क दो,कृष्ण का हृदय दो, राम का कर्म दो, गांधी का सत्य दो ।'[१]

पश्चिम के प्रति हो आये मोह का हमारे सामाजिक जीवन पर पडे प्रभाव का दूसरा कोण था जीवन मूल्यों के क्षेत्र में परिवर्तन । अपनी बुनियाद का त्याग कर पश्चिम की धुरी को पकडने का परिणाम यह हुआ कि न तो हम अपने जीवन मूल्यों को सहेज पाये और न ही आयातित पश्चिमी म जीवन मूल्यों को आत्मसात् कर पाये । लाल ने धुरी से हटी हमारी मूल्य संचेतना को झकझोरा है-'किसने कहा था, निर्बाध बढ़ो अपने पथ पर , जब तक यह सूर्य आकाश के मध्य में न आ जाय । जब तक हम सभी उन्नत मस्तक होकर बढ़े, यह नहीं देखें कि हमारी जंजीरें टूट गयीं । ----क्या ? क्या ? मृत व्यक्ति फिर से नहीं जीता ? बीता हुआ दिन फिर से नहीं आता ? फिर हम तुम्हें पुकारते क्यों हैं ? कोई उत्तर नहीं ? सब झूठ है क्या ? कहीं कुछ भी नहीं ? सब कुछ मर चुका है? नहीं, नहीं । कुछ नहीं । कुछ है । वह सूत्र कहां है ? कैसे बांधू ? कैसे खींचूं ?--कुछ भी ऐसा याद करने लायक नहीं है क्या ? है, क्या है ? है, कहां है ? काल समुद्र में हमारे पुरुषों ने अमृत मंथन किया था । कहां है वह शेषनाग ? वह सूत्र और वह डोर ? वह शेषनाग---'[२] नाटक का सागर मंथन वाला खेल उस सांस्कृतिक सूत्र को ही खोजने का प्रयास है जिसे खोकर हम विजातीय संस्कृति के गुलाम बन गये हैं । इस गुलाम मनोवृत्ति के ही परिणाम स्वरूप हममें अपनी संस्कृति को प्रिमिटिव समझने का भ्रम उत्पन्न हो गया है ।

१- सब रंग मोह भंग- पृ० ६१

२- वही- पृ० ७६

पश्चिम और हमारे यहां के 'आधुनिक' में जो मूलभूत अन्तर है, उसे इस नाटक में स्पष्ट कर नाटककार ने इस शब्द की अर्थगत विसंगति को प्रकट न करने का प्रयास किया है। आधुनिकता मूल्यों के परिवर्तन की एक सतत प्रक्रिया का नाम है और भारतीय व पश्चिमी संस्कृति में इस परिवर्तन में एक मौलिक अन्तर देखने को मिलता है। जहां पश्चिम की आधुनिकता असीम से ससीम अर्थात् क्रमशः अणु स्थिति में बदलते जाने का नाम है और इस प्रकार अकेलेपन का शिकार होने की स्थिति का बोधक है वहां हमारी आधुनिकता व्यक्ति की सीमाओं से बढ़कर मानव मात्र की दृष्टि तक प्रसार पाने वाली प्रक्रिया का नाम है। इस प्रकार सामाजिक दायित्व के प्रति हमारे यहां जितना आग्रह है उतना पश्चिम में नहीं। पश्चिमी प्रभाव के कारण हम इस सामाजिक दायित्व से च्युत होकर आत्मकेन्द्रित हो गये हैं और लाल का यह नाटक उक्त दायित्व के स्मरण दिलाने का कार्य करता है। 'नाटक के अन्त में पुरुष चरित्र द्वारा दर्शक से अभिनेता (भोक्ता) बनने की प्रेरणा के पीछे इसी दायित्व का बोध कराना नाटककार का अभीष्ट है -

एक दर्शक- नहीं, हम और देखना चाहते हैं।
दूसरा व्यक्ति- आखिर हम दर्शक हैं।
पुरुष- बताइये, कब तक यही दर्शक बने रहना चाहते हैं ? बोलिये, जवाब दीजिये।[१]

इस सन्दर्भ में, यह भी ध्यातव्य है कि समाज के प्रति उत्तरदायी होने की इस भावना से विलग होने के परिणाम स्वरूप हम आत्मकेन्द्रित अवश्य होते जा रहे हैं लेकिन प्रकट में हम अपने सामाजिक व सांस्कृतिक शून्य को भरने के लिये अपनी परंपराओं के प्रति वाचिक अनुराग अभिव्यक्त करते हुए तत्वज्ञान की बातें करते हैं। 'नाटक के प्रारंभ में युवती का यह कथन अपने सांस्कृतिक शून्य को भरने का ही प्रयास है -'यह धुरी क्या है जिसपर सब रहा घूम। कौन है घूम रहा। कौन है घुमाने वाला। उत्तर मौन क्यों है। मैं कब तक पुकारूं, तुम्हें अकेली कण्ठ से। हे महाकाल, क्षितिज पर भोर फूटेगा कब। कब टूटेगा तुम्हारा मौन ?'[२] यह पलायनवाद ही सांस्कृतिक विखण्डन के

१- सब रंग मोह भंग- पृ० ६२
२- वही- पृ० २४

मूल्यों-में मूल में है जिसे नाटक में प्रकट किया गया है ।

पश्चिमी अन्धानुकरण से बचने के लिये अपने समय के दर्शकों से आत्म-साक्षात्कार करने के लिये नाटककार ने यहां अपेक्षाएं की हैं । यह आत्म साक्षात्कार होना चाहिए अपनी प्रत्यक्ष परिस्थितियों से और अपने वर्तमान से । नाटक के क्षेत्र में अपनी रंग-परंपराओं से परिचय पाना आत्म-साक्षात्कार का ही एक रूप है । यही है अपने जीवन का वह सादय जिसके सम्बंध में लाल लिखते हैं- 'कृतित्व सम्भव है अपनी जड़-अपनी मिट्टी से उगने में । अपनी हवा, अपना परिवेश, अपनी परिस्थितियां ।'[१] समुद्र मंथन का नाटक, चौके चूल्हे का रोमान्स, सड़क का रोमान्स, पुराना सेट, नया नाटक आदि नाट्य प्रसंग अपने जीवन का ही साक्ष्य हैं , वर्तमान से साक्षात्कार हैं और प्रेक्षकों की ही रुचि की वस्तु हैं, जैसा कि नाटक का पुरुष चरित्र कहता है-' जो आप चाहेंगे, हम वही दिखायेंगे । गरज, हममें अब आपमें कोई फर्क नहीं । आप जो चाहेंगे, वहीं होंगे आप । आप जो होंगे, वहीं होंगे अब हम ।'[२] दूसरे अंक का समुद्र-मंथन और उससे प्राप्त जीवन की कटुता का बोध वही जीवन सादय है जिसे प्रकट कर नाटककार हमारा मोह भंग कराकर हमें वस्तु स्थिति से परिचित कराना चाहता है ।

नाटककार द्वारा प्रेक्षकों को उनकी वस्तुस्थिति से साक्षात्कार कराने का आशय है उन्हें उनकी अपेक्षाओं से जोड़ना । हमारे यहां का प्रेक्षक अपने रक्त में संगीत, नृत्य, कथा-श्रवण और दर्शन-वृत्ति संजाये हुए हैं । इन संस्कारों का उद्गम है हमारी संस्कृत नाट्य-परम्परा, उसका नाट्य शास्त्र और उसका व्यावहारिक क्रियान्वयन हमारा लोक नाटक । इनका निर्वाह करते हुए नाटककार इस नाटक में प्रेक्षकों को मौज-मस्ती की ओर ले जाने का प्रयास करता है । तभी इस नाटक का रूप फार्म अनौपचारिक है और शास्त्रीय परंपराओं का स्वतंत्रतापूर्वक निर्वाह करता है । नाटक के प्रथम व दूसरे अंकों में स्थान -स्थान पर नृत्य-गतियां, पुरुष द्वारा कथा को प्रेक्षकों

१- सबरंग मोह भंग - भूमिका से।

२- वही - पृ० २४.

के प्रति सम्बोधित करने की प्रवृत्ति और उस कथा के अभिनटन द्वारा प्रेक्षकों को उसका भोग`अथवा` दर्शन` कराना - यह रंग-स्तर पर`अपनी जड़ और अपनी मिट्टी से उगने`वाली बात का ही सूचक है । यहां एक शंका यह अवश्य उठती है कि फार्म के स्तर पर अपनी रंग-परंपराओं से जुडने के साथ क्या आवश्यक नहीं कि कथ्य के स्तर पर भी यदि तदनुरूप पारम्परिक चरित्र विधान एवं आहार्य होगा तो अपनी जड़ और मिट्टी से जुड़ने की बात का महत्व कहीं अधिक हो जायेगा । सम्भवत: लाल अपने प्रेक्षकों के संस्कारों में समायी विजातीयता को समझते हैं और चरित्र एवं आहार्य स्तर पर प्रेक्षकों की उसी जड़ संस्कारक्ता से समझौता करने को बाध्य होते हैं ।

नाटक में स्थान-स्थान पर हमारे जीवन का सत्य प्रस्तुत करते समय जीवन के कटु-यथार्थ को लीला-भावना से प्रस्तुत किया गया है । इससे अपनी बात में निहित गाम्भीर्य को अगाम्भीर्य द्वारा तोड़ा गया है । इससे प्रेक्षकों पर पड़ा प्रभाव घनीभूत न होकर बिखर जाता है । कहीं उस प्रभाव की घनीव्यंजना हो भी रही होती है तो अगले सम्वाद में वह रिलेक्स होकर बिखर जाता है । इस सन्दर्भ में यह प्रसंग द्रष्टव्य है -

युवक- आपका प्रश्न क्या है ?

दूसरा युवक- ---हम एक दूसरे से असहमत हैं अपने झूठे अहंकार के लिये । हर चीज का विरोध करते हैं अपने स्वार्थ के लिये । नफरत करते हैं अपने झूठे अस्तित्व को साबित करने के लिये ।

पहला युवक- बन्द करो बकवास ।

तीसरा युवक- हर वक्त यही सम्वाद बोलता है । प्रभावित करने के लिये ।

युवती- हम ऊब चुके हैं इस खेल से ।

दूसरे युवक के सम्वादों की गम्भीरता को जब पहला युवक `बकवास`, तीसरा युवक `सम्वाद` और `प्रभावित` और युवती`ऊब` शब्दों से तोडते हैं तो दूसरे युवक के सम्वाद का प्रभाव विरल हो जाता है । एक स्थान पर `सम्वाद केवल नाटक में है- जिन्दगी में

बकवास है-` कहकर नाटककार जीवन में गम्भीर चिन्तन की अप्रासंगिकता को व्यक्त करता है और तब सम्वाद स्वत: बकवास बन जाता है । ऐसी स्थिति में यह नाटक और उसमें वर्णित जीवन प्रसंग शब्दों से अधिक स्थितियों का नाटक बन जाता है । नाटक के चरित्रों में स्थितियों के चित्रण द्वारा ही वर्तमान जीवन की विसंगतियों, अविश्वास, विजातीयता और विसंस्कृतीकरण को प्रकट करने में नाटककार को सफलता मिली है । नाटक में सम्वाद से अधिक स्थितियां ही महत्वपूर्ण हैं । सम्वाद हीनता ही तो आज के युग का सत्य है जिसे भरने की असफल चेष्टा में आदमी विसंगत हो जाता है ।

नाटक का वस्तु संगठन दो अंकों में विस्तार पाता है- पहला अंक हमारे जीवन के विविध(सब) रंगों को बताकर हम क्या हैं, स्वयं को कैसे, किस रूप में खो चुके हैं- की पहिचान कराता है । यह अपने जीवन यथार्थका साक्षात्कार कराता है । दूसरा अंक मोह भंग करता है और इसके लिये समुद्र मंथन की पौराणिक कथा को आधुनिक जीवन सन्दर्भों को उजागर करने के लिये प्रस्तुत करता है । आत्म-साक्षात्कार के बाद आत्म प्राप्ति की यह वह यात्रा है जिसे डा० दयाशंकर शुक्ल ने अपने ग्रन्थ `लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक और रंगमंच` में आधार स्वरूप ग्रहण किया है । इसी अंक में अपनी रचना, अपनी रंग-सृष्टि और अपना जीवन सत्य बताकर परंपराओं के मध्य आधुनिकता की खोज की गयी है । पहले अंक से दूसरे अंक तक की रचना यात्रा को विसंगत से संगत जीवन दर्शन की खोज की यात्रा कहा जा सकता है ।

नाटक का पहला दृश्य दर्शकों के नाटक से जुड़ने की समस्या का एक बेबाक सम्वाद प्रस्तुत करता है । नाटक यदि वास्तव में प्रेक्षकों के लिये है तो उसे उसके जीवन का दर्पण बनना होगा । पुरुष की दौड़ और युवती के सम्वाद- दोनों ही दर्शकों की समझ से कोसों दूर हैं । परिणाम स्वरूप नाटक अपने समय का साक्ष्य प्रस्तुत करने में असमर्थ रहता है । यही नाटक की समस्या है जिससे साक्षात्कार कर नाटक का पुरुष चरित्र(और नाटककार भी) दर्शकों को उन्हीं के जीवन के यथार्थ को खेल के भाव से दिखाना प्रारम्भ करता है । दर्शक ही इस नाटक के बन्दी चरित्र हैं और इस प्रकार दर्शक और अभिनेता का अन्तर स्वत: मिट जाता है ।

नाटक का पहला खेल शुरू होता है `सड़क के रोमान्स` से। अदृश्य महाशय जी के पीछे-पीछे युवकों का चौराहा पार करना और इसके लिये मध्यस्थ युवती को बनाना- हमारे युवा-जीवन की परजीविता और अन्धानुकरण प्रवृत्ति पर एक तीखा व्यंग्य है । युवती आज के युवा-वर्ग की उस रोमाण्टिक प्रवृत्ति का द्योतक है जो उसे यथास्थिति और अनिश्चय के अन्धे चौराहे पर ला खड़ा करती है- अदृश्य और रूमानी आदर्शों की खोज में भटकती इस पीढ़ी का न कोई श्रेय है, न प्रेय- राम, श्याम और सतकाम के रूप में इस युवा-वर्ग की मौलिक पहिचान नहीं है, अलबत्ता युवती को एक अहमियत है लेकिन उसका अनुकरण कर युवा-वर्ग बजाय आगे बढने के, बढने की भ्रान्ति लिये चल रहे हैं । यहीं आकर पहले दृश्य के पुरुष की गोलाकार दौड़ का रहस्य स्पष्ट हो जाता है । आज का युवक इसी भ्रामक दौड़ का शिकार है ।

नाटक का तीसरा दृश्य `चौके-चूल्हें के रोमान्स` से सम्बंधित है । भूख इस रोमान्स के मूल में है । यह भूख आज के जीवन की कटु-यथार्थ है । रक्त-सम्बंधों की नियामक यही भूख है । भाग्यवाद की वैसाखी पर घिसटती पर आज की भूखी पीढ़ी का भवितव्य क्या है- यहां आकर जीवन के समस्त प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं । प्रश्न की गम्भीरता चौके चूल्हें वाले रोमान्स की कामेडी के मध्य भी गहरा उठती है और जीवन यथार्थ का दंश अधिक पैना हो उठता है । इस दृश्य का पैनापन तब अधिक मुखर हो जाता है जब चौथे दृश्य में पुरुष `देखने की गम्भीरता` से नाटक की सीरियसनेस को जोड़ता है । -`नाटक सीरियस नहीं होता, सीरियस होता है दर्शक ।`

चौथे दृश्य में दन्त कथा के माध्यम से एक कंटेम्परेरी अर्थ देने का प्रयत्न किया गया है । कहानी (और उसका अभिनटन) एक ऐसी मक्खी के दृष्टान्त से सम्बंधित है जो अपने से छोटी मक्खियों को खाते-खाते अन्त में आत्म-हन्ता बन जाने की नियति से ग्रस्त हो जाती है । इस कथा के साक्ष्य के लिये राजा की कहानी सुनायी जाती है जो नरभक्षी बन जाता है । दोनों ही कथाएं समसामयिक राजनीति । (१९७५-७६ कालीन आपातस्थिति की राजनीति) के चरित्र को प्रकट करने वाली है । इस दृश्य का औचित्य तत्कालीन प्रेक्षक के लिये सार्थक हो सकता है और नाटककार

के सम-सामयिक दायित्व को सिद्ध करने वाला होता है ।

पांचवें दृश्य में भीम के मोह को अर्जुन के मोह की पेरोडी के रूप में रखा गया है और विकल्प की राजनीति की सत्ता लोलुपता पर करारा व्यंग्य किया गया है । पाण्डवों का मोह भंग करते करते कृष्णा को मोह हो जाने की बात हास्य का संचार करने के उपरान्त वर्तमान राजनीति के `कीटभृंगन्यायवत्` चरित्र का आदर्शन कराती है । क्रान्ति के नियामक हमारे नेता ही जब सत्ता से मोहित हो जाते हैं तो इस क्रांति के प्रेरकों का आत्म-निर्वासित हो जाना स्वाभाविक है । आपात्काल के तुरंत बाद रचनात्मक विकल्प की खोज में असफल समग्र क्रान्ति के मसीहा की वेदना को नाटककार ने कृष्णा के शब्दों में उभारा है-`अब यहां युद्ध नहीं हो सकता । आपस में लेन-देन अर्थात् उखाड़-पछाड़ ही हो सकता है । इसके अलावा अब यहां कुछ नहीं हो सकता ।[१]

अपने आस-पास के विविध जीवन दृश्यों को प्रत्यक्ष दिखाने के बाद दूसरे अंक में मोह भंग और उससे निर्दिष्ट मार्ग की तलाश का नाटक प्रारम्भ होता है । पुरुष चरित्र के शब्दों में `अब हम अपनी इच्छा से आपको कुछ दिखाना चाहते हैं - इस खुले मंच पर---आपके अपने मंच पर न जाने किस दुनियां के नाटक का, जो बहुत पहले यहां खेला जा चुका है वही पुराना सेट अब तक लगा हुआ है`[२]- यह नाटक नाटककार द्वारा अभीष्ट दिशादर्शन का प्रयास है । ऐसे लोगों को दिशा-बोध कराने का प्रयास है जो दिशाहीन हैं, जिनकी जिन्दगी में नहीं, नाटक में सम्वाद रह गया है । सभी युवक अपने अपने जीवन की दिशाहीनता की कथा सुनाकर अन्ततः उस सूत्र की खोज करते हैं जो उन्हें निर्दिष्ट दिशा प्रदान कर सके । इसलिये वे समुद्र मंथन का खेल खेलते हैं । इस मंथन के परिणामस्वरूप जो काल कूट उन्हें प्राप्त होता है- वह है आगन्तुक नाम का चरित्र जो उन्हें अपने विष में जलाना चाहता है । यही आगन्तुक युवकों को बोध देता है कि-`यही है वह जो हममें कुछ नहीं पैदा होने देता । यही

१- सब रंग मोह भंग- पृ० ५६

२- वही- पृ० ६४

व्याख्याएं , `इण्डिविडूयल` और `मनुष्य` के अन्तर को स्पष्ट करने हेतु उनकी विवेचनाएं, रिलिजन और धर्म के मूलभूत अन्तर को स्पष्ट करने की उनकी दृष्टि और `देखने`,`भोगने` और इस प्रकार आत्म साक्षात्कार करने की उनकी जीवन-पद्धति कतिपय ऐसे सन्दर्भ हैं जो किसी न किसी रूप में उनके नाटकों में प्रकट होते हैं । अपनी बात कहने का उनका आग्रह इतना बढ़ जाता है कि उसके कारण नाटक का कथ्य गौण हो जाता है । कथ्य के गौण होने पर चरित्र जीवन के घात-प्रतिघातों की एक सतत यात्रा निदर्शन न कर जीवन के खण्ड-चित्र मात्र प्रस्तुत करके रह जाते हैं और उनमें जीवन न रहकर जीवन का भू धूमिल प्रकाश मात्र रह जाता है । ऐसा होने का हो कारण है कि उनके लीला-नाटक का वैविध्य प्रस्तुत करने में सफल नहीं होते जो उनके पूर्व के नाटकों में देखने को मिलता है । इस सन्दर्भ में डा० सत्येन्द्र कुमार तनेजा का यह कथन सटीक प्रतीत होता है -` अपने नये नाटकों- गंगामाटी और व्यक्तिगत से कहीं यह महसूस नहीं होता कि वे ऐसी परिपक्वता पर पहुंच चुके हैं जहां इन्हें विशिष्ट उपलब्धि स्वीकारा जाय । इनमें पूर्ववर्ती नाटकों के समान गुण या दोष हैं । वे दोहरा रहे हैं, इसलिये उनका विकास क्रम वृत्ताकार लगता है ।[१] `व्यक्तिगत` में नये पन के कारण जो ताजगी थी वह `गंगामाटी` तक आकर आवृत्ति में बदल गयी है । तिस पर इस नाटक की भूमिका भी वही `सब रंग मोह भंग` वाली भूमिका की पुनरावृत्ति है । अतएव इस नाटक में नये पन की विशेष गुंजायश देखने को नहीं मिलती । पीताम्बर बुक डिपो, नयी दिल्ली से सन् १९७७ में प्रकाशित यह नाटक मुख्य रूप से अपने सहज लोक जीवन से जुडने और धर्म को संस्था रूपन समझकर जीवन का भाव समझने और उसके लिये हमें तैयार करने की प्रेरणा देनेवाला नाटक है । चरित्र अपनी अपनी प्रतिक्रियाओं के मध्य डूबते उतराते अन्ततः इस बोध की ओर पहुंचते हैं कि-`धर्म कहता है-काम, क्रोध, मद, लोभ, अधर्म है । पर हम हर क्षण जीते हैं वही काम, क्रोध, मद, लोभ । जो जीते हैं उसी के विरोध में खड़े हैं, इससे बड़ा सर्वनाश और क्या हो सकता है ?[२]

\+ \+ \+

१- बहुरंग से सब रंग की ओर(डा० सत्येन्द्रकुमार तनेजा)नटरंग ९-३३,१९७९ ।

२- गंगामाटी-पृ०२१.

'जीवन का स्त्रोत जीवन है । जीवन जीवन को ही दो । जब मन्दिर पूरे जीवन का केन्द्र था, तब वह जल मन्दिर में चढ़ता था । अब मन्दिर जीवन का केन्द्र नहीं रहा । जहां अब केन्द्र है वहीं अर्घ्य दो इस जीवन जल का । जो सबसे अधिक गरीब असहाय शोषित है, वही है केन्द्र ।'[१]

\+ + +

'जो है वह नहीं था, जो नहीं है वही था । किसी भी मंत्र, पूजा-पाठ, ईश्वर से जब की प्यास नहीं बुझती । जो जितना सहज था उसे उतना ही कठिन बना लिया।'[२]

'धर्म' नामक जीवन भाव के उत्क्षेपण (मनुष्य और ईश्वर के मध्य) बन जाने की ही कथा गंगामाटी नामक गांव की वेदना है । इस कारण जो ऊंच-नीच, सवर्ण-अस्पृश्य, और आस्तिक-नास्तिक का विभक्त-बोध उत्पन्न हुआ- वही इस गांव की कहानी के मूल में है । पुरुष चरित्र द्वारा सुनायी इस गांव की के इतिहास में यही कृत्रिम विभक्त जीवन दृष्टि देखने को मिलती है-'राजा बड़ा धर्मात्मा था, क्योंकि मन्दिर बनवाया था ।---वह बड़ा वीर था, मन्दिर के चारों ओर इतनी ऊंची दीवार बनवायी थी ।---पर किसी दिन एक शूद्र बालक ने देखा, इस दीवार में एक सुराख है जिससे उस पार मन्दिर के भीतर देखा जा सकता है - मन्दिर के भीतर मां को । जड़ प्रकृति के नियमों की दीवार बहुत मजबूत और ऊंची होती है ।'[१] गांव की इस विभक्त बोधवाली परम्परा से ही ग्रस्त हैं गांव के लोग । इस गांव में दो वर्ग हैं और दोनों ही विभक्त होने की पीड़ा से ग्रस्त एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया वादी बने हुए हैं । एक वर्ग है सवर्ण और दूसरा है अस्पृश्य । नाटक की भूमिका में पश्चिम की आधुनिकता की चर्चा करते हुए लाल ने जो परिभाषा दी है उसके अनुसार न्यूक्लियरजीवन, इण्डिविड्युअलीज्म ही पश्चिम के मनुष्य की नियति है । इसी कारण वहां व्यक्ति अकेला है । अपने संस्कारों से कटे और एकाकी अहं में जीवन बिताते हुए शिवानन्द(नाटक की नायिका गंगा के श्वसुर) और उनका तंत्र-साधना में दत्त-चित्त,

---

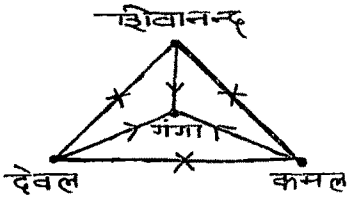
१- गंगामाटी- पृ० १६

जीवन की सहजता से भागा पुत्र देवल(गंगा का पति) व्यक्ति के अकेलेपन का ही द्योतक है । यही व्यक्तिवाद पश्चिमी दृष्टि में आधुनिकता है । गांव को दूसरा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है शिवानन्द का छोटा पुत्र कमल जो अपनी मिट्टी से जुडने का मनोबल रखने के उपरान्त प्रतिक्रिया के घेरे को तोड़कर आगे नहीं आ सकता । इस रूप में कमल अभिव्यक्ति के संकट और गांव की संक्रमण का लीन मूल्यवत्ता को प्रकट करता है । दोनों पुत्रों का अपने पिता से विरोध है । पिता ने देवल को हीनता और अपमान के दंश दिये हैं और इसी कारण देवल अपनी हीनता को ढकने के लिये सिद्धि और शक्ति की प्राप्ति अहं में ग्रस्त शिवानंद क ने कमल को हमेशा शक्तिहीन अथच सहानुभूति का पात्र समझा है । कमल का हर कर्म पिता की प्रतिक्रिया के रूप में उठ खड़ा होता है । देवल, शिवानन्द और कमल का यह त्रिकोण संघर्ष ही नाटक की बुनियाद है । इस संघर्ष को रचनात्मक बनाने की दिशा में गंगा का कार्य गुरु का कार्य है क्योंकि वही उन्हें `दिखाने ` का कार्य करती है । -`तुम्हारा मैं क्या है ? तुम्हारी इच्छाएं । ये इच्छाएं तुम्हीं में क्यों आयीं ? इस पेड़ में क्यों नहीं गयी वे इच्छाएं ? इस पत्थर में, इस कपड़े में क्यों नहीं ? देखो, देखो ।---कहीं कुछ झूठ नहीं ? सबके पीछे कार्य कारण का नियम चल रहा है । देखो---सुनो---देखो---इसी क्षण में रहकर देखो, अतीत को मत लाओ बीच में । पिता वही अतीत हैं जिन्हें तुम भुला नहींपाते । तभी तो इतना विरोध है ।[१] गंगा ही देवल और कमल को स्वत: प्रेरणा की शक्ति प्रदान करती है - उस बोध को प्रदान करने हेतु देवल को सिद्धि-साधना में पूरी तरह से खो जाने और कमल को शहर जाकर पढने की परिस्थितियां पालन करने की प्रेरणा प्राप्त करें । गंगा का उक्त त्रिकोण चरित्रों के साथ संघर्ष क एक प्रकार से अपने-अपने तंत्र में फंसे मनुष्य को बाहर लाने का संघर्ष है । दूसरे शब्दों में, यह संघर्ष अपने अहं में ग्रस्त मनुष्य को जीवन का सच्चा, सहज भाव जीने की प्रेरणा देनेवाला संघर्ष है । गंगा को अपने उद्देश्य में सफलता भी मिलती है और वह व्यक्ति को समष्टि में तिरोहित कर वर्ग-भेद को दूर करने में सफलता की प्राप्ति करती है । नाटक के अन्त जिआ हो

१- गंगामाटी- पृ० ३०

देवी की सामूहिक पूजा के पीछे यही अखण्ड जीवनदृष्टि समायी हुई है ।

'गंगामाटी' की गंगा ही नाटक का केन्द्रीय चरित्र अथवा भाव है । समाज ने उसे तांत्रिक देवल की पत्नी बनने(होने नहीं) की नियति से बांधा है । उसमें सामाजिक अत्याचारों की मौन स्वीकृति भी है और उसे चुनौती देने का संकल्प भी । उसका मार्ग देवल व कमल- दोनों से अलग है । न तो वह देवल की भांति पलायनवादी शक्ति-साधना की पक्षधर है, न ही कमल की भांति प्रतिक्रियावादी । वह अपने जीवन में प्रतिक्रियात्मक शक्तियों को आत्मसात कर एक समन्वित और रचनात्मक जीवन-दर्शन की खोज करती है । इसी रचनात्मक जीवन-दर्शन का रूप यह है कि वह सम्बं० सम्बंधों से बंधी रहती है, सम्बंधों के मध्य से गुजर रही है ।[१] इस प्रकार न्यूक्लियस की भांति अपनी निर्दिष्ट परिधि में घूमती व्यक्तिवादी मनीषा का वह विरोध करती है- वह परिवेश और समाज से बंधकर, उसी समाज में अपने 'मैं' को विलय कर देती है । कमल और उसके मार्ग में समानता अवश्य है किन्तु जहां कमल में शिवानन्द और देवल के रास्ते के विरोध के परिणाम स्वरूप क्रियाहीनता देखने को मिलती है । वहां गंगा में क्रियात्मकता है, संकल्प की शक्ति है । जीवन जिया न जा सका- इसी कारण उस शून्य को भरने के लिये देवल को धर्म(?) की शरण लेनी पड़ी और इसीलिये उस अभाव की पूर्ति के लिये कमल प्रतिक्रियावादी बन गया । पश्चिमी जीवन दर्शन से उत्पन्न विभक्त-बोध, व्यक्तिवाद और धर्म की एजेण्ट शिप के विरुद्ध गंगा की भूमिका नाटक में भव्य ईहा की प्रतिष्ठा के लिये है । नाटक में गंगा के स्थान को इस प्रकार देखा जा सकता है -



१- गंगामाटी- पृ० ६६

उक्त चित्र से स्पष्ट है कि गंगा ही नाटक के तीनों चरित्रों को स्वयं में बांधती है जबकि उनके पारस्परिक सम्बंधों में जुड़ने की लेशमात्र भी गुंजायश नहीं है । गंगा में सर्वस्व दान की वह शक्ति है जो उसे वास्तविक अर्थों में विदेह बनाती है । सम्भवत: इसीलिये गंगा के पास बांटने को स्नेह और मातृत्व की गरिमा है जिससे प्रसादी जैसा वीतरागी व्यक्ति भी होता है और जिससे कमल के हृदय का रौंदा हुआ कमल का भी हरा भरा हो उठता है । गंगा का इस प्रकार एक ओर अपने रचनात्मक चैतन्य से जुड़ना और दूसरी ओर परिवेश से जुड़ना ही तो गंगामाटी गांव का गौरव है ।-'अचानक मानव प्रकृति में एक नन्हा सा सुराख दिखायी देता है वहीं पर आंख लगाकर इसने एक अद्भुत चीज देखी । इस छिद्रपथ से हम उसके साथ जुड़े हुए हैं, जो इस दीवार के उस पार है । वहीं से समस्त सौन्दर्य, स्वाधीनता, प्रेम प्रवाहित होता है ।[१]

नाटक की प्रकृति, आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजरने के कारण पर्याप्त द्वन्द्वात्मक है । फलत: उसमें कार्य व्यापार की दृष्टि से लयात्मक संयोजन है । नाटक के तीन अंक और नौ दृश्यों में नाटकीय द्वन्द्व का फैलाव देखा जा सकता है । प्रथम अंक का प्रथम दृश्य संघर्ष के मूल में छिपी शक्ति के सन्तुलन का अभाव प्रकट करता है । गंगा का शिवानन्द द्वारा अपनी पुत्रवधू घोषित करना एक प्रकार से शिवानन्द द्वारा गंगा को उसकी कृपा पर जीने की स्थिति उत्पन्न करना है- फलत: नाटकीय तनाव उत्पन्न होना,प्रारंभ हो जाता है । दूसरे दृश्य में संघर्ष के दो आयाम(जो शिवानन्द के विरुद्ध अपने अपने तरीके से संघर्षरत होने पर भी अपने ही बीच एक समान्तर संघर्ष को जन्म देते हैं- शिवानन्द और देवल, शिवानन्द और कमल और देवल व कमल । यहां गंगा इस संघर्ष के सुलझाव के प्रयत्न करती है जिससे नाटकीय तनाव को किंचित कम होने में सहायता मिलती है । तीसरा दृश्य , कमल को एक रचनात्मक विरोध हेतु आह्वान करता है और इसके लिये कमल में आन्तरिक आलोड़न -विलोड़न उत्पन्न कर अन्तर्द्वन्द्व का समावेश करता है ।

दूसरे अंक के प्रथम व द्वितीय दृश्य देवल के अन्त: और वाह्य-दोनों प्रकार के द्वन्द्वों से गुंजन गुजरता है । शक्ति की सिद्धि के लिये देवल द्वारा गंगा की बहिन कुसुम

१- गंगामाटी- पृ० ७६

की बलि का प्रयत्न कार्य व्यापार को गतिशील बनाता है । तीसरे दृश्य में नाटक एक प्रकार के `टेक आफ` से गुजरता है ।देवल का साधु वेश में जनता के अन्धविश्वास का लाभ लेना नाटक के बहते प्रवाह में शिलाखण्ड का कार्य कर गति-अवरोध का कार्य करता है । यहां विश्वास और अन्धविश्वास के मध्य द्वन्द्व की भूमिका तैयार होती है जो अन्ततः चौथे दृश्य में फूट पड़ती है । यहां बहिर्द्वन्द्व समक्ष आता है । एक बार फिर शिवानन्द गंगा पर हावी हो जाता है ।

तीसरे अंक में द्वन्द्व समाप्त होता है सत्यमेव जयते की घोषणा होती है । कमल का शहर से लौटकर जाना और स्वयं को आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में पाना एवं देवल का आत्म समर्पण - दोनों मिलकर गंगा को केन्द्रीय प्रेरक चरित्र के रूप में समक्ष रखते हैं । यहां द्वन्द्व की समाप्ति है । उसे अधिक विस्तार देने के लिये । जीवन में पूजा-भाव की सामूहिकता बताने के लिये) दूसरे दृश्य की योजना की गयी है जिसमें `जिया हो` पूजा द्वारा व्यापक जीवन-धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया गया है ।

नाटक का उल्लेखनीय तत्व है उसका विशिष्ट दृश्य-विधान । अनेक दृश्यों का एक साथ समक्ष रहना, आवश्यकतानुसार उन्हें आलोकित करना एवं चरित्रों के सम्वादों के मध्य उन दृश्यों की कौंध के साथ दृश्यों को चरित्रों के स्मृति-बिम्बों का रूप देना मंच-अनुष्ठान के नवीन धरातलों को खोजना है । प्रयोग स्तर पर होने के उपरान्त ये समूह -दृश्य मंच पर समकालिक घटना-व्यापारों को एक ही काल-आयाम में प्रस्तुत करने के प्रयोग की एक कुशल युक्ति है । ऐसे प्रयोग पुरुष चरित्र द्वारा दृश्य संकेतों को सम्वादों के रूप में प्रस्तुत करना इन संकेतों की निरर्थकता और शब्द-निर्भरता की ओर एक कदम कहा जाता है ।

` गंगामाटी` का रचना-विधान पारम्परिक और प्रयोगधर्मी दोनों ही है और यही उसकी शक्ति है । इसी बल पर नाटककार अपनी दार्शनिक व्याख्याओं के पिष्टपेषण का अवसर प्राप्त कर सका है । अन्यथा यदि केवल रिलीज़न और धर्म, इण्डिविड्युअल, देखना और भोगना जैसी शब्दावलियों का प्रश्न है तो वे उनके अन्य सामाजिक नाटकों में भी अनेक स्थान पर देखने को मिल सकती है ।

:: सगुन-पंछी ::

लाल की संपूर्ण नाट्य यात्रा की महत्वपूर्ण परिणति के रूप में 'सगुन पंछी' एक उल्लेखनीय नाट्य कृति है । परम्पराओं के मध्य- वैचारिक और शिल्प दोनों ही धरातलों पर यह नाटक आधुनिक मूल्यों की खोज का एक सफल प्रयत्न कहा जा सकता है । आज से बहुत वर्ष पूर्व 'नाटक तोता मैना' नाम से प्रकाशित नाटक का ही यह एक संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है । नाटककार लाल की तब से लेकर अब तक की सामाजिक विचारधारा को एक सतत क्रम देने की दृष्टि से यह नाटक विशिष्ट भूमिका का निर्वाह करता है । यह नाटक सन् १९७७ में राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ था और प्रकाशन से पूर्व ही सन् १९७६ में इसे कानपुर की 'अभिनव' नामक नाट्य-संस्था श्री वंशी कौल के निर्देशन में खेला था । दिल्ली में इसका प्रथम प्रदर्शन लिटिल थियेटर ग्रुप द्वारा फाइन आर्ट्स थियेटर में श्री सुब्बाराव के निर्देशन में हुआ था ।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, 'सगुन पंछी' वैचारिक धरातल पर 'नाटक तोता मैना' से इस अर्थ में विशिष्ट है कि वह स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बंधों की अनिवार्य परिणति विवाह-सूत्र में बंधने तक ही सीमित न होकर उस सम्बंध के वास्तविक स्वरूप, संघर्ष, तनाव के मध्य स्त्री-पुरुष के परस्पर एक दूसरे को संपूर्ण रूप से प्राप्त कर लेने की प्रक्रिया का वर्णन करता है । इसके लिये वह लोक कथा के तोता-मैना के दाम्पत्य सम्बंधों का प्रतिफलन मानव जीवन में देखने के लिए आभिजात्य और लोक जीवन के सन्दर्भों का साक्ष्य भी प्रस्तुत करता है । एक ओर राजा अंगध्वज व उसकी रानी के परस्पर दाम्पत्य सम्बंधों की कथा प्रस्तुत कर जीवन के तनाव के मध्य उन्हें आत्म साक्षात्कार कराता है और दूसरी ओर, पंचम व गंगा के दाम्पत्य की सहजता और अहमत्व व समर्पण भावना के गंग-यमुन संगम को दिखाकर राजा-रानी के दाम्पत्य के लिये एक उपयुक्त कसौटी भी प्रदान करता है । इस अर्थ में व्याख्या के धरातल पर नाटक तोता-मैना की तुलना में सगुन पंछी में पर्याप्त विस्तार है । इस विस्तार की भूमि पर पहुंचने के लिये नाटककार को एक लम्बी रचना-यात्रा करनी पड़ी है और भगौती व सूका(अन्धा कुआ), अरविन्द व मीनाक्षी(मादा कैक्टस),

जयदेव व कुन्तल(रातरानी), प्रद्युम्न व वेनुरती(सूर्यमुख), गौतम व मनीषा और संजय व कविता (करफ्यू) और 'मैं' व 'वह' (व्यक्तिगत) जैसे चरित्रों के जीवन से बोध प्राप्त करना पड़ा है। 'सगुन पंछी' इसी लम्बी यात्रा की उपलब्धि है। स्त्री-पुरुष के सम्बंध केवल एक सामाजिक व्यवस्था का हेतु मात्र नहीं है और इसी अर्थ में बद्ध मूल परम्पराओं से बंधने का नाम ही नहीं है। प्रत्युत इन सम्बंधों को सहज रूप में स्वीकार करने की स्वत: प्रेरणा देनेवाले भी हैं। प्रस्तुत नाटक इसी बोध को जाग्रत करना चाहता है। 'नाटक तोता-मैना' में 'सगुन पंछी' तक की यात्रा एक ऐसे सामाजिक दायित्व से सम्पन्न रचनाकार की यात्रा है जो उसी के शब्दों में-' मैं अपनी हर नयी रचना के साथ थोड़ा टूटता हूं और उससे अधिक पूर्ण होता हूं और दोनों की सह-अनुभूति से मुझे लगता है कि मैं अपनी रचना के साथ एक ऐसे जीवन की ओर बढ़ता हूं जो मुझे अभी तक अज्ञात था।[१]

स्त्री-पुरुष के सम्बंधों को गहन धरातल पर स्पर्श करने हेतु नाटककार ने अपने कथानक में तीन कथा प्रसंगों को समान्तर विकास देने का प्रयास किया है- तोता-मैना का प्रसंग, राजा अंगध्वज और रानी का प्रसंग और पंचम व गंगा का प्रसंग। नाटक का पहला जोड़ा तोता-मैना सूत्रधार के रूप में कथा को आगे बढ़ाने का कार्य करता है और इसके लिये साक्ष्य रूप में अंगध्वज-रानी और पंचम-गंगा की कथा प्रस्तुत करता है। इन दो कथाओं में नाटककार के सामाजिक जीवन दर्शन का आदर्श पंचम और गंगा का दाम्पत्य जीवन ही है और इसी के द्वारा आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया से गुजारने को अंगध्वज और रानी की कथा का सर्जन किया गया है। ये तीनों ही कथा प्रसंग विश्वास-अविश्वास, समझौता-संघर्ष और समर्पण-अहं के आरोहावरोह के बीच अपनी गति पाते हैं।

नाटक का प्रारम्भ पूर्वरंग के रूप में तोता और मैना के सम्वाद से होता है। विपत्ति का मारा तोता मैना के घोंसले में रात्रि भर विश्राम के लिये आश्रय चाहता है।

१- एक बूंद जल- डा० लक्ष्मीनारायणलाल-पृ० ३

तोता की इस याचना को मैना ठुकरा देती है क्योंकि उसके अनुसार पुरुष जाति विश्वास के योग्य नहीं है । मैना की अस्वीकृति से तोता के अहं को चोट पहुंचती है और तब प्रारम्भ होता है दोनों का द्वन्द्व जिसमें उसे अपने पक्ष को प्रतिपादित करने हेतु दोनों ही दाम्पत्य-जीवन के दो सादृश्य प्रस्तुत करते हैं । तोता-मैना की कथा को मसखरा आगे बढ़ाता है । फलत: अंगध्वज- चन्द्रमुखी रानी और पंचम-गंगा की कथा प्रारम्भ होती है ।

पहले अंक के पहले दृश्य में तोता नारी जाति के अहं का पर्दाफाश करने हेतु दो समानान्तर कथा-प्रसंगों को प्रेक्षकों के समक्ष रखता है । रानी कान का हजारा मोती पाने के लिये राजा के सामने हठ करती है । राजा द्वारा चिरौरी-विनती करने के उपरान्त त्रिया-हठ के सामने उसे झुकना पड़ता है और हजारामोती लाने के लिये राजा अंगध्वज चल पड़ता है । मार्ग में उसकी भेंट एक वृद्ध से होती है जो बताता है कि राजा अंगध्वज को आज रात ही एक प्रेम आकर मार डालेगा । राजा द्वारा इसका कारण पूछने पर वृद्ध बताता है कि यह प्रेत अपने पूर्वजन्म में रतनजोति नामक एक किशोर ब्राह्मण था जिसे केसरनामक एक स्त्री ने अपनी वासना का शिकार बनाना चाहा था । रतनजोति द्वारा अस्वीकार करने पर हत-अहं केसर ने अपने पति मणिसेन की मदद से उसे जिन्दा गड़वा दिया था । 'नासमझी से जो दूसरों के कहने में आ जाता है, वह बुरा फल भोगता है'- मणिसेन द्वारा अपनी पत्नी के कहने में आकर निर्दोष रतनजोति की हत्या करने के इस प्रसंग को सुनकर राजा के अन्दर का पौरुष और स्वाभिमान जाग उठता है । इस दृश्य में राजा का प्रेत से साक्षात्कार वस्तुत: राजा के अन्तस की गहनता में छिपे पत्नी के प्रति विश्वासाविश्वास से साक्षात्कार है । लोक नाट्य के अति मानस तत्व को यहां नाटककार ने व्याख्याधर्मी बनाकर उसे उचित अर्थ संगति प्रदान की है । इसी दृश्य में रानी राजा के जीवन में घटनेवाली उक्त दुर्घटना का रहस्योदघाटन चाहती है जबकि वृद्ध द्वारा राजा को चेतावनी मिल चुकी है कि यदि इस प्रसंग को राजा किसी के सामने उद्घाटित करेगा तो उसी क्षण वह मरकर पत्थर बन जायेगा । त्रिया-हठ के समक्ष राजा को झुकना पड़ता है और अपनी जान की परवाह न कर रानी के समक्ष रहस्योद्घाटन के लिये तैयार हो जाता है।

राजा-रानी के मध्य अविश्वास की इन रेखाओं को प्रकट करने के साथ-साथ दृश्यारम्भ में ही पंचम-गंगा की परस्पर पूरकता का परिचय भी दे दिया गया है । फलत: नाटक दम्पति-द्वय के विरोधाभासी सम्बंधों के धरातल को मुखर करता आगे बढ़ता है । रानी द्वारा राजा के प्रति त्रिया-हठ के प्रदर्शन की कथा सुनाकर तोता स्त्री जाति की निर्दयता और स्वार्थपरता सिद्ध करता है ।

इसी अंक के दूसरे दृश्य में मैना पुरुष के अहं का पर्दाफाश करने हेतु उपर्युक्त कथा को ही आगे बढाती है । इस दृश्य में राजा अंगध्वज और पंचम के चरित्र में एक मौलिक अन्तर भी उभरकर सामने आता है । गंगा पंचम के मुंह से जब राजा के पत्थर बनने जाने की घटना सुनती है तो वह पंचम को भी पत्थर हो जाने को कहती है । पंचम इस आदेश को अस्वीकार कर अपने पुरुष होने के अस्तित्व का परिचय देता है । गंगा के प्रति पूर्ण समर्पित होने के उपरान्त ~~वह अपने स्वाभिमान का विलय नहीं कर सकता~~ । राजा से विपरीत यहां पंचम और गंगा के मध्य समर्पण और अस्तित्व-बोध दोनों ही स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । यहीं गंगा द्वारा सुनायी हृदयहीन बकरे की कहानी (पृ० ४७) भी पुरुष के स्वतंत्र चेता व्यक्तित्व की अनिवार्यता का बोध कराती है ।

दूसरे अंक के पहले दृश्य में मैना पुरुष जाति के अहं को और अधिक स्पष्ट करती है । इस दृश्य में राजा अंगध्वज अपने पौरुष की पहिचान हेतु कसौटी प्राप्त करने के लिये पंचम और गंगा के परस्पर प्रेम को परखता है । वह देखना चाहता है कि क्या अलगाव की स्थिति में भी पति-पत्नी एक दूसरे के प्रतिपूर्ण उत्तरदायी और समर्पित बने रह सकते हैं, कहीं वे वर्जनाओं का शिकार होकर पारस्परिक विश्वास को तो नहीं खो बैठते ? पंचम व गंगा को परखने के लिये वह पंचम को गंगा के कहने पर अपने यहां नौकरी देता है । फलस्वरूप दोनों के बिछोह की परिस्थितियां उत्पन्न करता है । यहीं गंगा का आत्म-विरोधी चरित्र प्रकट होता है । एक ओर, वह पंचम की नौकरी से प्रसन्न है तो दूसरी ओर उसके बिछोह के भय से पीड़ित भी है -

`जब मैं अकेली होती हूं तो अपने एक बल से सीधी राह चली जाती हूं । मुड़कर दायें-बायें भी नहीं देखती । पर देखती हूं, कहीं कुछ अकेला नहीं है, सबका एक जोड़ा है ।[१] पति-पत्नी के मध्य दो होने और फिर मिलकर एक होने का भाव ही सगुन है-`परस्पर दोउ चकोर दोउ चन्दा ।`

इस अंक के दूसरे दृश्य में मंत्री जब रानी के साथ बलात्कार करना चाहता है तो वह वीरतापूर्वक अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई बलिदान को प्राप्त होती है । यह एक प्रकार से रानी के राजा के प्रति एकनिष्ठ होने का प्रमाण है । सभी पारस्परिक विरोधों के उपरान्त पति-पत्नी के दूसरे से प्रतिश्रुत हैं ।

तीसरे अंक के पहले दृश्य में मृत रानी को जीवित करने के लिये राजा अपनी आयु का आधा हिस्सा दान कर देता है । रानी के प्रति राजा की निष्ठा का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है । लेकिन मंत्री विजयसेन द्वारा पुनर्जीवन को प्राप्त रानी जब अपने पुन: जी उठने के रहस्य को सुनती है तो उसके नारीत्व को अहं को चोट पहुंचती है और वह दूसरे के द्वारा दिये हुए जीवन को जीने की आत्मग्लानि से भर उठती है । इस प्रकार वह `नफरत की आग में जलने लगती है ।` रानी के चरित्र का यह दूसरा पक्ष नारी के चरित्र में निहित विरोधों को प्रकट करने वाला है । यही विरोध उसके `होने` का प्रमाण है ।

तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में राजा पंचम और गंगा के प्रेम को परखने हेतु एक योजना बनाता है । गंगा द्वारा पंचम के नाम भेजी गयीं चिट्ठियां फाड़कर वह पंचम को गंगा से विरक्त करना चाहता है । तीसरे दृश्य में मसखरा गंगा को झूठी खबर देता है कि पंचम ने तीन शादियां रचा डाली हैं ।

चौथे अंक के प्रथम दृश्य में पंचम के प्रेम की परीक्षा लेने के लिये राजा उसे गंगा से मिलने जाने से रोकता है और उसे जेल में बन्द करा देता है । इसी अंक के

१- सगुन पंछी- पृ० ६०

दूसरे दृश्य में गंगा की एकनिष्ठा की परीक्षा लेने के लिये राजा उससे शादी का प्रस्ताव रखता है । लेकिन गंगा के अस्वीकार से उसकी पति-परायणता का बोध उसे हो जाता है । तीसरे दृश्य में रानी द्वारा पंचम की जेल से मुक्ति होती है और चौथे दृश्य में पंचम-गंगा के मध्य प्रेम और विरोध- दोनों ही तत्वों को एक साथ देखकर राजा को यह ज्ञात हो जाता है कि यदि स्त्री-पुरुष के जीवन में स्वीकार के साथ अस्वीकार, समर्पण के साथ संघर्ष और परस्पर विरोध के मध्य एक दूसरे के प्रति पूरकता नहीं है तो वे दाम्पत्य को सच्चे अर्थों में नहीं भोग सकते हैं- पंचम व गंगा के मध्य यह विरुद्ध धर्माश्रय लक्ष्य कर रानी भी राजा द्वारा दिया गया जीवन का द दान अस्वीकार कर देती है और अपने ही जीवन से जीना और अपनी ही मृत्यु से मुक्त होना स्वीकार करती है ।पंचम व गंगा का आत्म-मुक्त जीवन राजा-रानी के जीवन की कसौटी बन जाता है । जीवन में स्त्री-पुरुष का दो होकर जीना, फिर भी परस्पर अन्योन्याश्रय की प्राप्ति-यही वह सगुन तत्व है जिसे नाटककार ने अन्ततः आशीष के मध्य से उभारा है -`प्रकृति पुरुष का धर्म। नारी को नर प्यारा है। हम दो सगुन पंछी----सबका आशीस है सबको प्रणाम है । खेल अब खतम है, सबको राम राम है ।[१]

`सगुन पंछी' में अनुस्यूत लाल का नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बंधों का चिन्तन भारतीय सामाजिक मनीषा के अनुरूप होने पर भी इस अर्थ में आधुनिक है कि वहां अन्योन्याश्रय के साथ साथ दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व की बात भी कही गयी है । नारी-पुरुष के सम्बंधों को अब तक पति-पत्नी के सम्बंधों के रूप में ही पहिचाना जाता रहा है । लाल ने पति-पत्नी की बद्धमूल परम्परा से हटकर समाज में पति और पत्नी के स्थान को भी प्रकृति और पुरुष के सनातन तत्वों के रूप में लक्ष्य किया है । ऐसी स्थिति में पति और पत्नी का परस्पर दायित्व ससीम से असीम बनकर समक्ष आता है । स्त्री-पुरुष अन्योन्य होने पर भी दो हैं और दो होने पर भी एक

१- ~~कमले-मूल-का-पंछी~~
१- सगुन पंछी - पृ० ६३

है- निसर्ग की इस अनिवार्य व्यवस्था को लाल ने `सगुन पंछी` में ही उभारा है, ऐसी बात नहीं है । यह चिन्तन प्रक्रिया रचनाकार के व्यापक जीवनानुभवों का परिणाम है जिसे उन्होंने अपनी विविध रचनाओं में यथा स्थान प्रकट किया है । `काले फूल का पौधा` की गीता को उक्त सम्बंध का बोध इस प्रकार होता है -`यह गमला समाज है । इसकी प्यासी मिट्टी औरत है । इसमें डाला हुआ पानी पुरुष है । इसकी सनसनाहट , इसका पकना कुदरत है और इसके मिटते-बनते बुलबुले इस समूची गति के सन्तान हैं ।`[१] इसी सम्बंध को `प्रेम अपवित्र नदी` में उपन्यासकार इस प्रकार विवेचित करता है- `मुझे लगता है, पुरुष पानी है और स्त्री गूंगी नारी । पानी में इच्छा जगती है मूर्ति रचने के लिये । यही रचना-इच्छा ही उस गूंगी नारी को वाणी और गति दे देती है । शायद इसे ही हमारे यहां पुरुष और प्रकृति का नाम दिया गया है । - ब्रह्म और माया । पर ये हैं दोनों एक एक । पानी और मिट्टी एक मूर्ति से अलग कैसे हो सकती है ? एक प्रेरणा है, एक रचना है और दोनों एकाकार हैं, एक हैं ।` नारी पुरुष के सम्बंधों में यह ऐक्य और द्वैत की स्थिति ही प्रकृति का चिरन्तन सत्य है । इस बोध में विकृति तब से आयी है जबसे पुरुष समाज ने नारी के मुक्तिदायक रूप को विस्मृत कर उसे साधन मात्र घोषित कर स्वयं को रचनाकार सिद्ध कर दिया । वहां से पुरुष के स्वच्छन्द और नारी के अवगुण्ठनों में बंधते जाने की परम्परा चल निकली । पुरुष का अहं और नारी द्वारा उसे चुपचाप स्वीकार करना ही दोनों के सम्बंधों की वह सीमा है जहां वे पति-पत्नी के रूप में एक दूसरे के हो जाने के उपरान्त `एक अनन्त अपरिचय` के सूत्र में बंधने को बाध्य होते हैं । यह बन्धन ही आज के उपभोक्त समाज के जन्म का कारण है । जहां एक हडपने वाला और एक उस हडपने की वेदना को मूक बन स्वीकार करने वाला है । इस स्वार्थपरता के कारण ही विवाह के समय `जिस इन्द्रधनुषी मानसिक स्निग्धता में जुड़ते हैं, वह परिचय के उत्तरोत्तर ताप से विगलित होने लगती है और वे एक दिन टूटकर रह जाते हैं ।`[२] राजा अंगध्वज व रानी के सम्बंधों में यही स्वार्थ

१- काले फूल का पौधा- पृ० २७

२- श्रृंगार- से ।

कहीं गहरी जड़ें जमाए हुए है जिसके कारण वे दाम्पत्य सूत्र में बंधने पर भी एक दूसरे को विश्वास नहीं दे पाते । दूसरी ओर, विवाह नामक संस्था द्वारा तथाकथित परिचय में बंधने की परम्परा को चुनौती दे समर्पण और अस्मिता के मध्य जीवन की सहजता को जीने वाले पंचम और गंगा दाम्पत्य की उपयुक्त कसौटी सिद्ध होते हैं । उनका परस्पर सम्बंध केवल पति-पत्नी होने के कारण ही मधुर और जीवन्त नहीं है । प्रत्युत दो स्वतंत्र इकाइयों के एक व्यापक रचनामूलक जीवन के अर्थ समन्वित होने के कारण है । 'वसन्त की प्रतीक्षा' की मीनाक्षी का डा० कश्यप जैसे अपरिचित व्यक्ति से सम्बंध होने के पीछे यही रहस्य है । लाल का उक्त दाम्पत्य जीवन दर्शन नि:संदेह पति-पत्नी के सम्बंधों को एक व्यापक दृष्टि देता है अवश्य किन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में आज के समाज में दाम्पत्य के मूल्य टूटते हैं, अहं-तुष्टि के लिये अथवा शारीरिक भूख की शांति के लिये सम्बंधों की नैतिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाये जाते हैं । पूर्ण पुरुष अथवा पूर्ण नारी की तलाश में भटकते समाज की विसंगतियों (चाहे वह 'ग्रर पैर तले की जमीन' के विवाहित अयूब द्वारा रीता व नीरा के साथ बलात्कार के किये जाने के रूप में हो, 'सूर्य की अंतिम किरण से लेकर सूर्य की प्रथम किरण तक' को शीलवती द्वारा पति ओक्काक की नपुंसकता के कारण अपने प्रेमी के साथ संभोग करने के निर्णय के रूप में हो, 'अंधेरे बन्द कमरे' के हरिवंश और नीलिमा के परस्पर टूट जाने के रूप में हो या महेन्द्र भल्ला के 'एक पति के नोट्स' के नायक द्वारा पूर्ण स्त्री की तलाश में पड़ौसी की पत्नी सन्ध्या के साथ संभोग करने के रूप में हो) किसी रचनामूलक दर्शन की प्राप्ति नहीं होती है 'हयवदन' की पद्मिनी की नि०वि० भांति वह पूर्णता की तलाश में विसंगत को ही भोगने को अभिशप्त होगा । 'सगुन पंछी' में नाटककार लाल ने विरोध से गुजरकर आत्म-साक्षात्कार वाली अपनी विशिष्ट शैली में सामाजिक व्यवस्था की वर्जनाओं को चुनौती देकर नारी और पुरुष को समान धरातल पर प्रतिष्ठित किया है और साथ ही परम्परा व निसर्ग की व्यवस्था को सहज रूप से ग्रहण करने का आह्वान भी किया -'तोता मैना में इतना विरोध है, तनाव है पर लोक-मानस या उसकी सहज चेतना फिर भी उन दोनों की शादी कराके यह दिखाती है कि कुछ भी हो, दोनों को कहीं मिलना ही है । जिन्दगी सारे मतभेदों

विरोधों के बावजूद चलेगी । प्रकृति और पुरुष अलग अलग शक्तियां हैं पर जहां वे मिल रही हैं, वहीं सृजन है और यही है सगुन ।'[१]

नाटक में पंचम और गंगा का दाम्पत्य प्रसंग वह बिन्दु है जहां से नाटक में जीवन का वह मधुर संगीत घुलने लगता है जो स्त्री-पुरुष के जीवन की अनिवार्यता है । बीच-बीच में दोनों की मान-मनौबल, समर्पण-संघर्ष, विलय-अलगाव और मिलन-बिछोह संगीत के आरोह और अवरोह की स्थितियां उत्पन्न करती हैं । राजा-रानी के कथा प्रसंग के कारण जहां जहां यह संगीत स्वर भंग की स्थिति में पहुंचा है वहां पंचम-गंगा ने उसे पुन: स्वर में बांधा है । जीवन की यह लय ही नाटक को अपनी प्रकृति में लयात्मक बनाती है । इस लय को बांधने में पंक्तियों के लयात्मक सम्वाद, उनका पंक्तिबद्ध अभिनय और समान्तर कथा प्रसंगों से उत्पन्न मानसिक धरातल पर होने वाले घात-प्रतिघात सहायक होते हैं । तभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि लाल ने इस नाटक को संगीतात्मक बनाने का प्रयास नहीं किया है, संगीत तत्व तो इस नाटक के कथा प्रसंगों की प्रकृति में है । कथ्य में निहित जीवन की लय का शिल्पगत संगीत-योजना से जो तालमेल इस नाटक में देखने को मिलता है उससे कृष्ण की रास लीलाओं का स्मरण हो आता है जिनमें गीत-संगीत तत्व आरोपित नहीं प्रत्युत राधा-कृष्ण की रसात्मक प्रकृति के कारण उत्पन्न होता है । चरित्र या अभिनेता की लयात्मक प्रकृति से नाटक की लय का बंधना- लीलाओं की इस शिल्प-प्रविधि का यहां कुशल प्रयोग देखने को मिलता है । इस लय-विबद्धता को बनाये रखने में नाटक के पंक्षीगण की भूमिका उल्लेखनीय है । वे नाटक की आवश्यकता के अनुसार क्षिप्र गति के साथ अपना रूप बदलते हैं- तोता किसान बन जाता है, मैना गंगा बन जाती है, पंक्षी दृश्य बन जाते हैं, वे ही कभी सीढी तो कभी जेल की दीवार बनकर नाटक की कथा को निरन्तर गति देने में सहायक होते हैं । ये पंक्षी मुखौटों की लोक सम्मत शैली की सम्भावनाओं को भी उजागर करते हैं और इस प्रकार लोक-नाट्य-परंपरा को 'अपने समय, काल और सन्दर्भों से ' बांधकर आधुनिकता के नये फार्म में समक्ष लाते हैं । इस लोक-नाट्य रूप का एक आयाम इस नाटक के सन्दर्भ में यह भी है कि

१- सगुन पंक्षी- पृ० १५

यहां नाटकीय कार्य-व्यापार की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये दृश्य-परिवर्तन जैसी कोई बाध्य स्थिति नहीं है । दृश्य-विभाजन यहां केवल कथ्य के विभाजन के लिये है , अन्यथा कार्य व्यापार एक साथ क्रमश: घटित होता है । तभी पूर्व रंग के अन्त में 'हजारा मोरे कान का मोती' गीत के बाद जब प्रथम दृश्य प्रारम्भ होता है तो प्रस्तुत रंग-संकेत कार्य व्यापार की निरन्तरता का बोध करा देता है- 'संगीत समाप्त होते होते दायीं ओर तोता जो अब किसान बन गया है और मैना दोनों दिखते हैं (ध्यातव्य है कि वे प्रवेश नहीं करते)। दृश्यों की निरन्तरता को बनाये रखने में मसखरा द्वारा कथा को आगे बढाया जाना भी लोक-नाटकों का शिल्पगत वैशिष्ट्य है जिसे यहां भी प्रस्तुत किया गया है । इस मसखरे की लम्बी दाढ़ी लोक-दर्शक की भोली प्रकृति का स्मरण दिलाती है । जिसके कारण वह अनावश्यक प्रसंगों व चरित्रों को भी अपने मनोरंजन के लिये अपेक्षित मानता है । तिस पर मसखरा तो यहां नाटक को एक सूत्र में बांधने का भी कार्य करता है । नाटक की संगीत व लयात्मक प्रकृति का एक रूप इस नाटक में चरित्रों के वृत्ताकार गतियों वाले अभिनय में देखने को मिलता है । एक ही सम्वाद को बार-बार दोहराना, उसे संगीत-गीत के माध्यम से प्रकट करना और इस प्रकार उस एक बात का भागीदार सभी चरित्रों को बना देना- लोक-नाट्य के इस फार्म का प्रयोग यहां भी देखने को मिलता है । लोक नाट्य के इस संगीत तत्व की व्यापकता का मानदण्ड है उसका प्रेक्षकों के मन में बस जाना और इस नाटक में अथ से इति तक यही दृष्टि देखने को मिलती है । नाटक के अन्त में नाट्य-प्रयोजन और पुण्य-फल की कामना लोक नाटकों में संगीत और मनो-रंजन तत्व के साथ -साथ अभ्युदय व नि:श्रेयस तत्वों के समावेश के द्योतक हैं ।
